उमा शंकर चौधरी

युवा लेखक। एक मार्च 1978 को खगड़िया, बिहार में जन्म। कविता और कहानी के क्षेत्र में युवा पीढ़ी में महत्वपूर्ण नाम। पहला कविता संग्रह 'कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित। कविता के लिए वर्ष 2007 का 'अंकुर मिश्र स्मृति पुरस्कार' और वर्ष 2008 का 'भारतीय ज्ञानपीठ का युवा पुरस्कार'। विभिन्न कहानियां प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। कहानी के लिए वर्ष 2008 का 'रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार'। पहला कहानी संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से शीघ्र प्रकाश्य। कहानी 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' का देवेन्द्र राज अंकुर द्वारा एनएसडी सहित देश के विभिन्न जगहों में मंचन। कहानी बंगला में अनुदित। कुछ कविताएं मलयालम में अनुदित ।

सम्पर्क - ए-561/2, शास्त्री नगर, दिल्ली-52।
मो. - 9810229111
E-mail: choudhary_umashankar@yahoo.com

ज्योति चावला

युवा लेखिका। 5 अक्टूबर 1979 को दिल्ली में जन्म। कविता और कहानी के क्षेत्र में समान रूप से युवा पीढ़ी में तेजी से अपनी पहचान बनाने की ओर अग्रसर। कुछ कविताएं और कुछ कहानियां नया ज्ञानोदय, वसुधा, वागर्थ, पाखी, रचना समय जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित। कई आलोचनात्मक लेख विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित।

सम्पर्क - अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी नई दिल्ली - 110068 मो.- 9871819666
E-mail: jyoti_chl@rediffmail.com

मूल्य : 175 रुपये (साधारण)
: 260 रुपये (सजिल्द)

ISBN 978-81-7007-216-4

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ (1990 - 2000) - उमा शंकर चौधरी/ज्योति चावला

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ

(1990 – 2000)

सम्पादक

उमा शंकर चौधरी

ज्योति चावला

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ
(1990–2000)

संपादक

उमा शंकर चौधरी
ज्योति चावला

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.

प्रथम संस्करण, जनवरी, 2010

ISBN 978-81-7007-216-4

मूल्यः 175.00 रुपये (साधारण)
मूल्यः 260.00 रुपये (सज़िल्द)

शमीम फ़ैजी द्वारा कैक्स्टन प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली–110055 में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., 5ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली– 110055 की तरफ से प्रकाशित।
ले-आउट व टाईप सेटिंग आंकलन सॉफ्टवेयर, 23382815

प्रकाशकीय

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. नई दिल्ली की श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशन योजना के अंतर्गत आज़ादी के बाद छह संकलनों में हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है। संकलनों में लेखकों का क्रम कहानी दशकों के अनुसार किया गया है, पर उनकी कहानियों को दशकों से मुक्त रखा गया है। संपादकों ने कोशिश की है कि लेखकों की यथासंभव श्रेष्ठ कहानियाँ चुनी जायें और संकलन में सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व हो सके। संकलनों की पृष्ठ संख्या को अतिविस्तार से बचाने के आग्रह में कुछ और महत्वपूर्ण लेखकों को शामिल नहीं किया जा सका। इसके लिए हमें खेद है।

आशा है ये संकलन पाठकों के लिए उपयोगी और सार्थक प्रमाणित होंगे।

–प्रकाशक

भूमिका

कहानी के विकास को दशकों में विभाजित करना बहुत कठिन है। ऐसा इसलिए क्योंकि किसी भी कहानीकार के उत्थान और विकास को एक ही दशक में देखना संभव नहीं है। एक दशक तो किसी भी कहानीकार की शुरुआत और अपनी पहचान बनाने के लिए ही होता है लेखक अगर लगातार सक्रिय हों तो उन्हें किसी भी दशक में समेटना संभव नहीं है। वरिष्ठ लेखक काशीनाथ सिंह भले ही साठोत्तरी दशक के लेखक हों लेकिन वे अनवरत बेहतरीन रचनाएं देते रहे हैं। इसमें रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, पंकज बिष्ट जैसे कई बड़े लेखकों का नाम लिया जा सकता है। उदय प्रकाश का दशक यदि नवें दशक की शुरुआत है तो वे अपनी रचनाओं के साथ लगातार उपस्थित हैं। सवाल यह है कि क्या तब कहानी के विकास को दशकों में बांटना संभव नहीं हैं?

प्रवृत्ति के आधार पर भी देखें तो समाज में हुए परिवर्तन और समाज के अनुरूप साहित्य की प्रवृत्तियों में हुए परिवर्तन को हर दशक में आभासित कर लेना हमेशा संभव नहीं होता। साहित्य में बहुत सारी शाश्वत किस्म की समस्याएं हैं, जिसे काल विशेष से ही पहचानना उचित नहीं है। समाज में मौजूद किसी भी किस्म की असमानताएं चाहे तो वर्ग के स्तर पर हों, वर्ण के स्तर पर हों या फिर लिंग के स्तर पर साहित्य ने हमेशा इसका विरोध किया है। बाजार के विरोध का एक रूप भारतेन्दु हरिशचंद्र के 'अंधेर नगरी' में है। विकास की चकाचौंध के पीछे अंधी दौड़ लगाते एक मध्यवर्गीय परिवार का बिखराव मोहन राकेश ने अपनी रचना 'आधे-अधूरे' में दिखलाया तो उदय प्रकाश ने शहरीकरण ओर विकसित होने से मनुष्य के जीवन में आये एक अकेलेपन, एक अलगाव को अपनी चर्चित कहानी 'तिरिछ' में दिखलाया। तीनों रचनाओं की समस्याएं कहीं-न-कहीं मिलती जुलती हैं, और साहित्य ने तीनों रचनाओं में अपने हिस्से का विरोध दर्ज किया है। लेकिन तीनों ही रचनाओं के काल में काफी अंतराल है। तब क्या प्रवृत्ति के आधार पर भी साहित्य का दशकों में विभाजन संभव नहीं है?

जब हमारे सामने 1990 से 2000 के बीच की दस-बारह महत्वपूर्ण कहानियों को चुनने का प्रस्ताव आया तो पहली नजर में लगा, और जैसा सुनते भी आ रहे थे, कि यह समय साहित्य के लिए और खासकर कहानी के लिए बहुत उपजाऊ नहीं रहा है। शुरू में लगा दूर-दूर तक सन्नाटा है। दो से तीन कहानियों को चुनने में हम पस्त होने लगे। हमने बहुत सारी कहानियों को पढ़ा, बहुत सारी पत्रिकाओं को पलटा, कई साहित्यिक मित्रों से पूछताछ की और फिर इस दशक के कहानीकारों का एक अम्बार हमारे सामने खुला।

दरअसल कहानी के क्षेत्र में अक्सर यह देखा गया है कि कहानीकारों का झुंड आता दिखता है। कहानीकार प्रायः एक साथ आते दिखते हैं। एक साथ छपते हैं, फिर चर्चा होती है और धीरे-धीरे छंटते-छंटते कुछ कहानीकार प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कहानीकार अक्सर झुंड में क्यों आते हैं इसके कई कारण और कई तर्क हो सकते हैं। उनके समय की संगुम्फित कुछ समस्याएं तो कारण हो ही सकती हैं साथ ही अच्छी पत्रिकाओं का साथ मिलना भी हो सकता है। 1990 से 2000 का दशक 'हंस' की ऊंचाई का दशक था। 'हंस' ने अपने लगभग हर अंक में बेहतरीन कहानियां दीं। इस बीच का 'हंस' का कोई अंक उठा लिया जाए आपको एक साथ कई उत्कृष्ट कहानीकार दिख जायेंगे। हंस का साथ 'पहल' ने भी खूब दिया। दशक के अंतिम वर्षों में 'कथादेश' की 1997 में शुरुआत हुई और फिर उसने भी बखूबी अपना फर्ज निभाया।

कहानीकार की एक खेप जब आती है तब उसे एक आकार लेने में थोड़ा वक्त लगता है। कम-से-कम पांच-सात वर्ष उनके चमत्कार और अगली पीढ़ी के बीजवपन का वक्त। फिर वही सिलसिला। यह बहुत बड़ा कारण है कि जब साहित्यकारों की एक पीढ़ी तैयार होती है तब दूसरी पीढ़ी में एक फांक दिखने लगती है। लगता है जैसे एक सन्नाटा हो। 'हंस' दुबारा राजेन्द्र यादव के साहित्य में 1985 में शुरू हुई। और तब से ही या उससे थोड़ा सा पहले से एक पीढ़ी आकार लेने लगी थी, जिसे निश्चित रूपेण 'हंस' ने एक सार्थक सहयोग दिया, अपना फर्ज निभाया। चाहे उदय प्रकाश हों, संजीव हों, अखिलेश, हरिभटनागर, सभी को प्रतिष्ठित करने में 'हंस' का बहुत योगदान रहा। 'हंस' ने अपनी गोद में ही इन साहित्यकारों को पाला-पोसा और बड़ा किया। यही कारण है कि इन साहित्यकारों को अस्सी से नब्बे के दशक का माना गया। बस मोटा-मोटी यूं समझा जाए कि जिस दशक में किसी कहानीकार ने लिखना शुरू किया और एक पहचान भी मुकम्मल हुई। 'हंस' के पन्ने पलटें तो अंतिम दशक के शुरुआती वर्षों में इन्हीं साहित्यकारों का बोलबाला रहा, इनकी ही कहानियां चर्चा के केंद्र में रहीं। फिर धीरे-धीरे एक नई पीढ़ी ने लिखना शुरू किया, छपना शुरू किया और अपनी पहचान मुकम्मल करने की कोशिश शुरू की। इसलिए अंतिम दशक के शुरुआती वर्षों में देखा जाए तो नए लेखकों की ओर से खाली-खाली ही दिखता है। लेकिन 1995 के आसपास नई पीढ़ी के कई साहित्यकार अचानक से परिदृश्य पर दिखने लगते हैं। और फिर उनका उत्कर्ष शुरू होता है, वे ऊंचाई पर चढ़ने लगते हैं। उनकी पहचान बन जाती है। यही है 1990 से 2000 के दशक के महत्वपूर्ण कहानीकार। यह गौरतलब है कि कई कहानीकारों ने लिखना तो थोड़ा पहले ही शुरू कर दिया था लेकिन उनकी पहचान इस दशक में बनी। उन्हें इस दशक का ही कहानीकार माना गया।

आधुनिक भारत के इतिहास की तीन बड़ी घटनाएं इसी दशक की शुरुआत में घटित हुईं। यूं समझा जाए कि इस दशक के शुरुआत के दो-तीन वर्षों में घटनाओं की इतनी अफरा-तफरी रही कि उसने सोचने का मौका ही नहीं दिया। एक के बाद एक लगातार और सब प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हुईं। 1991 में शुरू हुए उदारीकरण को कहीं-न-कहीं मंडल कमीशन की रिपोर्ट से जोड़ कर देखा गया, उसी का परिणाम या उसी की प्रतिक्रिया समझा गया। वहीं मंडल के बाद कमंडल आया, यानि 6 दिसम्बर 1992 में हुआ बाबरी मस्जिद का विध्वंस। इन तीन घटनाओं ने आधुनिक भारतीय इतिहास की तस्वीर को बदल कर रख दिया। कालान्तर में इन तीनों घटनाओं के प्रभाव ने लगभग एक नए भारत को जन्म दिया। प्रथम दृष्टया लग सकता है कि साहित्य के इस दशक में इन्हीं घटनाओं की प्रतिक्रिया या प्रभाव का दबदबा रहा होगा। और साहित्य इन्हीं घटनाओं की प्रतिक्रिया से अटा पड़ा होगा। लेकिन ऐसा है नहीं।

वास्तव में साहित्य न तो इतिहास है और न ही रिपोर्ट। साहित्य समाज में घटित घटनाओं का जस का तस रिपोर्टिंग करना नहीं है। साहित्य समाज में घटित घटनाओं के प्रभाव को और उससे मनोवृत्तियों में आए बदलाव को नोटिस करता है। यह महत्वपूर्ण कारण है कि इन घटनाओं ने त्वरित रूप से साहित्य पर कोई खास असर नहीं छोड़ा। यह अलग बात है कि इस दशक की एक महत्वपूर्ण कहानी संजय खाती की 'पिंटी का साबुन' पढ़कर ऐसा लगता है कि यह भूमण्डलीकरण के दुष्प्रभावों और बाजारवाद की बढ़ती गिरफ्त की कहानी कहती है। इस कहानी के केंद्र में एक मल्टीनेशनल जैसी कंपनी और एक चकाचौंध भरी दुनिया ही है। यह साबुन उसी दुनिया का प्रतीक है। लेकिन यह गौरतलब है कि यह कहानी 1990 ई. में तब ही प्रकाशित हो चुकी थी जब उदारीकरण की शुरुआत भी नहीं हुई थी। यह भारतीय देशी पूंजीवाद के चरम और उसके विस्तार की कहानी है।

साहित्य में इन तीन घटनाओं का प्रभाव बहुत बाद तक कहें या फिर अब तक कहें या यह कि अब आगे आने वाले समयों में लगतार दिखता रहेगा। आज काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी', दूधनाथ सिंह का

'आखिरी कलाम' इन्हीं घटनाओं का सफल प्रतिकार है। इन तीन घटनाओं ने अलग-अलग ढ़ंग से थोड़ा स्वरूप बदलकर प्रभावित किया लेकिन इनकी उपस्थिति सदा बरकरार रही।

आधुनिकता के उपरांत एक उत्तर आधुनिक सोच ने समाज में दलितों और स्त्रियों में जान फूंक दी थी। मंडल कमीशन ने दलितों के आंदोलन को और हवा दी। यूं कांशीराम के प्रयासों, बहुजन समाज पार्टी की स्थापना, महाराष्ट्र में दलित पैंथर्स के एक ठोस आंदोलन ने दलित साहित्य को काफी सम्बल प्रदान किया। भूमण्डलीकरण, शहरीकरण ने भले ही समाज में विषमताओं को बढ़ाया हो लेकिन उसने दलितों और स्त्रियों के लिए 'ब्रीदिंग स्पेस' भी मुहैया करवाई। 'ग्लोबल विलेज' का नारा सिर्फ अर्थव्यवस्था तक सीमित नहीं रहा अपितु उसने मानसिकता को भी प्रभावित किया। स्त्री आंदोलन को शुरुआती दौर में इससे थोड़ी सहूलियत जरूर हुई। 90 से 2000 का यह दशक हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य और स्त्री साहित्य को एक मुकम्मल जगह दिलाने के लिए याद किया जायेगा। यूं तो आंदोलन के रूप में शुरू हुए दोनों ही साहित्य में छिटपुट थोड़ा पहले से ही लिखा जाता रहा था लेकिन इस दशक ने इसे मजबूत रूप में प्रतिस्थापित कर दिया।

दशक के मध्य तक आते-आते मुख्य पत्रिका 'हंस' ने अपना स्वरूप बदलना शुरू कर दिया। इसने शुद्ध कथा की पत्रिका से अपने को मोड़ना शुरू कर दिया। इसने विमर्श में हस्तक्षेप शुरू किया और फिर दलित और स्त्री विमर्श का साहित्य उफान मार कर एक साथ अचानक सामने आने लगा। शुरुआती दौर में 'हंस' ने थोड़ी छूट देकर भी इन विमर्शों की सामग्री को छापा और फिर धीरे-धीरे इसे प्रतिष्ठित कर दिया। जब एक महत्वपूर्ण पत्रिका और एक महत्वपूर्ण संपादक राजेन्द्र यादव का साथ मिला तो अचानक लगा कि समाज में उफन कर बाहर आने के लिए कितना कुछ दबा हुआ था। कितनी अनकही सच्चाइयों से हम रूबरू हुए। 'हंस' ने तब ओमप्रकाश वाल्मीकि, शरण कुमार लिम्बाले, श्यौराज सिंह बैचेन, प्रहलाद चंद दास, डॉ. धर्मवीर आदि लेखकों को सामने लाने का उल्लेखनीय कार्य किया। वहीं स्त्री विमर्श में मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, चित्रा मुद्गल, दूर्वा सहाय, लवलीन, गीतांजलीश्री आदि कई रचनाकार उभरकर सामने आयीं। अपने समय की सच्चाई और जरूरत को पकड़कर 'हंस' ने जिन विमर्शों को जगह दी उन्होंने अपना स्थान तय किया और फिर हिन्दी साहित्य ने इस पर खूब चर्चाएं की। तमाम पत्रिकाओं ने इस पर विशेषांक निकाले और ये विमर्श आज तक बहस के केंद्र में बने हुए हैं। इन विमर्शों के कारण नए रचनाकार सामने आए, लेकिन वहीं उदय प्रकाश जैसे दिग्गज रचनाकारों से राजेन्द्र यादव इन विमर्शों को केंद्र में रखकर 'पीली छतरी वाली लड़की' जैसी दमदार कहानी लिखवाने में सफल हो पाये।

इस दशक से पहले देशी पूंजीवाद अपने चरम पर था और साहित्य में उसका भी जमकर प्रतिकार चल रहा था लेकिन उदारीकरण ने तमाम मल्टीनेशनल कंपनियों को प्रवेश की अनुमति देकर बाजार को बाजारवाद में तब्दील कर दिया। सभी की सोच के केंद्र में मुनाफा शब्द को बैठा दिया। अपनी संस्कृति, अपने रीति-रिवाज, अपना लोकेल सब पिछड़ता गया और उस पर पश्चिमीकरण हावी होता रहा। साहित्य ने इस बदले हुए समाज में मनुष्य की बदली हुई मनोवृत्ति को पकड़ना चाहा। छूटती हुई संस्कृति, विकृत होती हुई संस्कृति का दुख साहित्य में दिखा। मनोज रूपड़ा की कहानी साज-न-साज, योगन्द्र आहूजा की कहानी ग़लत, एस आर हरनोट की 'बिल्लियां बतियाती हैं', कैलाश बनवासी की कहानी 'बाज़ार में रामधन' इसी बाजारवाद के हावी होने और मनुष्य की प्रवृत्ति के धीरे-धीरे मुनाफा केंद्रित होते जाने की ओर इंगित करती हैं। बाजारवाद के समय में मुनाफे को केंद्र में रखने को ही दूसरे रूप में रघुनन्दन त्रिवेदी की कहानी 'सिफैलोटस' में दिखाया गया है।

बाजार और पश्चिमीकरण ने हमारे समाज को संस्कृति के स्तर पर जो क्षति पहुंचायी उस पर आगे भी लिखा जाता रहा। कविताएं लिखीं गई,

उपन्यास लिखे गए। लेकिन इस दशक में इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण रहा 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का लिखा जाना। विनोद कुमार शुक्ल ने वर्ष 1997 में इस उपन्यास की रचना की जो इस चकाचौंध भरी दुनिया के पार एक अनोखी और अजीबोगरीब दुनिया की कहानी कहती है। इस खिड़की से पार इस चकाचौंध भरी दुनिया के बरक्स एक वैकल्पिक दुनिया है, बनिस्पत ज्यादा सुकून भरी और ज्यादा आनन्ददायक।

ऊपर जिन तीन निर्णायक घटनाओं का जिक्र है उनमें किसी-न-किसी रूप में सत्ता की भी मौन सहमति और साथ रहा। अपने हर स्तर पर सत्ता ने विकृति के साथ एक जबरदस्त सांठ-गांठ की और आम लोगों के बीच अपना विश्वास खोती रही। अवधेश प्रीत की कहानी 'नृशंस' उसी सत्ता के विकृत होने और सत्ता में असंतुष्ट लोगों का हजूम तैयार होने और फिर उसी सत्ता के हाथों उसके नेस्तनाबूद होने की कहानी है। इसी सत्ता की विकृति का दूसरा रूप देवेन्द्र की कहानी 'नालन्दा पर गिद्ध' में दिखता है। विश्वविद्यालय में किस तरह ब्राह्मणवाद पैर पसारे बैठा हुआ है यह उसका एक दस्तावेज है।

ओमा शर्मा अपनी कहानी 'भविष्यद्रष्टा' में इस भूमण्डलीकृत समय में गरीबी का एक ऐसा भयावह चित्र खींचते हैं जो दर्दनाक है परन्तु नग्न यथार्थ है। भविष्य देखने वाला आदमी यह नहीं जान पाता कि अब भविष्य नियन्ता कोई और है।

कहानियों का चयन करते वक्त यह सवाल सामने आया कि हम दशक के कहानीकारों का चयन कर रहे हैं या फिर कहानियों का। हमने सोचा तो महसूस हुआ कि यह चयन तो कहानीकारों का ही है। अगर यह दशक की श्रेष्ठ कहानियां होतीं तो फिर कई पिछले दशक के रचनाकार भी शामिल हो सकते थे और फिर एक दोहराव की भी गुंजाइश बची रह जाती। सवाल यह भी सामने आया कि कहानीकार तो इस दशक के हों लेकिन उनकी कहानी आगे के भी किन्हीं वर्षों की हो सकती है? क्या उनकी कोई भी उल्लेखनीय कहानी ली जा सकती है? लेकिन तमाम कहानियों और कहानीकारों से गुजरते हुए हमने यह महसूस किया कि हर कहानीकार अपने शुरुआती दिनों में प्रायः कोई महत्वपूर्ण कहानी अवश्य देता है। वही कहानी तो उसे उस दशक में प्रतिष्ठित करवाती है। हमने इस चयन में उन कहानीकारों को लिया जिन्होंने लिखना भले ही इससे पहले के दशक में शुरु कर दिया हो, लेकिन जिनकी ठोस पहचान इस दशक में बनी। हमने उनकी उसी कहानी का चयन भी किया जो इसी दशक के अंतराल में हो। हमने पाया कि हर लेखक के पास इस दशक में बेहतरीन कहानियां हैं और इन्हीं कहानियों के कारण ही वे इस दशक में जाने गए हैं।

कहानियों के चयन में हमारे पास कई बार यह समस्या आई कि कई कहानीकारों की दो या तीन कहानियां इसी दशक में ही अच्छी थीं। हमारे सामने चुनाव का सवाल था। खैर हमने उसमें उत्कृष्टता के साथ-साथ थोड़ा सा विषय की विविधता को भी ध्यान में रखा। एक ही विषय या एक तरह की समस्या पर सारी कहानियां न हो जाएं, इसका खास ध्यान रखा गया। लेकिन यहां विशेष रूप से ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'शवयात्रा' के बारे में थोड़ा कहना ज़रूरी है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' और 'शवयात्रा' दोनों में से एक को चुनने का इरादा था। वाल्मीकि जी खुद 'सलाम' के पक्ष में थे। 'सलाम' उनकी बेहतरीन कहानी है। अभी दूरदर्शन के 'इंडियन क्लासिक्स' के चुनाव में उसे भी चुना गया है। लेकिन हमने 'शवयात्रा' का चुनाव किया। 'सलाम' दलितों की समस्या को सामने रखती है, लेकिन 'शवयात्रा' दलितों की अंदरूनी समस्या, अछूते विषय को सामने रखती है। 'शवयात्रा' ने दलित साहित्य में एक नए विवाद को जन्म दिया। एक नग्न सत्य की और इशारा किया। 'शवयात्रा' इस दशक की एक उपलब्धि है।

चयन में हमारी बहुत इच्छा थी कि कम-से-कम एक महिला लेखिका और

हो। मैत्रेयी पुष्पा के साथ लवलीन पर हमने बहुत देर तक विचार किया। लवलीन की कहानी 'चक्रवात' को हमने बिल्कुल अंत समय तक रखा हुआ था। लेकिन वह स्त्री विमर्श को द्योतित करती हुई कहानी नहीं लग पायी।

संभव है चयन में कुछ अच्छी कहानियां या अच्छे कहानीकार हमसे छूट गए हों, यह उनकी नहीं, हमारी कमजोरी है। हमारे अध्ययन की कमजोरी है। वैसे हमने अपने अध्ययन के साथ-साथ कई साहित्यिक मित्रों का भी सहयोग लिया। जिन लेखकों को हमने शामिल किया उनसे भी हमने बात की कि कोई प्रतिनिधि रचना हमसे छूट न जाए। यह सब की राय की ही उपज है। फिर भी इस चयन से कोई असहमत भी हो सकता है। हमने तो सिर्फ एक प्रयास किया है। इस पुस्तक में जिन्होंने भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है उनके प्रति हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

उमा शंकर चौधरी

06-01-2010 ज्योति चावला

अनुक्रम

नृशंस

अवधेश प्रीत

कामरेड विजय मित्र की मृत्यु को लेकर हुए हंगामे के बाद सरकार ने हृदय-रोग विशेषज्ञ डा. सी.के.भगत को निलम्बित करते हुए उनके खिलाफ तीन सदस्यीय जांच-दल नियुक्त कर दिया। जांच-दल को पन्द्रह दिनों के भीतर अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप देने के साथ मामले की गंभीरता और संवेदनशीलता को ध्यान में रखते हुए जांच को मुख्य रूप से निम्नलिखित बिंदुओं पर केन्द्रित करने का निर्देश दिया गया थाः

(क) डा. सी.के. भगत की चिकित्सा के दौरान पेशेंट विजय मित्र की हुई मृत्यु का वास्तविक कारण।

(ख) एक जनवरी की रात ड्यूटी पर न रहते हुए भी डा. सी.के. भगत का आई.सी.सी.यू. में ड्यूटी करना।

(ग) डा. सी.के. भगत का व्यक्तिगत आचरण।

(घ) और डा. सी.के. भगत द्वारा दिये गये 'डेथ-सर्टिफिकेट' की वैधानिक हैसियत।

जांच दल में डा. रजनीश आचार्य, कार्डियोलॉजिस्ट, डा. जीवकांत यादव, न्यूरोलाजिस्ट, तथा डा. रामाशीष देव, साइकियाट्रिस्ट शामिल थे। अपने-अपने क्षेत्र के इन विशेषज्ञों ने अपना कार्य शुरू करते हुए सबसे पहले गवाहों, साक्ष्यों और परिस्थितियों पर गौर किया। इस क्रम में जांच-दल के दायरे में शामिल सभी पक्षों को नोटिस जारी किया, फिर उन्हें अपना बयान दर्ज कराने के लिए

एक-एक कर तलब किया, जांच-दल को सहयोग करते हुए सभी सम्बद्ध पक्षों ने अपने बयान दर्ज कराये, जो इस प्रकार हैः

डा. सी.के. भगत का बयानः

यह सच है कि एक जनवरी की रात कार्डियोलॉजी में मेरी ड्यूटी नहीं थी, लिहाजा मैं अपने क्वार्टर में था और अपनी लकवाग्रस्त पत्नी को बाथरूम से लाकर बेड पर लिटा ही रहा था कि मेरे क्वार्टर की कॉल-बेल बज उठी थी, मैंने सोचा कि पत्नी को बेड पर लिटाकर, क्योंकि वह थोड़ी देर टी.वी. देखना चाहती थी, इसलिए उसकी पीठ के नीचे तकिये का सपोर्ट देकर और उसके पांवों पर कम्बल डालकर दरवाजा खोलूं, लेकिन कॉल-बेल न सिर्फ लगातार बजती ही जा रही थी, बल्कि साथ-साथ दरवाजे पर भी किसी के हाथों की दस्तक होने लगी थी। मुझे लगा कि बाहर कोई बेहद परेशानी और अधीरता में खड़ा है; मैंने पत्नी को जिस हालत में थी उसी में छोड़कर और लगभग दौड़ते हुए मुख्य द्वार खोला। द्वार पर पी.जी. स्टूडेंट डा. सुजाता राय खड़ी थी। वह बेहद घबरायी और तनावग्रस्त दिख रही थी। उसकी सांसें तेज-तेज चल रही थीं। ऐसा लग रहा था जैसे वे दौड़ते हुए आई हो।

मुझे अपने सामने पाकर डा. सुजाता राय, जैसा कि सामान्यतः होता है, पी. जी. स्टूडेंट्स अपने सीनियर डाक्टर का अभिवादन जरूर करते हैं, मेरा अभिवादन करना भी भूल गई और इससे पहले कि मैं उससे कुछ पूछूं उसने स्वयं ही बताना शुरू कर दिया, "सर, अभी...अभी एक सीरियस पेशेंट आया है... मैंने उसे आई.सी.सी.यू. में भर्ती कर लिया है...कोई सीनियर डाक्टर नहीं है...सर, कोई नहीं मिला... इसलिए आपको तकलीफ दे रही हूं... प्लीज सर. .. आप ज़रा चल कर देख लें।"

डा. सुजाता राय के आग्रह के बावजूद मैंने निर्पेक्ष भाव से उससे पूछा "डा. राय क्या पेशेंट आपका रिश्तेदार है?"

"नो सर!" डा. सुजाता राय सकपकायी।

मेरे माथे पर बल पड़ गए, “फिर आप इतनी इमोशनल क्यों हो रही हैं?”

डा. सुजाता राय को कोई जवाब नहीं सूझा। बड़ी मुश्किल से थूक निगलते हुए बोल पायी, “सॉरी सर।”

“किसकी ड्यूटी है?” मैंने शुष्क स्वर में पूछा।

डा. सुजाता राय ने बताया, “डा. चौधरी की!”

“क्यों? कहां हैं डा. चौधरी?”

“सर, डाक्टर चौधरी अभी तक आये नहीं हैं। मैंने उनके घर फोन लगाने की कोशिश की, लेकिन घंटी बजती रही... कोई रेस्पांस नहीं हुआ... शायद फाल्स रिंग....”

डा. सुजाता राय की बात मैंने बीच में काट दी, “क्यों, कैंपस में कोई और सीनियर नहीं मिला?”

“नहीं सर, डायरेक्टर साहब सीनियर डाक्टर की एक टीम के साथ सी.एम. हाउस गए हैं... रूटीन चेकअप के लिए।” डा. सुजाता राय ने मजबूरन मेरे पास आने की जैसे सफाई-सी दी।

उस वक्त मेरी तत्काल इच्छा हुई कि मैं अपनी ड्यूटी न होने का बहाना करके या फिर अपनी पत्नी की बीमारी का हवाला देकर छुटकारा पा लूं, पर डा. सुजाता राय की घबराहट और बेचारगी देखकर मुझे ऐसा करना अनैतिक सा लगा, लिहाजा मैंने डा. सुजाता राय को आश्वस्त किया, “बस दो मिनट डा. राय! पत्नी को लिटाकर आता हूं... वह अभी-अभी बाथरूम से आई है... यू नो शी इज अनेबल टू डू एनीथिंग... आज नौकरानी भी छूट्टी पर है!”

मैं डा. सुजाता राय को वहीं छोड़कर, उल्टे पांव बेडरूम की ओर लौट गया, जहां मेरी पत्नी अस्त-व्यस्त सी बेड पर पड़ी थी। मैंने पत्नी को ठीक से लिटाया। उसके पांवों पर कंबल डाला और टी.वी. ऑन करके उसे बताया, “एक सीरियस पेशेंट है.... मैं उसे देखकर आता हूं।”

पत्नी ने कुछ कहना चाहा, लेकिन मैं उसकी बात सुने बगैर तेजी से बाहर चला आया। डा. सुजाता राय अपराध-बोध, आशंका और अजीब से आतंक में डूबी मेरे लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। मैंने उस पर नजर पड़ते ही टोका, “डा. राय, एक डॉक्टर की पहली शर्त जानती हो क्या है?”

डा. सुजाता राय ने मेरी ओर उत्सुकता से देखा। मैंने उसे लक्ष्य करके कहा, “नो सेन्टीमेंट्स... नो इमोशन्स... नो इंवाल्वमेंट्स!”

मैंने यह बात दो कारणों से कही थी। एक तो यह मेरी धारणा रही है कि लड़कियां मूलतः भावुक होती हैं और दूसरे यह कि मैं चाहता था कि डा. सुजाता राय जो अब तक असहज दिख रही थी, सहज हो जाए।

पता नहीं, डा. सुजाता राय सहज हुई या नहीं, लेकिन मेरे साथ इंस्टीट्यूट बिल्डिंग की ओर बढ़ते हुए उसने मुझे बताया, “सर, मैंने ऐसी खामोश भीड़ नहीं देखी, जिसकी आप उपेक्षा कर जायें। शायद इसीलिए मैं इतनी परेशान और एक्साइटेड दिख रही हूं।”

मुझे लगा, डा. सुजाता राय सफाई दे रही है। शायद मेरी टिप्पणी ने उसे आहत किया था। मैंने उसके चेहरे को देखने की कोशिश की, लेकिन उसकी चाल में अप्रत्याशित आई तेजी से, ऐसा मुमकिन नहीं हो पाया। मैंने भी चुप रहना बेहतर समझा। फिर हम सारी राह चुप ही रहे।

जिस वक्त मैं आई.सी.सी.यू. में दाखिल हुआ सिस्टर एलविन पेशेंट को आई.वी. लाइन लगा चुकी थी। मुझ पर नजर पड़ते ही उसने मुझे मुस्करा कर “गुड इवनिंग” कहा। उसकी प्रोफेशनल मुस्काराहट में कशिश नहीं थी, या कि मैं ही ऐसी मुस्कराहट का अभ्यस्त था, सो मैंने उस पर खास ध्यान नहीं दिया और उससे चार्ट लेकर पेशेंट की डिटेल्स देखने लगा।

चार्ट में पेंशेंट का नाम विजय मित्र, उम्र 51 वर्ष दर्ज था। उसका ब्लड-प्रेशर असामान्य रूप से बढ़ा हुआ था। उसकी ई.सी.जी. रिपोर्ट खतरनाक संकेत दे रही थी। मैंने एक नजर पेशेंट पर डाली। पेशेंट के चेहरे

पर आक्सीजन मास्क चढ़ा था, जिसके जरिये वह कठिनाई से सांस ले पा रहा था। ई.सी.जी. मॉनिटर स्क्रीन पर उठती-गिरती तरंगे बता रही थी कि पेशेंट अपनी मौत से जूझ रहा है।

"सर, आपको क्या लगता है... इज इट अ केस आफ मायोकार्डियल इनफैर्कशन?"

मैं डा. सुजाता राय के इस प्रश्न का आशय तत्काल नहीं समझ सका, बल्कि मुझे उसके इस मासूम सवाल पर हैरानी-सी हुई, तो मैंने उसे घूरते हुए पूछा "ह्वाट डू यू मीन?"

"दरअसल, सर!" डा. सुजाता राय कुछ कहते-कहते रुक गई। शायद कोई हिचक उसके आड़े आ गई थी।

उसकी हिचक मेरी समझ से परे थी। मुझे लगा कि डा. सुजाता राय पेशेंट के प्रति कुछ ज्यादा की कांशस है, इसलिए उत्सुकतावश मैंने पूछा, "डा. राय, समथिंग रांग विद यू?"

"नो... नो.... सर!" डा. सुजाता राय घबरा गई गोया मैंने उसकी चोरी पकड़ ली हो। उसने स्वयं को संयत करने की कोशिश में कहा, "सर, मुझे लगता है, इस आदमी को मायोकार्डियल इनफैर्कशन नहीं हो सकता।"

"क्यों, ऐसा तुम कैसे कह सकती हो?" पहली बार मैंने खुद को विश्वास दिलाने के लिए जैसे अपनी आंखें ई.सी.जी. मॉनिटर स्क्रीन पर टिका दीं।

"सर, एक ऐसा आदमी जो हिंसा में विश्वास करता हो... जिसके लिए किसी को छः ईंच छोटा कर देना मामूली बात हो.... जिसका नाम जनसंहारों का पर्याय हो, उसके पास भी दिल जैसी कोई चीज हो सकती है क्या?" डा. सुजाता राय के स्वर में उत्तेजना इस कदर व्याप्त थी कि मैं निरपेक्ष नहीं रह सका। मैंने डा. सुजाता राय को आश्चर्य से देखा - यह डाक्टर है या महज मामूली लड़की?

मैंने उसकी आंखों में कुछ तलाशने की कोशिश की, शायद मासूमियत या

कि मायूसी, ठीक-ठीक नहीं कह सकता, लेकिन अपना असमंजस छुपा नहीं पाया, "मैं कुछ समझा नहीं, डा. राय?"

"सर! यह आदमी एक नक्सल लीडर है। यू नो; नक्सलीज डू बिलीव इन ब्लड शेड्स!" डा. सुजाता राय की आवाज लरज रही थी।

बयान देते-देते डा. सी.के. भगत ठिठक गए, क्योंकि उन्हें ऐन इसी वक्त अपनी वह मनःस्थिति याद आ गई। जब डा. सुजाता राय ने कहा था कि "नक्सलीज बिलीव इन ब्लड शेड्स!"

(उस वक्त उनके माथे पर बल पड़ गए थे जैसे वह कुछ याद करने की कोशिश कर रहे हों। उनकी स्मृति में पेशेंट-चार्ट पर दर्ज नाम विजय मित्र स्फुर्लिंग की तरह कौंधा था और वह मन ही मन बुदबुदाये थे - नक्सल लीडर विजय मित्र! सहसा वह एक झटके से उठे थे और पेशेंट के करीब जा पहुंचे थे। पेशेंट के चेहरे पर ऑक्सीजन-मास्क लगे होने की वजह से उन्होंने पहले उसे बहुत गौर से नहीं देखा था, तब कोई दिलचस्पी भी नहीं थी, लेकिन अभी, इस वक्त वह पेशेंट के बहुत करीब खड़े होकर न सिर्फ उसे बेहद ध्यान से देख रहे थे, बल्कि जैसे लगातार अपनी याददाश्त पर भी जोर डाल रहे थे।

कद, काठी, रंग रूप वहीं होने के बावजूद पेशेंट के चेहरे पर व्याप्त प्रौढ़ता, बालों से झांकती सफेदी और निश्चल मुंदी आंखें उनके देखे विजय मित्र से मेल नहीं खाती थी। बीस-पच्चीस साल पहले के विजय मित्र को याद करते हुए उनकी आंखें सुखद आश्चर्य से फैलती-चली गई थी। वह उस क्षण सचमुच भावुक हो आये थे।)

डा. सी.के. भगत को चुप और कुछ असामान्य देखकर साइकियाट्रिस्ट डा., रामाशीष देव ने टोका, "ह्वाट हैपेंड, डा. भगत?"

डा. सुजाता राय ने मुझे यही पूछा था, "ह्वाट हैपेंड, सर?"

मैंने डा. सुजाता राय के इस सवाल का जवाब देने के बजाय सिस्टर एलविन

को पुकारा। सिस्टर एलविन लगभग दौड़ती हुई मेरे पास आयी। मैंने उसे आदेश दिया, “सिस्टर पेशेंट का ब्लड बायोकेमेस्ट्री के लिए भिजवाइए और हां, पेशेंट के अटेडेंट को बुलाइए।”

सिस्टर एलविन उलटे पांव लौट गई। डा. सुजाता राय पेशेंट को स्ट्रेप्टोकिनेस दे चुकी थी। मैंने आई.वी. लाईन को चेक किया। इस तरह चेक करने से मुझे संतोष हुआ। फिर मैं ई.सी.जी. मॉनिटर के पास बैठकर सिस्टर एलविन की प्रतीक्षा करने लगा। शायद मुझे बेहद सीरियस देखकर डा. सुजाता राय ने टोका, “सर, क्या सोच रहे हैं, आप?”

(डा.सी.के. भगत को अच्छी तरह याद है कि उस वक्त वह विजय मित्र के बारे में सोच रहे थे। मेडिकल कालेज में थर्ड ईयर में जो लड़का उनका रूम मेट बना था वह विजय मित्र ही था। सामान्य कद-काठी का सांवला-सा विजय मित्र क्लास में भी ज्यादातर खामोश ही रहता। अपने आप में खोया हुआ गोया मन कहीं और तन कहीं और हो। सेकेंड ईयर तक उसका विजय मित्र से बस “हाय-हैलो” भर का रिश्ता था, थर्ड ईयर में जब विजय मित्र उनके साथ एक ही कमरे में रहने लगा, तब उसे करीब से देखने-जानने का मौका मिला। शुरू-शुरू में विजय मित्र उनके साथ बस काम भर ही बात करता, लेकिन धीरे-धीरे उनके बीच में अनौपचारिकता की दीवार ढहने लगी थी। वे अब कुछ-कुछ खुलकर बोलने-बतियाने लगे थे।

उन दिनों विजय मित्र देर रात तक जागता और सिरहाने टेबल लैंप जलाकर पढ़ता रहता। चूंकि उन्हें रात में देर तक जागने की आदत नहीं थी, इसलिए वह जल्दी ही सो जाते, लेकिन देर रात जब कभी नींद टूटती, वह पाते कि विजय मित्र पढ़ रहा है। ऐसी ही एक रात जब उनकी आंख खुली, तो उन्होंने पाया कि विजय मित्र अपने बेड पर नहीं है। उस रात यह सोचकर कि विजय मित्र बाथरूम गया होगा, वह सो गए थे। पर अक्सर ऐसा होता कि जब भी वह रात में उठते, विजय मित्र अपने बेड पर नहीं मिलता। विजय मित्र का इस तरह रात

को गायब हो जाना, जितना औत्सुक्यपूर्ण था, उतना ही रहस्यमय भी। आखिरकार एक दिन उन्होंने विजय मित्र से पूछ ही डाला था, “पार्टनर, ये रात-रात भर कहां गायब रहते हो? कोई चक्कर-वक्कर तो नहीं?”

विजय मित्र न तो चौका था, न ही कोई चोरी पकड़ लिये जाने जैसा भाव उसके चेहरे पर दिखा था। एक मद्धिम-सी मुस्कराहट उसके होंठों पर जरूर उभरी थी, “कोई चक्कर-वक्कर नहीं साथी! बस, यूं ही मन नहीं लगता, तो घूमने निकल जाता हूं।”

विजय मित्र के जवाब से वह संतुष्ट नहीं हुए थे, लेकिन विजय मित्र का अंदाज कुछ ऐसा था कि वह आगे कुछ नहीं पूछ पाये थे। उसे कुरेदना, खामख्वाह उसके निजी जीवन में हस्तक्षेप-सा लगा था। वह कुछ अबूझ जानने की फांस दबा गए थे।

लेकिन यह रहस्य... अबूझपन ज्यादा दिनों तक छुपा नहीं रह पाया था। विजय मित्र के सिरहाने, किताबों के बीच, कई ऐसी किताबें दिखने लगी थी, जिनका मेडिकल साइंस से कोई लेना-देना नहीं था। वह कभी कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र पढ़ता, तो कभी दास कैपिटल, वह अक्सर कार्ल मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ-त्से-तुंग की किताबों में खोया रहता और जब थक जाता तो आंखे मूंद कर कुछ सोचता रहता। उन्हें लगता कि विजय मित्र अपना समय बर्बाद कर रहा है। रूम मेट होने के नाते उन्हें विजय मित्र का यह भटकाव अच्छा नहीं लगता, इसलिए उन्होंने विजय मित्र को समझाने की कोशिश की थी, “विजय इन फालतू किताबों में अपना वक्त क्यों बर्बाद कर रहे हो?”

विजय मित्र जैसे उनके इस आक्रमण के लिए पहले से तैयार था। शांत-चित्त उसने दलील दी थी, “तुम जिन किताबों को फालतू कह रहे हो, दरअसल वे ही एक दिन दुनिया का नक्शा बदल कर रख देंगी।”

“लेकिन ये किताबें तुम्हें डाक्टर नहीं बनने देंगी।” उन्होंने प्रतिवाद किया था।

“शायद हां!” विजय मित्र विचलित होने के बजाय कहीं ज्यादा दृढ़ हो आया

था, “मैं डाक्टर न भी बन पाऊं... मरीजों की बीमारी का इलाज न कर पाऊं. .. लेकिन मनुष्य को जो बीमारी भीतर ही भीतर खाये जा रही है, उसका कोई निदान जरूर कर सकूंगा।”

वह विजय मित्र को आवाक् देखते रह गए थे – जैसे उसका दिमाग चल गया हो। लेकिन नहीं, विजय मित्र उनकी आंखों में आंखें डाले मुस्कराये जा रहा था। उन्होंने एक बार फिर विजय मित्र को समझाने के प्रयास में उसके मर्म पर चोट की थी, “विजय, यह सब जानकर तुम्हारे घर वालों को दुख होगा। उन्होंने तुम्हें यहां डाक्टर बनने के लिए भेजा है। उनकी तुमसे ढ़ेर सारी उम्मीदें होंगी। मुझे लगता है, तुम उनके साथ ज्यादती कर रहे हो!” इस बार विजय मित्र ने विरोध नहीं किया, लेकिन वह उनकी बातों से सहमत हो, ऐसा भी नहीं लगा था। उन्हें अपनी कोशिश की निरर्थकता खल गई थी। अनचाहे ही उस दिन, एक गहरी चुप्पी उन दोनों के बीच तन गई थी।

उस दिन के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि विजय मित्र जो पढ़ता है, या रात-रात भर गायब रहता है, या जो सोचता है, या जो करता है, उस सबका मेडिकल की पढ़ाई से कोई वास्ता नहीं है और वह लगभग आत्महंता हो चुका है। यह सब दुःखद था। उन्हें अफसोस होता और वह मन से चाहते कि विजय मित्र ऐसा न करे।

पता नहीं, विजय मित्र के प्रति वह किस भावना से भरे थे कि जब भी कभी मौका मिलता, वह उसे समझाने से फिर भी स्वयं को रोक नहीं पाते, वह ऐसे वक्तों में अक्सर उससे पूछते, “विजय, तुम्हें नहीं लगता है कि तुम अपने आपको वेस्ट कर रहे हो? यह जो अपारच्युनिटी मिली है, एक डाक्टर बनने की, इसे तुम खो रहे हो... एक बेहतर कैरियर... एक बेहतर फ्यूचर... एबब ऑल एक बेहतर ह्यूमन सर्विस का मौका तुम गंवा रहे हो?”

“साथी! मैं तुम्हारी भावना की कद्र करता हूं। मैं मानता हूं कि तुम जो कह रहे हो, उसमें कहीं ज्यादा आकर्षण है... जिंदगी कहीं ज्यादा सुविधाजनक हो

सकती है। लेकिन...!” विजय मित्र एक-एक शब्द पर जोर देते हुए बोलता, “गरीबी... गैर बराबरी...भूख...अन्याय...दमन... शोषण...अत्याचार...मनुष्य के श्रम का अपमान, यह सब कुछ देखकर मैं बेचैन हो उठता हूं...गहरे तक आहत और अपराध-बोध से भर जाता हूं। मुझे लगता है, मैं इस मशीनरी का पुर्जा नहीं बन सकता।”

विजय मित्र का यह फैसलाकुन तेवर दिन पर दिन परवान चढ़ता गया था। वह अपनी रातें मजदूर-बस्तियों में गुजारने लगा था। दिन जन-आंदोलनों.... विरोध प्रदर्शनों.... गोष्ठियों-सेमिनारों में गुजरते। वह कई-कई दिन हॉस्टल नहीं लौटता। उसकी गतिविधियां जिस तेजी से बढ़ रही थी, वह उतनी ही तेजी से मेडिकल की पढ़ाई से विमुख होता जा रहा था।

वह जब भी विजय मित्र को घेरने की कोशिश करते, वह उनसे कोई तीखा प्रश्न पूछ कर, उन्हें निरूत्तर कर देता, वह जब-तब कहता, “साथी, मेडिकल छात्रों का जितना शोषण होता है... बंधुआ मजदूर सा जो बर्ताव होता है, मैं सोचता हूं, उसके खिलाफ भी आवाज उठायी जानी चाहिए.... छात्रों को गोलबंद किया जाना चाहिए....”

विजय मित्र की बातें सुनकर उनके शरीर में झुरझुरी छूट जाती। वह बगलें झांकने लगते। कहीं कोई सुन न ले। वह कमरे के बाहर की आहट लेते और कमरे के भीतर विजय मित्र की उपस्थिति से सहमे रहते। वह उसके साथ असहज जरूर महसूस करते, लेकिन पता नहीं क्यों, उसकी अनुपस्थिति उन्हें बेहद खलती। यह अजीब वितृष्णापूर्ण आकर्षण था।

उन्हीं दिनों, अचानक एक दिन पुलिस कमरे की तलाशी लेने आ धमकी। पता चला, विजय मित्र गिरफ्तार हो गया है। यह खबर सुनकर उनका खून जम गया था। चेतना सुन्न हो गई थी। दिल बैठता लगा था। पुलिस जब तक कमरे की तलाशी लेती रही थी, वह दहशत के मारे डूबते-उतराते रहे थे।

पुलिस ने विजय मित्र की वे तमाम किताबें, जो उसके सिरहाने, बिस्तर के

नीचे, अलमारी के अंदर और ट्रंक के भीतर रखी हुई थी, बतौर "आपत्तिजनक सामग्री" अपने साथ ले गई थी। जाने से पहले एक पुलिस अफसर ने उनसे भी विजय मित्र के बारे में कई प्रश्न पूछे थे, लेकिन उन्होंने ज्यादातर प्रश्नों के प्रति अपनी अनभिज्ञता जाहिर की थी। उस वक्त, उनके सीनियर्स, सहपाठियों और कई प्रोफेसर्स ने उनके पक्ष में पुलिस अफसर को समझाया था, कि भगत कॉलेज का बेस्ट स्टूडेंट है और एक रूम में रहने के बावजूद उसका विजय मित्र से कोई लेना-देना नहीं है।

पुलिस के जाने के बाद वह बड़ी देर तक उबर नहीं पाये थे। मन में जारी धुक-धुकी और विजय मित्र का रह-रहकर आता ख्याल, उन्हें उद्वेलित करता रहा था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह इस पूरी घटना से स्वयं को किस तरह असंपृक्त करें? उनकी आंखों में विजय मित्र का सांवला-सा चेहरा, चमकीली आंखें, विद्रोही तेवर बरबस उभर आता और वह जैसे स्वयं से ही पूछने लगते-विजय मित्र नक्सलबाड़ी क्या करने गया था? वहां पुलिस ने उसे गिरफ्तार कैसे कर लिया? वह जिस राह पर जा रहा है, वह सही है या गलत? वह अपने कैरियर से ज्यादा क्रान्ति को तरजीह क्यों दे रहा है?

उस रात विजय मित्र का अस्त-व्यस्त बेड उन्हें बड़ी देर तक परेशान करता रहा। वह बड़ी देर तक उस ओर से स्वयं को विमुख रखने की कोशिश करते रहे। बड़ी देर तक वह विजय मित्र की स्मृति-छाया से जूझते रहे। बड़ी देर तक दोनों के बीच शह-मात का खेल चलता रहा। अंततः वह उठे थे और विजय मित्र के बेड को व्यवस्थित करने लगे थे। उसकी बिखरी किताबें करीने से अलमारी में लगायी थीं। गद्दे को झाड़ा था और उस पर चादर डाल दी थी। तकिये का कवर ठीक करते हुए उन्हें आभास हुआ था कि तकिये के अंदर कुछ है। उन्होंने उत्सुकता से तकिये के अंदर हाथ डाला था। वहां एक डायरी थी। लाल रंग के प्लास्टिक कवर वाली, उस डायरी में विजय मित्र ने बहुत सारी बातें लिख रखी थीं, घटनाएं... विचार... निजी प्रसंग।

विजय मित्र की डायरी विजय मित्र की अंतरंग टिप्पणियों से भरी पड़ी थी। उसे पढ़ते हुए कभी रोमांचित तो कभी आतंकित होते रहे थे। उसी डायरी में विजय मित्र ने एक जगह लिखा था- "विश्लेषणात्मक रूख की कमी होने की वजह से हमारे बहुत से साथी जटिल समस्याओं का बार-बार गहराई से विश्लेषण और अध्ययन नहीं करना चाहते, बल्कि सीधे निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, जो या तो मुकम्मिल तौर पर सकारात्मक होते हैं अथवा मुकम्मिल तौर पर नकारात्मक" - माओ-त्से-तुंग।

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए उन्हें विजय मित्र की मनःस्थिति का अंदाजा हुआ था और लगा था कि यह टिप्पणी एक तरह से उन्हें ही संबोधित करती है। अक्सर ऐसा होता कि विजय मित्र से होने वाली बातचीत से वह एकदम से असहमत होते और कई बार तो उसकी दलीलों की खिल्ली भी उड़ा देते, "डोंट लिव इन फूल्स पैराडाइज।")

डा.सी.के. भगत के होंठ हिले। वह स्वगत की बुदबुदा रहे थे, "बेवकूफ कहीं का।"

न्यूरोलॉजिस्ट डा. जीवकान्त यादव चौंके। उन्होंने डा.सी.के. भगत को टोका, "डा. भगत, आर यू राइट?"

डा. सी.के. भगत ने स्वयं को संभाला, लेकिन अपनी झेंप छुपा नहीं पाये, "यस... यस, डा. यादव, आयम एबसल्यूटली राइट!"

इससे पहले कि कोई उनकी मनःस्थिति को पकड़ पाये, डा.सी.के. भगत ने स्वयं को संयत करते हुए अपने बयान का छूटा सिरा था लियाः

डा. सुजाता राय के यह पूछने पर कि मैं क्या सोच रहा हूं, मैंने टालने की गरज से उससे ही पूछा, "बाय द वे, तुम इस पेशेंट को जानती हो?"

डा. सुजाता राय को संभवतः इस सवाल की कतई उम्मीद नहीं थी, शायद इसीलिए क्षणभर को वह सकते में आ गई, लेकिन मुझे अपनी ओर एकटक देखता पाकर बोली, "सर, वो क्या है कि अखबारों वगैरह में पढ़ती रही हूं।"

"आईसी!" मैं मुस्कराया, "मुझे लगा शायद तुम इसे पर्सनली जानती हो!"

"नहीं सर! ऐसी कोई बात नहीं।" डा. सुजाता राय जैसे सफाई देने पर उतर आयी, "पेशेंट के साथ जो लोग आये हैं, दरअसल उनकी बातों से भी भान हुआ कि यह पेशेंट नक्सल लीडर है।"

सहसा मुझे ख़्याल आया कि सिस्टर एलविन अभी तक वापस नहीं आई है, लिहाजा मैंने पेशेंट की बाबत डा. सुजाता राय को कुछ हिदायत दी और तेजी से आई.सी.सी.यू. से बाहर चला आया।

सिस्टर एलविन मुझे कॉरीडोर में ही आती हुई मिल गई। वह बुरी तरह झुंझलायी हुई थी। मुझ पर नजर पड़ते ही वह तीखे लहजे में लगभग फट-सी पड़ी, "सर, उधर कोई नहीं है। बायोकेमेस्ट्री में ताला लगा है।"

"क्या?" मेरा मुँह खुला का खुला रह गया। इस इंस्टीट्यूट में व्याप्त यह अराजकता कोई नई बात नहीं, लेकिन उस वक्त सिस्टर एलविन द्वारा दी गई यह सूचना मुझे नागवार लगी। मैं एकदम तैश में आ गया। सिस्टर एलविन को आई.सी.सी.यू. में जाने को बोल कर मैं तेजी से आगे बढ़ गया।

इंस्टीट्यूट के बाहर बरामदे में एक, खामोश मगर बेचैन भीड़ खड़ी थी। मुझे देखते ही कई जोड़ी आंखे मेरे चेहरे पर टिकीं। उन आंखों में आशा थी... आशंका थी... जिज्ञासा भरी चुप्पी के पीछे छलछलाती हुई याचना थी। मेरी हिम्मत नहीं हुई कि मैं उस भीड़ से आंख मिला पाऊं। बचकर निकल जाने की कोशिश में मैं डाक्टर्स चेम्बर की ओर बढ़ा ही था कि यक-ब-यक पूरा इंस्टीट्यूट घुप्प अंधेरे में डूब गया बिजली गुल हो गई थी। अछोर-अंधेरे में जैसे हर चीज अपनी जगह पर ठहर गई थी।

इस भयावह अंधेरे के बीच एक बारगी मेरे दिमाग में एक साथ दो चेहरे कौंधे। पहला मेरी पत्नी का चेहरा, दूसरा आई.सी.सी.यू में अपनी मौत से लड़ रहे पेशेंट विजय मित्र का। दोनों चेहरे एक-दूसरे में गुड्डमुड्ड हो गए और मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा रोशनी आने का इंतजार करता रहा।

मुझे आश्चर्य हो रहा था कि अभी तक इंस्टीट्यूट का जेनरेटर क्यों नहीं चालू हुआ? इस अप्रत्याशित विलंब और अंधेरे के आंतक में मेरे लिए और प्रतीक्षा करना मुश्किल हो गया। मैं अंधेरे में ही अंदाज के सहारे आई.सी.सी. यू. की ओर दौड़-सा पड़ा। आई.सी.सी.यू. में मेरे दाखिल होते न होते बिजली आ गई या कि जेनरेटर चल पड़ा। झपाक से आई रोशनी मे मेरी आंखे चुंधिया गई। मैंने पलकें झपकाते हुए ई.सी.जी. मॉनिटर स्क्रीन पर टिका दीं। वहां "हार्ट बीट्र्स" बताने वाली रेखाओं का ग्राफ नदारद था। स्क्रीन पर सिर्फ एक सपाट-सी चमकती लकीर स्थिर थी। मैं दौड़ा हुआ पेशेंट के पास गया, उसकी कलाई अपने हाथ में लेकर नब्ज टटोलने लगा। मैं इस कदर व्यग्र और विह्वल था कि पेशेंट की नब्ज पकड़ में नहीं का रही थी। मैंने आनन-फानन पेशेंट को कार्डियल पल्मोनरी रिससिटेशन देने की कोशिश की, लेकिन डा. सुजाता राय ने मुझे रोकते हुए कहा, "सर, पेशेंट इज नो मोर!"

मैंने गौर किया कि डा. सुजाता राय उस वक्त न तो भावुक थी न ही बेचैन। उसका स्वर निहायत सपाट था। मुझे लगा कि वह मेरी बेचैनी और भावुकता को लक्ष्य कर रही है, लेकिन सच तो यह है कि मैं उस वक्त तक पेशेंट की मृत्यु को स्वीकार नहीं पाया था। मैंने हताश स्वर में डा. सुजाता राय से कहा, "नो डा. राय, वी कुड नाट सेव हिम!"

बयान देते-देते डा.सी.के. भगत रुके, उनके माथे पर पसीना छलक आया था, पसीना पोंछने के लिए रूमाल निकालते हुए उनका दिमाग कई-कई स्मृतियों में उलझ गया था। मन सुदूर अतीत की ओर भाग छूटा था।

(लाख चाहकर भी विजय मित्र को बचाया नहीं जा सका था, हालांकि उन समेत कई छात्रों ने तर्क दिया था कि किसी छात्र की राजनीतिक प्रतिबद्धता उसका निजी अधिकार है इस आधार पर उसे कालेज ने नहीं निकाला जाना चाहिए। लेकिन कालेज प्रशासन कोई दलील सुनने को तैयार नहीं था। बल्कि छात्रों के इस विरोधी तेवर के उग्र होने से पहले ही कालेज परिसर में सख्ती शुरू कर दी गई थी। एहतियात के नाम पर पुलिस की तैनाती और कई प्राध्यापकों

के धमकी भरे रवैये ने छात्रों का हौसला पस्त कर दिया था। विजय मित्र का निष्कासन पहले तो बहस का विषय बना रहा, फिर धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में खो गया था।

तब भी विजय मित्र उनके दिलो-दिमाग पर अर्से तक छाया रहा। कमरे में मौजूद उसका बेड, उसकी किताबें, ट्रंक, टेबुल-लैंप और उसके कपड़े उसकी स्मृति को कहीं ज्यादा सघन कर जाते। उसके शब्द, उसके भाव, उसकी भंगिमा, उसकी त्वरा और उसके तेवर... वह लाख चाहकर भी भुला नहीं पाते। जिस विजय मित्र के सदा विरोध में रहे, उसी विजय मित्र के लिए अपने मन की इस कमजोरी को कभी समझ नहीं पाया वह।

अचानक एक दिन जब विजय मित्र का सामान लेने उसके पिता मिहिजाम से आए थे तो उनके हताश और दरके व्यक्तित्व को देखकर वह भीतर तक हिल गए थे। बड़ी मुश्किल से उनसे कह पाए थे, "हमने बहुत कोशिश की लेकिन..."

उन्हें इस 'लेकिन' के आगे क्या कहना है, कुछ समझ नहीं आया था और न ही विजय मित्र के पिता ने कुछ जानने की ही कोशिश की थी। सामान समेटने और रिक्शे पर लदवाने के दरम्यान एक ऐसी सख्त चुप्पी बनी रही थी, जिसके भीतर इतना कुछ कहा जा चुका था, कि शब्दों के होने न होने का कोई अर्थ नहीं रह गया था, वह हत्प्रभ रिक्शे को होस्टल-गेट से बाहर जाते हुए देखते रहे थे। थोड़ी देर में ही विजय मित्र के पिता परछाई में तब्दील हो गए थे।

उनका मन गहरे अवसाद में डूब गया था। कमरे में विजय मित्र की उपस्थिति का अहसास कराती चीजें नहीं थी, बल्कि कोने में एक निचाट खालीपन सनसना रहा था। पहली बार उन्होंने सन्नाटे को बजते हुए सुना था जैसे कोई उनके कान में कह रहा हो, "साथी, मेरी डायरी तुमने अपने पास ही क्यों रख ली?"

यह विजय मित्र था! तो क्या विजय मित्र उनके भीतर भी मौजूद है? उन्होंने कमरे के चारों और निगाह दौड़ाई थी, फिर बेहद सतर्कता से अपने तकिए के भीतर रखी विजय मित्र की लाल डायरी को बाहर खींचते हुए अपने आप से

सवाल किया था, "विजय मित्र की डायरी विजय मित्र के पिता से जान-बूझकर क्यों छूपा ली थी?"

अपने ही सवाल का कोई जवाब नहीं था उनके पास। वह ठगे-से डायरी के पन्ने पलटने लगे थे जैसे जवाब उस डायरी में ही कहीं दबा पड़ा हो। अचानक उनकी आंखें एक पृष्ठ पर जम-सी गई थी। उस पृष्ठ पर विजय मित्र ने लिखा था - "सर्वहारा को किसान वर्ग की पूरी मदद पाने की कोशिश करनी चाहिए और सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करनी चाहिए। देहातों में किसानों की क्रांतिकारी समितियों की स्थापना करनी चाहिए और जमींदारियों की जब्ती के लिए तैयारियां करनी चाहिए। मजदूर वर्ग को क्रांति का नेतृत्व आगे बढ़कर अपने हाथ में लेना होगा, तभी क्रान्ति को सफल बनाया जा सकता है। - लेनिन"

डायरी का यह पृष्ठ पढ़ते-पढ़ते वह एक साथ आतंक और अपराध की भावना से इस बुरी तरह ग्रस्त हो गए थे कि उन्हें लगा था इस डायरी का उनके पास रहना उचित नहीं। डायरी छुपा लेने के पीछे जिस भावुकता का हाथ था, डायरी से निजात पाने के लिए उसी भावुकता ने उन्हें उकसाया। वह तत्काल उठे थे और डायरी जेब में डालकर रेलवे स्टेशन के लिए निकल पड़े थे।

विजय मित्र के पिता रेलवे स्टेशन पर गुमसुम बैठे मिल गए थे। उन्होंने डायरी छूट जाने का बहाना करते हुए वह डायरी उन्हें सौंप दी थी। डायरी लेते हुए विजय मित्र के पिता का हाथ थरथरा रहा था मानो वह अपने बेटे का शव ले रहे हों।)

"डा. भगत, अगर आप इजी न फील कर रहे हों तो आपका बयान बाद में ले लिया जाएगा।" डा. रजनीश आचार्य ने डा. सी के भगत को पसीना पोंछते देखकर सलाह दी।

डा. सी.के. भगत ने रूमाल मुट्ठी में भींचते हुए कहा, "नो डा. आचार्य, आयम क्वाइट नॉर्मल।"

एक असामान्य चुप्पी के बीच डा.सी.के. भगत ने भरसक सामान्य लहजे में अपना पक्ष रखने की कोशिश की।

"जिस वक्त पेशेंट विजय मित्र की लाश आई.सी.सी.यू. से बाहर आयी, इंस्टीट्यूट परिसर में मौजदू भीड़ शोक-संताप से भरी नारे लगाने लगी- कामरेड विजय मित्र। अमर रहे! अमर रहें!! नारों की गूंज से इंस्टीट्यूट परिसर का कोना-कोना लरज रहा था। उस वक्त मेरे लिए तय करना मुश्किल हो गया था कि मुझे क्या करना चाहिए? मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा डाक्टर्स चेंबर मे जाकर बैठ गया। मेरे पीछे-पीछे डा. सुजाता राय भी आई और बैठ गयी। बाहर उठते नारों के शोर और व्याप्त उत्तेजना से वह जैसे दहशत में डूबी हुई थी। उसका चेहरा फक पड़ा था। ऐसे में उसे अकेले छोड़कर जाने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। मैं बगैर कुछ बोले बैठा रहा। सिस्टर एलविन यथावत भागदौड़ में लगी हुई थी।"

मैंने तब राहत की सांस ली, जब डा. चौधरी को डाक्टर्स चेंबर में प्रवेश करते देखा। डा. चौधरी हैरान और हांफते हुए-से अंदर आये और सीधे मुझसे मुखातिब हो गए, "डा. भगत, यह क्या माजरा है? बाहर इतनी भीड़... नारेबाजी... सब कुशल तो है?"

"एक पेंशेंट... नक्सल लीडर... उसी के सपोर्टर हैं ये।" अनमने ढंग से उत्तर देते हुए मैं घर जोने के लिए उठ खड़ा हुआ। "डा. चौधरी मैं चलता हूं। अब आप आ गए हैं... डेथ-सर्टिफिकेट दे दीजिएगा।"

"म...म...मैं!" डा. चौधरी हकलाये। उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगी थी, "मैं कैसे दे सकता हूं डेथ-सर्टिफिकेट! मैंने पेशेंट को नहीं देखा... मैं उसकी केस हिस्ट्री तक नहीं जानता।"

मैं अवाक् डा. चौधरी को देखता रह गया। बाहर नारों का शोर मद्धिम पड़ने लगा था। भीतर एक अनपेक्षित स्थिति सिर उठा चुकी थी। मेरी समझ में नहीं आया, मैं क्या करूं? मैंने संयत स्वर में डा. चौधरी को याद दिलाया कि आप ड्यूटी पर हैं। कायदे से तो यह आपका ही केस है।"

लेकिन डा. चौधरी कोई तर्क मानने को तैयार नहीं हुए। एक तरह से उन्होंने अडियल रुख अख़्तियार कर लिया था। ऐसे में, पेशेंट की लाश, बाहर उत्तेजित भीड़, किसी भी क्षण कुछ भी घट जाने की आशंका और अपने क्वार्टर में निरीह

पड़ी अपनी पत्नी का ख़याल आते ही मेरे दिमाग की नसें तड़तड़ाने लगीं। इससे पहले कि मैं अपना आपा खो बैठूं, मैंने डेथ-सर्टिफिकेट लिखकर दे देना ही उचित समझा।

डा. सुजाता राय का बयानः

मैं पी.जी.स्टूडेंट डा. सुजाता राय एक जनवरी की रात डा. चौधरी की यूनिट में ड्यूटी पर थी, जब नक्सल लीडर विजय मित्र को अचेतावस्था में कार्डियोलाजी में लाया गया। प्रारंभिक जांच के बाद मैंने पाया कि पेशेंट की हालत बहुत सीरियस है और उसके साथ आयी भीड़ निहायत उग्र। मैं मन ही मन आतंकित और असहाय महसूस करती पेशेंट का तत्काल आई.सी.सी.यू. में दाखिल करने का निर्देश देकर डा. चौधरी से फोन पर संपर्क करने की कोशिश करने लगी। लेकिन काफी प्रयास के बावजूद उनसे संपर्क नहीं हो पाया। मैं चूंकि अब तक जान चुकी थी कि विजय मित्र नाम का एक पेशेंट नक्सल लीडर है और बाहर खड़े लोग उसके सपोर्टर, मेरे हाथ-पांव फूलने लगे थे। मैं इसी मनःस्थिति में किसी सीनियर डाक्टर की तलाश में इंस्टीट्यूट के पिछले दरवाजे से बाहर निकल पड़ी।

यह एक जनवरी की रात थी, शायद इसीलिए कैंपस में कुछ ज्यादा ही सन्नाटा था। पता नहीं, मेरे भीतर का भय था, या कैंपस में व्याप्त सन्नाटा, वातावरण कुछ ज्यादा ही भयावह लग रहा था। अचानक मेरी नजर डा. भगत के क्वार्टर की खिड़की से आती रोशनी और डोलती परछाई पर पड़ी। मुझे लगा कि डा. भगत अपने क्वार्टर में हैं, मैंने घबराहट और बैचेनी के उस आलम में डा. भगत के क्वार्टर की कालबेल बजा दी।

अपने क्वार्टर का दरवाजा डा. भगत ने ही खोला इससे पहले कि डा. भगत मुझसे कुछ पूछते, मैंने पेशेंट की सीरियस हालत का हवाला देते हुए उनसे मदद की मांग की डा. भगत शायद मुझे असहाय और उद्विग्न देखकर मेरे साथ चलने को तैयार हो गए।

आई.सी.सी.यू. में भर्ती पेशेंट के बारे में यह जानकर कि वह नक्सल लीडर

विजय मित्र है, डा. भगत कुछ इस तरह चौंके कि मैंने गौर किया, वह जैसे कुछ याद करने की कोशिश कर रहे हों। अगले ही क्षण डा. भगत पेशेंट के करीब पहुंचे और उसे ध्यान से देखने लगे, फिर गहरी सांस खींचते हुए उन्होंने मुझसे पूछा, "डा. राय, आप पेशेंट को जानती हैं?"

हां, मैं पेशेंट विजय मित्र को जानती थी और उसे सिर्फ इसलिए नहीं जानती थी कि वह नक्सल लीडर है, बल्कि मैं उसी नक्सलबाड़ी की रहने वाली हूं, जहां कभी नक्सलवाद ने जन्म लिया था और उसके कहर का शिकार मेरा परिवार भी हुआ था। लेकिन यह बात मैं डा. भगत से छुपा गई। उल्टे, उस वक्त मुझे लगा कि डा. भगत भी किसी न किसी रूप में विजय मित्र को जानते हैं। उनकी आंखों में किसी को पहचान लेने जैसी स्निग्ध आभा उभरी थी और साथ ही उनके चेहरे पर गहरी उदासी छा गई थी।

डा. भगत पेशेंट विजय मित्र की स्थिति पर लगातार नजर रखे हुए थे। ई. सी.जी. मॉनिटर स्क्रीन पर हो रहे एक-एक परिवर्तन से उनके माथे पर बल पड़ जाते। मुझे लगा कि डा. भगत भीतर से बेहद उद्वेलित और इमोशनल हो आये हैं। मैंने उन्हें इस स्थिति से उबारने की गरज से, या कि नक्सलियों के प्रति मेरे मन में भयबोध ने मुझे उकसाया कि मैंने उनसे एक बेवकूफाना सवाल कर डाला, "सर, ऐसे नृशंस आदमी के पास भी दिल हो सकता है, क्या?"

डा. भगत ने मुझे कौतूहल से देखा और मुझे अपनी और एकटक देखती पाकर ठंडी आह भरते हुए कहा, "डा. राय, यह आदमी जैसी दुनिया बनाने की लड़ाई लड़ता रहा है, वह किसी मामूली आदमी के वश की बात नहीं।"

जाहिर था कि डा. भगत न सिर्फ पेशेंट के बारे में बहुत कुछ जानते थे, बल्कि उससे कहीं न कहीं अंतरंग भी थे। मेरी इच्छा हुई कि मैं डा. भगत से पूछूं कि क्या विजय मित्र की लड़ाई से इत्तफाक रखते हैं, लेकिन किसी सीनियर से तुर्की-ब-तुर्की सवाल-जवाब करना न तो हम पी.जी स्टूडेंट के लिए उचित होता है, न ही सुविधाजनक।

मुझे चुप देखकर डा. भगत कुछ, ज्यादा ही व्यग्र हो उठे। उन्होंने जैसे

अपने-आप से ही कहा, "इस पेशेंट को किसी भी कीमत पर बचाया जाना बहुत जरूरी है, डा. राय।"

लेकिन वह पेशेंट नहीं बचा। डा. भगत लाख चाह कर भी पेशेंट विजय मित्र को नहीं बचा पाये। उस वक्त डा. भगत उस लुटे हुए मुसाफिर की तरह नजर आ रहे थे। जो अपना सब कुछ गंवा कर भी कहीं शिकायत दर्ज न करा पाने की बेबसी में जड़ हो गया हो। डा. भगत हताश, उदास, भारी कदमों से आई. सी.सी.यू. से बाहर निकले और डाक्टर्स चेंबर में जाकर बैठ गए। उनके पीछे-पीछे मैं भी डाक्टर्स चेंबर में पहुंची और चुपचाप एक कुर्सी पर बैठ गई।

कुछ ही देर बाद, डा. चौधरी भी आ पहुंचे। बाहर विजय मित्र के सपोर्टर नारे लगा रहे थे। चैंबर के भीतर डा. चौधरी को देखकर डा. भगत कुर्सी से उठे और डा. चौधरी से डेथ-सर्टिफिकेट दे देने के लिए कहकर जाने लगे कि डा. चौधरी ने डेथ-सर्टिफिकेट देने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। डा. भगत और डा. चौधरी में इस मुद्दे पर तकरार भी हुई और तभी मैंने देखा कि डा. भगत तमतमाये हुए कुर्सी पर जा बैठे। उस वक्त वह क्रोध से कांप रहे थे और उसी हालत में उन्होंने डेथ-सर्टिफिकेट लिखना शुरू कर दिया था।

डा. भगत डेथ-सर्टिफिकेट पर अपना हस्ताक्षर करने के साथ ही झटके से उठे और कागज के उस टुकड़े को वहीं टेबल पर छोड़कर तीर की मानिंद डाक्टर चेंबर से बाहर निकल गए।

सिस्टर एलविन का बयानः

मैं सीनियर सिस्टर एलविन हेम्ब्रम एक जनवरी की रात ड्यूटी पर थी। उस रात जब पेशेंट विजय मित्र को लेकर एक भीड़ आई तो तत्काल उसे पी.जी. स्टूडेंट डा. सुजाता राय ने एक्जामिन किया और उसे आक्सीजन लगाने को कहकर आई.सी.सी.यू. में ले जाने की हिदायत दी। आई.सी.सी.यू. में थोड़ी देर बाद डा. सुजाता राय के साथ डा. सी.के. भगत आये। उन्होंने पेशेंट को देखा और मुझसे पेशेंट का ब्लड बायोकेमेस्ट्री का इंतजाम करने को कहा। मैं डा. भगत

के आदेश पर आई.सी.सी.यू. से बाहर चली गई। मुझे बायोकेमेस्ट्री में ताला बंद मिला। मैंने डा. भगत को जब यह सूचना दी तो वह बुरी तरह बौखला गए और दौड़ते हुए बरामदे की ओर भागे इसी बीच लाइट चली गई और जब लाइट आई तो मैंने देखा कि डा. भगत हांफते हुए आईसीसीयू में घुस रहे हैं। डा. भगत ई.सी.जी. मॉनिटर स्क्रीन पर नजर पड़ते ही चीख पड़े - ओह नो!

डा. भगत की चीख से मेरा ध्यान उस ओर गया। मैंने देखा, डा. भगत पेशेंट की नब्ज टटोल रहे हैं। डा. भगत बेहद बैचेन और घबराये हुए थे। शायद उस वक्त उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। तभी डा. सुजाता राय ने कहा, "सर पेशेंट इज नो मोर।"

जेनरेटर-आपरेटर का बयानः

एक जनवरी की रात जिस वक्त बिजली गायब हुई थी, मैं अपनी ड्यूटी पर था। मैंने दौड़कर तुरंत जेनरेटर चालू करने की कोशिश की थी, लेकिन जेनरेटर में कचरा आ जाने के कारण उसे चालू होने में समय लगा। समय कितना लगा, यह ठीक-ठीक बता पाना संभव नहीं है, क्योंकि न तो मेरे पास घड़ी थी और न ही ऐसी कोई जरूरी कभी पड़ी थी।

डा. चौधरी का बयानः

मैं डा. नीलकांत चौधरी एक जनवरी को नाइट ड्यूटी पर था, मुझे कैंपस में आवास उपलब्ध नहीं है, इसलिए मैं शहर में किराये के मकान में रहता हूं। उस रात मैं ड्यूटी के लिए घर से चला तो रास्ते में पता चला कि मुख्यमार्ग पर वाहनों का आना-जाना बंद है, क्योंकि उधर से गवर्नर का काफिला गुजरने वाला है। रास्ता डाइवर्ट कर दिया गया था, लिहाजा दूसरे तमाम रास्तों में ट्रैफिक जाम हो गया था। और मैं चाहकर भी ड्यूटी पर समय से पहुंच पाने में विवश था। जब मैं अपनी ड्यूटी पर पहुंचा तो कैंपस में एक शव को घेरे लोगों का हुजूम नारेबाजी कर रहा था। भीड़ बेहद उत्तेजित थी। मुझे लगा, वहां किसी भी क्षण हिंसा हो सकती है। मैं घबराया हुआ डाक्टर्स चेंबर में पहुंचा, जहां पहले से ही

डा. भगत और पी.जी. स्टूडेंट डा. सुजाता राय मौजूद थे। डा. भगत ने मुझसे कहा कि मैं विजय मित्र का डेथ-सर्टिफिकेट दे दूं। लेकिन मैंने पेशेंट का इलाज नहीं किया था, न ही मैं केस-हिस्ट्री से वाफिक था, इसलिए डेथ-सर्टिफिकेट देना मेरे लिए न ही व्यावहारिक था, न ही उचित, इसलिए मैंने अपनी विवशता जाहिर कर दी। इस पर डा. भगत मुझसे उलझ पड़े और उन्होंने अपना आपा खो दिया। उसी मानसिक स्थिति में उन्होंने विजय मित्र का 'डेथ-सर्टिफिकेट' जारी कर दिया।

डा. भगत के लिखे सर्टिफिकेट पर नजर पड़ते ही मैं हैरान रह गया। मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने उसे डा. सुजाता राय को पढ़ने के लिए दिया। डा. सुजाता राय भी डेथ-सर्टिफिकेट में पेशेंट विजय मित्र की मृत्यु का कारण लिखा था - ड्यू टू फैल्योर आफ सिस्टम (व्यवस्था के असफल हो जाने से मृत्यु)

जांच दल ने महसूस किया कि इस बिंदु पर डा. सी.के. भगत का स्पष्टीकरण जरूरी है, लिहाजा डा. भगत एक बार फिर तलब किये गये। जांच दल की ओर से डा. रजनीश आचार्य ने डा. सी.के. भगत से पूछा, "डा. भगत, आप एक सीनियर और जिम्मेदार डाक्टर हैं, फिर आपने ऐसा डेथ-सर्टिफिकेट क्यों दिया?"

"क्यों, मैंने कुछ गलत लिखा है, क्या?" डा. सी.के. भगत इस इत्मीनान से मुस्कराये कि जांच दल के तीनों सदस्य सकते में आ गए।

"आर यू श्योर डा. भगत, कि आपने सही लिखा है?" बड़ी मुश्किल से पूछ पाये डा. देवाशीष देव।

"यस... यस! आयम हंड्रेड परसेंट श्योर!" डा. सी.के. भगत के स्वर में सख्ती और तल्खी एक साथ उभरी। उन्होंने उल्टा सवाल दाग दिया, "एनी मोर क्वेश्चन?"

जांच दल ने डा.सी.के. भगत से कोई और सवाल पूछना जरूरी नहीं

समझा। इसके साथ ही कार्डियोलॉजी के डायरेक्टर और अन्य डाक्टरों से भी कोई पूछताछ इसलिए नहीं की गई, कि उनका इस घटना से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था और वे जांच के दायरे में नहीं आते थे।

साक्ष्यों, परिस्थितियों और गवाहों के बयानों के मद्देनजर जांच-दल के तीन सदस्यों ने जो रिपोर्ट तैयार की, वह इस प्रकार हैः-

डा. रजनीश आचार्य, कार्डियोलाजिस्टः

पेशेंट विजय मित्र की ब्लड बायोकेमेस्ट्री उपलब्ध न होने से मायोकार्डियल इनफैर्क्शन (हार्ड-अटैक) की पुष्टि नहीं होती है, लेकिन ब्लड प्रेशर और ई.सी. जी. रिपोर्ट से जाहिर होता है कि पेशेंट विजय मित्र की हालत गंभीर थी। उसका प्रॉपर-केयर और आब्जर्वेशन जरूरी था जो नहीं हुआ। यह स्पष्टतः लापरवाही का मामला है और डाक्टरी नैतिकता के विरूद्ध है। मेरी राय में पेशेंट की मृत्यु का कारण है "लैक-आफ प्रापर ट्रीटमेंट!"

डा. जीवकांत यादव, न्यूरोलॉजिस्टः

साक्ष्यों, परिस्थितियों और पेशेंट की पृष्ठभूमि से जाहिर होता है कि पेशेंट विजय मित्र जबरदस्त 'नर्वस ब्रेक डाउन' का शिकार था, जिससे उसके मस्तिष्क ने काम करना बंद कर दिया। ऐसा मरीज शारीरिक तौर पर जिंदा होते हुए भी दिमागी तौर पर मर चुका होता है। ऐसे केस में तुरंत न्यूरोलाजिस्ट से संपर्क किया जाना चाहिए, जो नहीं हुआ। मेरी राय में विजय मित्र की मौत का कारण है - 'ब्रेन-डेथ'।

डा. रामाशीष देव, साइकियाट्रिस्टः

पेशेंट विजय मित्र चूंकि नक्सल-लीडर और एक्टिविस्ट था, इसलिए उसका अत्यधिक तनाव और दबाव में होना स्वाभाविक है, पर कल्पनाओं और सपनों की दुनिया में जीने का आदी था, जैसा कि ऐसे लोग होते हैं। वस्तुतः यह एक प्रकार का मनोरोग है। इस रोग के चरम पर पहुंच जाने के कारण ऐसे रोगी

या तो पागलपन का शिकार हो जाते हैं या फिर एक्यूट-डिप्रेशन के। साक्ष्यों, परिस्थितियों और गवाहों के बयानों से मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि पेशेंट विजय मित्र की मृत्यु 'स्ट्रेस एंड स्टेन' की वजह से हुई।

लेकिन जांच दल के तीनों सदस्य इसके विपरीत कुछ बातों पर एकमत भी थे। वे सहमत थे कि एक जनवरी की रात डा. चौधरी की ड्यूटी थी और ट्रैफिक जाम की वजह से वे समय से ड्यूटी पर नहीं पहुंच पाये, जो संभव हैः इसके बावजूद डा. चौधरी की ड्यूटी में डा. भगत द्वारा पेशेंट का इलाज किया जाना उचित नहीं था, क्योंकि इस तरह डा. चौधरी की जबावदेही समाप्त हो गई और जान-बूझकर डा. भगत ने न सिर्फ पेशेंट विजय मित्र के इलाज की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली, बल्कि उन्होंने संस्थान के नियमों का भी उल्लंघन किया।

जांच दल के सदस्य इस बात पर भी एक मत थे कि अपने पुत्र की आत्महत्या, पत्नी की लंबी बीमारी और कार्डियोलॉजी इंस्टीट्यूट का डायरेक्टर न बनाये जाने के कारण मुकदमेबाजी में उलझे डा. सी.के. भगत हताशा, हीनता और कुंठा के शिकार हो चुके हैं। उनकी मानसिक स्थिति भी कतई सामान्य नहीं लगती।

जांच दल के डा. सी.के. भगत द्वारा जारी डेथ-सर्टिफिकेट की वैधानिक हैसियत के बारे में अपनी राय देते हुए लिखाः डा. सी.के. भगत चूंकि एक जनवरी की रात ड्यूटी पर नहीं थे, इसलिए नियमतः उन्हें डेथ-सर्टिफिकेट नहीं जारी करना चाहिए था। इस तरह न सिर्फ अराजकता बढ़ेगी, बल्कि एक गलत परिपाटी भी जन्म लेगी। डा. भगत द्वारा जारी डेथ-सर्टिफिकेट सिद्धांततः नियम विरूद्ध है। वैसे इस मामले में विधि विशेषज्ञ की राय अपेक्षित है।

सरकार का निर्णय

जांच दल के विशेषज्ञों की राय, गवाहों के संलग्न बयान और परिस्थितियों के आलोक में प्रमाणित है कि डा. सी.के. भगत का नक्सल लीडर विजय मित्र से गहरा संबंध था और इसी कारण उन्होंने सरकार को बदनाम करने के लिए

सुनियोजित साजिश के तहत असंवैधानिक डेथ-सर्टिफिकेट जारी किया, जो घोर अनुशासनहीनता का परिचायक है तथा एक सरकारी सेवक की आचार संहिता के विरूद्ध है। डा.सी.के. भगत को चिकित्सकीय मर्यादा के उल्लंघन और आपत्तिजनक आचरण के कारण तत्काल प्रभाव से सेवामुक्त किया जाता है।

डा. सी.के. भगत की प्रतिक्रियाः

कामरेड विजय मित्र, काश, तुम्हारे पास दिल न होता!

(हंस, नवंबर 1999)

अवधेश प्रीत

कथाकार अवधेश प्रीत का जन्म 13 जनवरी 1958 को तराँव, गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ, लेकिन पेशे के कारण रहनवास बिहार में। अपनी कहानियों में प्रायः बिहार को ही आधार बनाया है। बिहार की समस्याओं, और बिहार के सच को अपनी कहानियों में खूब उठाया है। राजेन्द्र यादव ने बिहार के महत्वपूर्ण कहानीकारों मे अवधेश को शुमार किया है। बिहार के कई सम्मानों से सम्मानित भी हैं। चार कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। हस्तक्षेप, नृशंस, हमज़मीन और कोहरे में कंदील। कई कहानियों के नाट्य मंचन हुए हैं। बनारसी प्रसाद भोजपुरी सम्मान (1997), विजय वर्मा कथा सम्मान (2001), फणीश्वर नाथ रेणू सम्मान (2002-03) डॉ. सुरेन्द्र चौधरी कथा सम्मान (2004) से सम्मानित हैं।

सम्पर्क :- कृष्णा निवास, सुमति पथ, रानीघाट,
महेन्द्रू, पटना - 800006
मो. - 09431094596

शवयात्रा

ओमप्रकाश वाल्मीकि

चमारों के गाँव में बल्हारों का एक परिवार था, जो जोहड़ के पार रहता था। चमारों और बल्हारों के बीच एक सीमा रेखा की तरह था जोहड़। बरसात के दिनों में जब जोहड़ पानी से भर जाता था तब बल्हारों का संपर्क गाँव से एकदम कट जाता था। बाकी समय में पानी कम हो जाने से किसी तरह वे पार करके गाँव पहुँचते थे। यानी बल्हारों के गाँव तक जाने का कोई रास्ता नहीं था। रास्ता बनाने की जरूरत कभी किसी ने महसूस ही नहीं की थी।

जब किसी चमार को उनकी जरूरत पड़ती, तो जोहड़ के किनारे खड़े होकर आवाज लगा देता। जोहड़ इतना बड़ी भी नहीं था, कि बल्हारों तक आवाज ही न पहुँचे। आवाज सुनकर वे बाहर आ जाते थे।

परिवार में सिर्फ दो जन ही रह गए थे - सुरजा, जिसकी उम्र ढल चुकी थी; और उसकी बेटी सन्तो, जो शादी के तीसरे साल में ही विधवा होकर मायके लौट आई थी। सुरजा की घरवाली को मरे भी तीन साल हो गए थे। घर-बाहर की तमाम जिम्मेदारियां सन्तों ने सँभाल रखी थी। सुरजा वैसे भी काफी कमजोर हो चला था। उसे सूझता भी कम था। लेकिन फिर भी गाँव के छोटे-मोटे काम वह कर ही देता था।

सुरजा का एक बेटा भी था, जो दस-बारह साल की उम्र में ही घर छोड़कर भाग गया था। कुछ साल इधर-उधर भटकने के बाद उसे रेलवे में नौकरी मिल

गई थी। इस नौकरी ने ही उसे पढ़ने-लिखने की ओर आकर्षित किया था। इसी तरह उसने हाईस्कूल करके तकनीकी प्रशिक्षण लिया और रेलवे में ही फिटर हो गया था। नाम था कल्लू, जो अब कल्लन हो गया था।

जब सन्तो की शादी हुई थी, सारा खर्च कल्लन ने ही उठाया था। सुरजा के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी। कल्लन की शादी भी रेलवे कॉलोनी में ही हो गई थी। उसके ससुर भी रेलवे में ही थे। उसे पढ़ी-लिखी पत्नी मिली थी, जिसके कारण उसके रहने-सहन में फर्क आ गया था। उसके जीवन का ढर्रा ही बदल गया था।

गाँव वह यदाकदा ही आता था। लेकिन जब भी वह गाँव आता, चमार उसे अजीब-सी नजरों से देखते थे। कल्लू से कल्लन हो जाने को वे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। उनकी दृष्टि में वह अभी भी बल्हार ही था, समाज-व्यवस्था में सबसे नीचे यानी अछूतों में भी अछूत।

गाँव में वह अपने आपको अकेला महसूस करता था। परिवार के बाहर एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिससे वह दो घड़ी बतिया सके। गाँव के पढ़े-लिखे लोग भी उससे कटे-कटे रहते थे। आखिर वह था तो बल्हार ही, जोहड़ पार रहनेवाला। गाँववाले उसे कल्लू बल्हार ही कहकर बुलाते थे। उसे यह संबोधन अच्छा नहीं लगता था। नश्तर की तरह उसे बींधकर हीन भावना से भर देता था।

इस बार वह काफी दिन बाद गाँव आया था। उसने आते ही सुरजा से कहा, "बापू, मेरे साथ दिल्ली चलो। सरकारी मकान में सब एक साथ रह लेंगे।"

"ना बेट्टे, इब आखरी बखत में यो गाँव क्यूँ छुड़वावे... पुरखों ने यहाँ आक्के किसी जमान्ने में डेरा डाल्ला था। यहीं मर-खप्प गए, इसी माट्टी में। इस जोहड़ की ढैंग पे रहके जिनगी काट दी। इब कहाँ जांगे," सुरजा ने आँखें मिचमिचाकर अपने मन की बात कही थी, जैसे अतीत में वह कुछ ढूँढ़ रहा था।

कल्लन ने सन्तो की ओर देखा। वह तो चाहती थी, इस जहालत से छुटकारा मिले। लेकिन बापू की बात काटने का उसमें न कभी पहले हौसला था, न अब

है, बस चुपचाप बैठकर पैरे के अँगूठे से मिट्टी कुरेदने लगी थी। जैसे उसका सोच उसे कहीं बहुत दूर ले जा रहा था, जहाँ दूर-दूर तक भी कोई किनारा दिखाई नहीं पड़ता था। कल्लन ने जोर देकर कहा, "बापू, यहाँ न तो इज्जत है, ना रोटी, चमारों की नजर में भी हम सिर्फ बल्हार हैं... यहाँ तुम्हारी वजह से आना पड़ता है... मेरे बच्चे यहाँ आना नहीं चाहते... उन्हें यहाँ अच्छा ही नहीं लगता..."

उसकी बात बीच में ही काटकर सुरजा बोला, "तो बेट्टे, हियाँ मत आया कर... म्हारी तो कट जागी इसी तरह। बस, सन्तो की फिकर है। यो अकेल्ली रह जागी... यो टूटा-फूटा घर भी शायद अगली बारिश ना देख पावे। तुझे जो म्हारी चिन्ता है, तो तू इस घर कू पक्का बणवादे...." सुरजा के मन में यह बात कई बार आई थी। लेकिन कह नहीं पाया था। आज मौका पाकर कह दिया।

"बापू, मेरे पास जो दो-चार पैसे हैं, उन्हें यहाँ लगाकर क्या होगा। आपके बाद मैं तो यहाँ रहूँगा नहीं... सन्तो मेरे साथ दिल्ली चली जाएगी," कल्लन ने साफ-साफ कह दिया।

सुनते ही सुरजा भड़क गया। उसके मुँह से गाालियाँ फूटने लगीं। चिल्लाकर बोला, "तू! मेरे मरने का इंतजार भी क्यूँ करै है... इसे आज ही ले जा। और हाँ, अपणे पैसों की धौंस मुझे ना दिखा... अपने धौरे रख... जहाँ इतनी कटगी है, आगे बी कट ही जागी।"

उन दोनों के बीच जैसे अचानक संवाद सूत्र बिखर गए थे। खामोशी उनके इर्द-गिर्द फैल गई थी।

सुबह होते ही कल्लन दिल्ली चला गया था। पैसों का बंदोबस्त करके वह हफ्ते भर में लौट आया था। साथ में पत्नी सरोज और दल साल की बेटी सलोनी भी आई थी। बेटे को वे उसकी ननिहाल में छोड़कर आ गए थे। कल्लन ने आते ही बापू से कहा, "किसी मिस्तरी से बात करो। कल ईंटों का ट्रक आ जाएगा।" सुनते ही सुरजा की आँखों में चमक आ गई थी। उसे कल्लन की बात पर

विश्वास ही नहीं हुआ था। लेकिन कल्लन ने उसे विश्वास दिला दिया था। वह उसी वक्त मिस्तरी की तलाश में निकल पड़ा था।

गाँव में ज्यादातर मकान सूरतराम ठेकेदार ने बनाए थे। सुरजा उसी के पास पहुँचा, "ठेकेदारजी, म्हारा भी एक मकान बणा दो।"

सूरतराम ने पहले तो सूरजा को ऊपर से नीचे तक देखा। तन पर ढंग का कपड़ा नहीं और चला है पक्का मकान बनवाने। सूरतराम जल्दी में था। उसे कहीं जाना था। उसने हंसकर सुरजा को टाल दिया, "आज तो टेम ना है, फिर बात करेंगे।"

सुरजा ने हार नहीं मानी। सुबह ही वह मुँहअँधेरे निकल पड़ा था। पास के गाँव में साबिर मिस्तरी था। पुराना कारीगर। सुरजा ने उसे अपने आने का मकसद बताया। साबिर मान गया था, "ठीक है, मैं कल आके देख लूँगा। अपना मेहनताना पेशगी लूँगा।

"ठीक है मिस्तरीजी। कल आ जाओ... जोहड़ पे ही म्हारा घर है," सुरजा अपनी खुशी छिपा नहीं पा रहा था। लौटते समय उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। कमजोर शरीर में भी जैसे स्फूर्ति भर गई थी।

जब तक वह लौटकर घर पहुँचा, ईंटें आ चुकी थीं। लाल-लाल ईंटों को देखकर सुरजा अपनी थकावट भूल गया था। वह उल्लास से भर उठा था। उसने ऐसी खुशी इससे पहले कभी महसूस ही नहीं की थी।

जोहड़ पार ईंटें उतरती देखना गाँव के लिए किसी आश्चर्य से कम नहीं था। पूरे गाँव में जैसे भूचाल आ गया था। गाँव के कई लोग जोहड़ के किनारे खड़े थे।

रामजीलाल कीर्तन सभा का प्रधान था। रविदास जयन्ती पर रात-भर कीर्तन चलता था। भीड़ में वह भी खड़ा था। जब उससे रहा नहीं गया तो चिल्लाकर बोला, "अबे ओ! सुरजा... यो इन्टे कोण लाया है?"

सुरजा ने उत्साहित होकर कहा, "अजी बस, म्हारा कल्लण पक्का घर बणवा रिया है।"

रामजीलाल की आँखें फटी की फटी रह गईं। अपने भीतर उठते ईर्ष्या-द्वेष को दबाकर उसने कहा, "यो तो चोखी बात है सुरजा... पर पक्का मकान बणवाने से पहले परधानजी से तो पूछ लिया था या नहीं?"

रामजीलाल की बात तीर की तरह सुरजा के सीने में उतर गई। उसे लगा, जैसे कोई सूदखोर साहूकार सामने खड़ा धमकी दे रहा है। गुस्से पर काबू पाने का असफल प्रयास करते हुए सुरजा गुर्राया, "परधान से क्या पूछणा....?"

"फेर भी पूछ तो लेणा चाहिए था," कहकर रामजीलाल तो चला गया लेकिन सुरजा को संशय में डाल गया था।

रामजीलाल सीधा प्रधान के पहुँचा। जोहड़ पार के हालात नमक-मिर्च लगाकर उसने प्रधान बलराम सिंह के सामने रखे। बलराम सिंह ने उस वक्त कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। सिर्फ सिर हिलाकर मूँछों पर हाथ फेरता रहा। प्रधान भी घाघ था। वह रामजीलाल की फितरत से वाकिफ था। उसके चले जाने के बाद वह कुछ गमगीन-सा हो गया था। सुरजा बल्हार पक्का मकान बनवा रहा है, यह बात उसे बैचेन करने के लिए काफी थी। वैसे भी सुरजा गाँव के लिए अब उतना उपयोगी नहीं था।

यह खबर पूरे गाँव में फैल गई थी, जोहड़ पार बल्हारों का पक्का मकान बन रहा है। रेलवे की कमाई है, ईंटों का ट्रक आ गया है। सीमेंट, रेत, बजरी, सरिये आ रहे हैं। बात फैलते-फैलते इतनी फैल गई कि मकान नहीं गाँव की छाती पर हवेली बनेगी। खिड़की-दरवाजों के लिए सागौन की लकड़ी आ रही है, सुना है रंगीन संगमरमर के टाइल भी आ रहे हैं। जितने मुँह उतनी बातें।

अगले दिन सुबह ही प्रधान का आदमी आ धमका था जोहड़ के किनारे। सुरजा को मन मार के उसके साथ जाना पड़ा।

सुरजा को देखते ही बलराम सिंह चीखा, "अंटी में चार पैसे आ गए तो अपनी औकात भूल गया। बल्हारों को यहाँ इसलिए नहीं बसाया था कि हमारी छाती पर हवेली खड़ी करेंगे.... वह जमीन जिस पर तुम रहते हो, हमारे

बाप-दादों की है। जिस हाल में हो... रहते रहो... किसी को एतराज नहीं होगा। सिर उठा के खड़ा होने की कोशिश करोगे तो गाँव से बाहर कर देंगे।"

बलराम सिंह का एक-एक शब्द बुझे तीर की तरह सुरजा के जिस्म को छलनी-छलनी कर गया था। सुरजा की आँखों के सामने जिन्दगी के खट्टे-मीठे दिन नाचने लगे। जैसे कल ही की बात हो। क्या नहीं किया सुरजा ने इस गाँव के लिए, और बलराम चुनाव के दिनों में एक-एक वोट के लिए कैसे मिन्नतें करता था, तब सुरजा बल्हार नहीं, सुरजा ताऊ हो जाता था। सुरजा ने एक सर्द साँस छोड़ी। बिना कोई जवाब दिए वापस चल दिया। बलराम सिंह ने आवाज देकर रोकना चाहा। लेकिन वह रुका नहीं। बलराम सिंह की चीख अब गालियों में बदल गई, जो बाहर तक सुनाई पड़ रही थी।

घर पहुँचते ही सुरजा ने कल्लन से कहा, "तू सच कहवे था कल्लू.... यो गाँव रहणे लायक ना है।" उसकी लम्बी मूँछें गुस्से में फड़फड़ा रही थीं। आँखों के कोर भीगे हुए थे।

"बापू, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा... ये ईंटें तो कोई भी खरीद लेगा, ये मकान बनने नहीं देंगे," कल्लन ने सुरजा को समझाने की कोशिश की। लेकिन सुरजा ने भी जिद पकड़ ली थी, वह झुकेगा नहीं। जो होगा देखा जाएगा। उसने मन ही मन दोहराया।

"ना, बेट्टे, मकान तो ईब बणके रहवेगा.... जान दे दूँगा, पर यो गाँव छोड़के ना जाऊँगा," सुरजा के गहरे आत्मविश्वास से कहा।

कल्लन अजीब-सी दुविधा में फँस गया था। भावावेश में आकर वह ईंटें तो ले आया था, पर गाँव के हालात देखकर उसे डर लग रहा था। कहीं कोई बवेला न उठ खड़ा हो। पत्नी सरोज और बेटी सलोनी साथ आ गए थे। लेकिन सलोनी को यहाँ आते ही बुखार हो गया था। सरोज के पास जो दो-चार गोलियाँ थीं, वे दे दी थीं सलोनी को। लेकिन बुखार कम नहीं हुआ था। सरोज का मन घबरा

रहा था। वह लगातार कल्लन से जाने की जिद कर रही थी, "बेकार यहाँ मकान पर पैसा लगा रहे हो। सन्तो हमारे संग रहेगी। बापू को समझाओ।" लेकिन कल्लन सुरजा को समझाने में असमर्थ था। उसने सरोज से कहा, "अब, आखिरी बखत में बापू का जी दुखाना क्या ठीक होगा?" सरोज चुप हो गई थी।

सुरजा ने रात-भर जागकर ईंटों की रखवाली की थी। एक पल के लिए भी आँखें नहीं झपकी थीं सुबह होते ही वह साबिर मिस्तरी को बुलाने चल दिया था। सुरजा को डर था, कहीं कोई उसे उलटी-सीधी पट्टी न पढ़ा दे, उसे अब किसी पर भी विश्वास नहीं था।

सलोनी का बुखार कम नहीं हो रहा था। सरोज ने कल्लन से किसी डॉक्टर को बुलाने के लिए कहा। गाँव-भर में सिर्फ एक डॉक्टर था। कल्लन उसे ही बुलाने के लिए चल दिया।

कल्लन को देखते ही डॉक्टर ने मना कर दिया। सामान्य पूछताछ करके कुछ गोलियाँ पुड़िया में बांधकर दे दी। कल्लन ने बहुत मिन्नतें कीं, "डाक्टर साहब, एक बार चल के तो देख लो?" डॉक्टर टस से मस नहीं हुआ। कल्लन ने कहा, "मरीज को यहीं आपके क्लीनिक में लेकर आ जाता हूं।"

"नहीं.... यहां मत लाना... कल से मेरी दुकान ही बंद हो जाएगी। यह मत भूलो तुम बल्हार हो," डॉक्टर ने साफ-साफ चेतावनी दी, "ये दवा उसे खिला दो, ठीक हो जाएगी।"

कल्लन निराश लौट आया था। डॉक्टर ने जो गोलियां दी थीं, वे भी असरहीन थीं। बुखार से बदन तप रहा था। तेज बुखार के कारण वह लगातार बड़बड़ा रही थी। सन्तो उसकी सेवा-टहल में लगी थी। एक मिनट के लिए भी वहाँ से नहीं हटी थी। सरोज की चिन्ता बढ़ रही थी। उसके मन में तरह-तरह की शंकाएँ उठ रही थीं।

सुरजा सुबह का गया दोपहर बाद लौटा था। थका-हारा, हताश। उसे इस हाल में देखकर कल्लन ने पूछा "क्या हुआ बापू?" सुरजा ने निढाल स्वर में

कहा, 'होणा क्या था? मिस्तरी कहीं दूर रिश्तेदारी में गया है। दस-पन्द्रह दिन बाद आवेगा... बेट्टे! मुझे ना लगे इब वो आवेगा।" सुरजा ने अपने मन की हताशा जाहिर की।

"क्यों, बापू, हम तो उसकी मेहनत का पैसा उसे पेशगी दे रहे थे, फिर भी वह मुकर गया," कल्लन ने ताज्जुब जाहिर किया।

"गाँव के ही किसी ने उसे रोका होगा... साबिर ऐसा आदमी तो ना है... वह भी इनसे डर गिया दिक्खे," सुरजा ने गहरे अवसाद में डूबकर कहा। दोनों गहरी चिंता में डूब गए थे।

"सलोनी का जी कैसा है?" सुरजा ने पूछा।

"उसकी तबीयत ज्यादा ही बिगड़ गई है। अस्तपाल ले जाना पड़ेगा," कल्लन ने चिंता व्यक्त की।

'किसी झाड़-फूँकवाले कू बुलाऊँ..." कहीं कुछ ओपरा ना हो?" सुरजा ने मन की शंका जताई।

"नहीं, बापू... मैं कल सुबह ही उसे लेकर शहर जाऊंगा। बस, आज की रात ठीक-ठाक कट जाए," कल्लन के स्वर में गहरी पीड़ा भरी हुई थी। सुरजा ने उसे ढाढ़स बँधाया।

पूरी रात जागते हुए कटी थी। सलोनी की तबीयत बहुत ज्यादा बिगड़ गई थी। सुबह होते ही कल्लन ने सलोनी को पीठ पर लादा। उसके इर्द-गिर्द ठीक से कपड़ा लपेटा। सरोज साथ थी। वे धूप चढ़ने से पहले शहर पहुँच जाना चाहते थे।

शहर गाँव से लगभग आठ-दस किलोमीटर दूर था। आने-जाने का कोई साधन नहीं था। कल्लन ने गाँव के सम्पन्न चमारों से बैलगाड़ी माँगी थी, लेकिन बल्हारों को वे गाड़ी देने को तैयार नहीं थे।

पीठ पर लादकर सलोनी को ले चलना कठिन हो रहा था। वह बार-बार पीठ से नीचे की ओर लूढ़क रही थी। कल्लन की पत्नी सहारा देते हुए उसके

पीछे-पीछे चल रही थी। वे जल्दी से जल्दी शहर पहुंचना चाहते थे। लेकिन रास्ता काटे नहीं कट रहा था।

जैसे-जैसे धूप चढ़ रही थी, सलोनी का जिस्म निढाल हो रहा था। उसकी साँसे धीमी पड़ गई थीं। शहर लगभग आधा किलोमीटर दूर रह गया था। अचानक कल्लन को लगा जैसे सलोनी का भार कुछ बढ़ गया है। बुखार से तपता जिस्म ठंडा पड़ गया था। उसने सरोज से कहा, "देखो तो सलोनी ठीक तो है।"

सलोनी के शरीर में कोई स्पन्दन ही नहीं था। सरोज दहाड़ मारकर चीख पड़ी थी, "मेरी बेटी को क्या हो गया... देखो तो यह हिल क्यों नहीं रही।" उसने रोते हुए कहा।

कल्लन ने सलोनी को पीठ से उतारकर सड़क के किनारे लिटा दिया था। वह हताश ठगा-सा खड़ा था। उसके अन्तस में एक हड़कंप सी मच गई थी। दस वर्ष की जीती-जागती सलोनी उसके हाथों में ही मुर्दा जिस्म में बदल गई थी। सब कुछ आँखों के सामने घटा था। वे जोर-जोर से चीखकर रो रहे थे। रास्ता सुनसान था। उनकी चीखें सुनने वाला भी कोई दूर-दूर तक नहीं था। वे काफी देर इसी तरह बैठे रोते रहे। उन्हें सूझ ही नहीं रहा था-क्या करें। सड़क किनारे कच्चे रास्ते पर सलोनी के शव को लिये वे तड़प रहे थे। काफी देर बाद एक व्यक्ति शहर की ओर से आता दिखाई पड़ा। उन्हें उम्मीद की एक झलक दिखाई दी। शायद आनेवाला उनकी कोई मदद करे।

राहगीर क्षण-भर उनके पास रुका। लेकिन बिना कुछ कहे, आगे बढ़ गया। शायद उसने उन्हें पहचान लिया था। उसी गाँव का था। कल्लन को लगा इंसान की 'जात' ही सब कुछ है।

आखिर वे उठे और बेटी का शव कन्धों पर रखकर गाँव की ओर लौट चले। कन्धों पर जितना बोझ था, उससे कहीं ज्यादा बोझ उनके भीतर समाया हुआ था। सलोनी के बचपन की किलकारियाँ रह-रहकर उनकी स्मृतियों में कुलाँचे भर रही थीं। भारी मन से वे सलोनी का शव उठाए गाँव की ओर बढ़

रहे थे। रास्ता जैसे खत्म ही नहीं हो रहा था। जितना समय शहर के पास पहुँचने में लगा था, उससे ज्यादा गाँव पहुँचने में लग रहा था। सरोज का हाल बहुत ही चिंताजनक था। वह सिर्फ घिसट रही थी। टूट तो कल्लन भी गया था लेकिन किसी तरह स्वयं को सँभाले हुए था। सरोज अधमरी-सी हो गई थी। उससे चला नहीं जा रहा था।

सुरजा ने उन्हें दूर से ही देख लिया था। पहचाना तो उन्हें पास आने पर ही। लेकिन दूर से आती आकृतियों को देखकर उसने अंदाज लगा लिया था। वे जिस तरह सलोनी को ला रहे थे, देखकर उसका माथा ठनका। वह घर से निकलकर सड़क तक आ गया था। सलोनी का शव देखकर वह स्वयं को नहीं सँभाल पा रहा था। वह तड़प उठा था। जमीन पर दोहत्थड़ मार-मारकर वह रोने लगा था। कल्लन की आँखों से भी बेतहाशा आँसू बह रहे थे। उनका रोना-धोना सुनकर सन्तो भी आ गई थी। उन्हें ढाढ़स बँधानेवाला कोई नहीं था।

शहर से लौटने में उन्हें वैसे ही समय ज्यादा हो गया था। किसी को बुलाने के लिए भी समय नहीं था। रात-भर इंतजार करने की स्थिति में नहीं थे। कल्लन चाहता था कि शाम होने से पहले ही दाह-संस्कार हो जाए। सलोनी के शव को देखकर सरोज बार-बार बेहोश हो रही थी।

समस्या थी लकड़ियों की। दाह-संस्कार के लिए लकड़ियाँ उनके पास नहीं थीं। सुरजा और सन्तो लकड़ियों का इंतजाम करने के लिए निकल पड़े थे। उन्होंने चमारों के दरवाजों पर जाकर गुहार लगाई थी। लेकिन कोई भी मदद करने को तैयार नहीं था। घंटा-भर भटकने के बाद भी वे इतनी लकड़ी नहीं जुटा पाए थे कि ठीक से दाह-संस्कार हो सके। घर में उपले थे। सन्तो ने कहा, “लकड़ियों की जगह उपले ही ले जाओ।”

चमारों का शमशान गाँव के निकट ही था। लेकिन उसमें बल्हारों को अपने मुर्दे फूँकने की इजाजत नहीं थी। कल्लन की माँ के समय भी ऐसी ही समस्या आई थी। चमारों ने साफ मना कर दिया था। गाँव से बाहर तीन-चार किलोमीटर

दूर ले जाकर फूँकना पड़ा था। इतनी दूर सलोनी के शव को ले जाना... लकड़ी, उपले भी ले जाने थे। सुरजा और कल्लन के अलावा कोई नहीं था, जो इस कार्य में हाथ बँटा सकता था।

बल्हारों के मुर्दे को हाथ लगाने या शवयात्रा में शामिल होने गाँव का कोई भी व्यक्ति नहीं आया था। ‘जात’ उनका रास्ता रोक रही थी। कल्लन ने काफी कोशिश की थी। वह रविदास मंडल, डॉक्टर अम्बेडकर युवक सभा के लोगों से जाकर मिला था। लेकिन कोई भी साथ आने को तैयार नहीं था। किसी न किसी बहाने वे सब कन्नी काट गए थे।

रेलवे कॉलोनी में ‘अम्बेडकर जयन्ती’ के भाषण उसे याद आने लगे थे। उसने उन तमाम विचारों को झटक दिया था। गहरी वितृष्णा उसके भीतर उठ रही थी। उसे लगा, वे तमाम भाषण खोखले और बेहद बनावटी थे।

कल्लन ने सुरजा से कहा, “बापू! और देर मत करो...” उन दोनों ने कपड़े में लिपटे सलोनी के शव को उठा लिया था। स्त्रियों के शमशान जाने का रिवाज बल्हारों में नहीं था। लेकिन सन्तो और सरोज के लिए इस रिवाज को तोड़ देने के अलावा कोई और रास्ता नहीं बचा था। सन्तो ने लकड़ियों का गट्ठर सिर पर रखकर हाथ में आग और हाँडी उठा लिये थे। पीछे-पीछे सरोज उपलों से भरा टोकरा लिये चल पड़ी थी।

इस शवयात्रा को देखने के लिए चमारिनें अपनी छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आँखों के कोर भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थीं, अपने-अपने दायरे में कैद। बल्हार तो आखिर बल्हार ही थे। अपने ही नहीं, उन्हें तो दूसरों के मुर्दे भी ढोने की आदत थी....

चमारों का गाँव और उसमें एक बल्हार परिवार।

(इंडिया टुडे, 22 जुलाई, 1998)

ओमप्रकाश वाल्मीकि

महत्वपूर्ण दलित साहित्यकार। 30 जून 1950 को बरला, मुजफ्फनगर उत्तर प्रदेश में जन्म। वाल्मीकि ने अपने लेखन से दलित साहित्य को बहुत समृद्ध किया। आत्मकथा, कहानियां, कविता, आलोचना लिखकर दलित साहित्य को एक ठोस पहचान दिलवाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। दलित विमर्श के भीतर कई नए सवाल खड़े करने का श्रेय इन्हें जाता है। दलित साहित्य में आन्तरिक जातिवाद को लेकर सबसे पहले सवाल इन्होंने ही उठाया। 'जूठन' आत्मकथा हिन्दी दलित साहित्य की शुरूआती आत्मकथा रही जिसने अपार प्रसिद्धि हासिल की। 'जूठन' के पंजाबी, अंग्रेजी, स्वीडिश, जर्मनी, तमिल, मलयालम, कन्नड़ सहित तमाम भाषाओं में अनुवाद हुए। 'सलाम' और 'घुसपैठिये' कहानी संग्रह प्रकाशित। 'सदियों का संताप', 'बस्सः बहुत हो चुका' और 'अब और नहीं' कविता संग्रह के अतिरिक्त 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'सफाई देवता' तथा 'मुख्य धारा और दलित साहित्य' आलोचना की किताबें भी प्रकाशित हुईं। फिलहाल उपन्यास लिखने में व्यस्त हैं।

सम्पर्क :- सी-5/2, आर्डनैंस फैक्टरी इस्टेट,
देहरादून - 248008
मो. - 09412319034

नालन्दा पर गिद्ध

देवेन्द्र

बनारस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष आचार्य चूड़ामणि प्राचीन परम्परा के संरचनावादी समीक्षक थे। मनु महाराज के वर्ण विभाजन और स्त्री संबंधी आग्रह आदि में उनकी अटूट आस्था थी। अनेक विश्वविद्यालयों की, पाठ्यक्रम समिति के प्रभावी सदस्य, थीसिसों के परीक्षक, हिन्दी के प्रसार और विकास के लिए स्थापित अनेक संस्थाओं के संरक्षक और खुद अपने विश्वविद्यालय में 'डीन ऑफ स्टूडेन्ट्स' जैसे महत्वपूर्ण पदों की जिम्मेवारियां संभाले हुए व्यस्त रहा करते थे। एक कैबिनेट मंत्री की थीसिस उन्होंने खुद लिखायी थी। शहर के मेयर और शराब के ठेकेदार मनोहर जायसवाल की पुत्रवधु उन्हीं के निर्देशन में शोध कर रही थीं। उनका व्यक्तित्व एक ऐसे वटवृक्ष की तरह था जिसने अपनी मूल जमीन की सारी उर्वराशक्ति को सोखकर उसे बन्ध्या कर दिया था। जिसके कोटरों में साँप, चमगादड़, नेवले और गिरगिट सुख चैन से रह रहे थे। जिसकी उन्नत शाखाओं पर बैठे गिद्ध हर क्षण मृत्यु की टोह में दूर टकटकी लगाये रहते। विश्वविद्यालय में नियम था कि कोई प्रोफेसर दो साल से ज्यादा विभाागाध्यक्ष के पद पर नहीं रहेगा। लेकिन आचार्य चूड़ामणि के दरबार में सारे नियम-कानून पायदान की तरह बिछे रहते। कीचड़ और गंदगी पोंछने के काम आते थे सारे नियम और कानून।

सुबहे-बनारस! पंचगंगाघाट की सीढ़ियों पर हो या ठठेरी बाजार की सँकरी गलियों में चाहे जहाँ हो। उसके अस्त का उत्सव आचार्य चूड़ामणि के दरबार में

ही धूमधाम से सम्पन्न होता। आर एस एस और विद्यार्थी परिषद के नेता जमा होते। विश्वविद्यालय के एक-एक विभाग और एक-एक व्यक्ति के बारे में वे सारी सूचनाएं सौंपकर मंत्रणादान पाया करते थे। आचार्य उतने बड़े संगठन के गॉडफादर थे। कहा जाता है कि विश्वविद्यालय के उस सिंहपीठ पर रहते हुए चूड़ामणि जी ने कश्मीर से कन्याकुमारी और असम से गुजरात तक के हिन्दी विभागों को अपने प्रभामंडल से आच्छादित कर रखा था। विभागाध्यक्षों और प्रोफेसरों के अलावा नये लेक्चरर और चपरासियों तक की नियुक्ति उन्हीं की मरजी से होती थी। "तेरी सत्ता के बिना हे प्रभु मंगल मूल, पत्ता तक हिलता नहीं...."

वे अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्ष थे। तब 'ग्लासनोस्त' और 'पेरोस्त्रोइका' जैसी घटनाएं सोवियत रूस में नहीं हुई थीं। 'पार्टी हेडक्वार्टर' को ध्वस्त करने की सांस्कृतिक क्रान्ति की अपील का उत्साह था। पद, प्रतिष्ठा, उम्र और अनुभव आदि की दुहाई देकर कौन इतिहास का रास्ता रोक रहा है? उसकी खोज करो!

विश्वविद्यालयों में मार्क्सवादी विचारधारा और वामपंथी अश्वमेध का घोड़ा कालिदास, भवभूति, तुलसी और बिहारी के बाद मैथिलीशरण गुप्त तक को रौंदता, किसी कालातीत सौन्दर्यशास्त्र के लिए भागता चला जा रहा था। अस्सी के दशक के उन शुरूआती वर्षों में आचार्य चूड़ामणि जितना क्षुब्ध, दुःखी, उदास और आहत रहा करते थे उतना पहले कभी नहीं। रूखे चेहरे, बढ़ी दाढ़ी, धँसी आँखों पर चश्मा लगाये बड़े-छोटे का सारा लिहाज छोड़कर बहस करते, सिगरेट पीते इस नयी वामपन्थी प्रजाति को देखकर वे वाकई बहुत खिन्न रहा करते थे। साम और दाम! एक दिन जब उन्होंने जलेश्वर से कहा कि तुम बहुत योग्य और होनहार लड़के हो तो वह बेशर्मों की तरह हँसने लगा- "लेकिन मुझे नौकरी नहीं करनी है... और आप मुझे बेवजह दाना डाल रहे हैं। मैं यहाँ पार्टी का काम करने आया हूँ।"

वह महेश्वर की पार्टी का सक्रिय और उसी का छोटा भाई था। महेश्वर के

बारे में किंवदन्ती थी कि एक बार नेपाल के एक पहाड़ी ढाबे पर जाड़े की सुबह गरम-गरम जलेबी और दही खाते हुए वह एक बूढ़े आदमी से बे-तरह उलझ गया। बूढ़ा आदमी बार-बार कुछ कहना चाहता था, लेकिन उसे इसका अवसर नहीं मिल रहा था। महेश्वर ने उसे बताया कि थोड़ा गाँवों में लोगों के बीच जाकर आप उनके अनुभवों से भी सीखें। बूढ़ा थक-हार कर उठा और चला गया। बाद में ढाबे के नौकर ने बताया कि ये चीन के चेयरमैन माओ-त्से-तुंग थे। आगे महेश्वर ने जो कुछ कहा और किया वह किवदन्ती में नहीं है। जलेश्वर उसी महेश्वर का छोटा भाई था। दिन में नुक्कड़ नाटक करता। कविताएँ रचता और रात भर जागकर शहर की दीवारों पर नारे लिखा करता था। विश्वविद्यालय में उसकी अपनी मण्डली थी, जो हमेशा चुनौती देती थी। साहित्य, कला, संस्कृति और इतिहास पर बहस करती थी। और अंत में वही करती और कहती थी जो महेश्वर उसे चिट्ठी में लिखकर बताता था।

आचार्य चूड़ामणि जी के योग्य शिष्य सुबोध मिसिर यूँ तो शान्त स्वभाव के गंभीर व्यक्ति थे। लेकिन अपने गुरुदेव के अपमान और क्षोभ को देखकर उन्होंने चुपचाप कमर कसी। फिर तो मार्क्सवादी अश्वमेध का जो घोड़ा सबको रौंदता चला जा रहा था, एक दिन उसकी लगाम पकड़ ली गयी। शास्त्रार्थ की कई परम्पराएँ शुरू हुईं। मशीनी नतीजे और जड़ आस्थाएँ एक-दूसरे से टकराने लगीं। एक तरफ कबीर, प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध थे तो दूसरी ओर तुलसीदास, आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी। जाहिलों और जातिवादियों का सगठन आर.एस.एस. सुबोध मिसिर जैसे जहीन, पढ़ाकू और संयमित व्यक्ति का संसर्ग पाकर नयी जीवनी शक्ति से भर गया। अपनी वेशभूषा और रहन-सहन में वे शुद्ध रूप से देहाती थे। कुर्ता, पाजामा और चप्पल के अलावा कभी-कभार उनके कन्धे पर सफेद गमछा पड़ा होता था। अकसर सामने वाला उन्हें देखकर धोखा खा जाता। सुर्ती खाने के अलावा और कोई व्यसन उन्हें छू न सका था। स्त्रियों के बारे में उनके वही विचार थे जो कवियों के बारे में प्लेटों

के। कल्पनाओं के फितूर और वाहियात के सपनों में उनकी कोई रुचि न थी। उनका ज्यादातर समय पुस्तकालय में बीतता था। और शाम को नियमित गुरुदेव आचार्य चूड़ामणि के दरबार में जाकर चरण-स्पर्श करते। उन दिनों गुरुदेव का इकलौता श्रवणकुमार एम.ए.अन्तिम वर्ष हिन्दी से कर रहा था। कभी फुर्सत में सुबोध मिसिर उसे घंटों बढ़ाया करते। उन्हें इस बात का मन ही मन अफसोस था कि गुरुदेव का पुत्र होनहार नहीं है। बल्कि एकदम मूर्ख और बोदा।

वह बनारस विश्वविद्यालय का नवजागरण काल था। नये-नये लेक्चरर, वृद्ध रीडर और प्रोफेसर से लेकर क्लर्क शर्माजी और चपरासी रामदीन तक, सबके साले-साली, बेटे, बहू, दामाद और जीजा-जीजी तक हिन्दी से एम.ए., पी.एच. डी. कर रहे थे। परीक्षाओं से एक रात पहिले पान की दुकानों पर पर्चे वितरित होने लगते। जिन्हें क्रमवार स्वर और व्यंजन का बोध नहीं था वे पिछले सारे रिकार्ड तोड़कर धड़ाधड़ प्रथम श्रेणी पास होते चले जा रहे थे। 'ग्लोब्लाइजेशन' से बहुत पहले ही एशिया का यह सबसे बड़ा विश्वविद्यालय गाँव की शक्ल ले रहा था। पड़ोसी देशों से बड़ा बजट लेकर मानव संसाधन मंत्रालय, यू.जी.सी. और सी.एस.आई.आर. का संचित खजाना यहाँ की गन्दी नालियों में औंधे मुँह गिरा पड़ा था। रामनाम की लूट है, लूट सके तो लूट...

अध्यापक संघ का चुनाव होने वाला था। ब्राह्मण, भूमिहार राजपूत और कुर्मी अपनी-अपनी दुकानें सजा रहे थे। उछल-कूद, मारपीट और हाथापाई। इस युद्धभूमि में सब कुछ जायज था। आचार्य चूड़ामणि राजपूत लॉबी के महत्वपूर्ण स्तंभ थे। गुंडावाहिनियाँ उनका चरण-रज लेकर धन्य हुआ करती थीं। भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद की भावना जगाने वाली एक संस्था के ब्राह्मण वर्चस्व को खत्म करके उन्होंने उसे अपने मातहत कर लिया था।

कुर्ता-पाजामा पहनने वाले सुबोध मिसिर एक गरीब किसान के होनहार बेटे थे। बचपन में ही उन्होंने शतात्माओं के निर्वाणोपरांत जिस स्वर्गलोक की कल्पना कर रखी थी, और जो उन्हें धवल रूई के बादलों पर सुनहले द्वीप की तरह

तैरता हुआ दिखायी देता था, वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सारे देवतागण अनवरत आत्मरति के शिकार अपनी ही वासनाओं में हस्तमैथुन किये जा रहे हैं। चुनाव पूर्व अध्यापक संघ की मीटिंग चल रही थी। झाँव-झाँव, काँव-काँव। लोग क्या बोल रहे हैं? गोबर और गू में लिथड़े-पड़े शब्दों की शक्ल खो गयी है। अचानक कॉमर्स के एक मोटे मुस्टंड भूमिहार प्रोफेसर ने भौतिक विज्ञान के दूसरे कर्मी प्रोफेसर को उठाकर मंच पर ही दे पटका। लातों और घूंसों के अनवरत प्रवाह में नीचे वाले ने ऊपर वाले का कान दाँत से काट लिया। खून की धारा और चीख के बीच एक दारोगा ने डंडा फटकारा- "आप लोग लड़कों को क्या पढ़ाओगे?" उसने दोनों को धकियाकर एक-दूसरे से अलग किया। बनारस विश्वविद्यालय का यह चलता फिरता यथार्थ पौराणिक आख्यानों और मिथक कथाओं से भी ज्यादा अविश्वसनीय और लोमहर्षक था।

निरक्षरता और अज्ञानता के अँधेरे में डूबे गाँवों के जो लोग शताब्दियों से एक ही अन्न खाते चले आ रहे हैं, और जो लोग धारासार बरसात की काली अँधेरी रात में साँपों, बिच्छुओं और गोहों से पटी पड़ी मेड़ पर भुकभुकाती लालटेनों के सहारे बचते-बचाते फावड़ा लेकर नाली बाँधने चले जा रहे हैं। जो लोग क्वार की जहरीली धूप में बैलों के साथ सिर झुकाये खेत जोत रहे हैं। जाड़े की ओस और ठंड में काँपते-ठिठुरते जो लोग सिवान के निर्जन सन्नाटे में महीनों से सारी रात बैठकर सिर्फ बिजली की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सारे लोगों के जीवन में जातिसूचक शब्द सत्ती मैया के चौरे की तरह निर्जीव कोने-अँतड़े में पड़ा हुआ है। शादी, समारोह, तीज, त्योहार पर वे वहाँ चढ़ावा चढ़ाते और फिर भूल जाते। वही जातिसूचक शब्द सभ्यता और आधुनिकता का समारोह मनाने वाले विद्वानों की इस बस्ती का मूल मन्त्र बना हुआ है। चारों और ब्राह्मण राजपूतों को, राजपूत कायस्थों और भूमिहारों को, भूमिहार कुर्मियों को गालियाँ दे रहे हैं। इस बार अध्यापक संघ के चुनाव में कुर्मी अपना पक्ष तय नहीं कर पाये। इधर मन्दिर का महन्थ, जो विज्ञान संकाय का डीन भी है, उसने पूर्वांचल

के सबसे बड़े माफिया डॉन, विधायक, नर हत्याओं के कुख्यात अपराधी और ब्राह्मण सभा के अध्यक्ष की मदद से भूमिहारों से तालमेल कर लिया। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और महामंत्री तीनों सीटों पर ब्राह्मण प्रत्याशियों की जीत से राजपूत लॉबी को लकवा मार गया। मन्दिर के महन्थ के यहाँ मिठाइयों का दौर शाम से चल रहा था। भूमिहार विशेष रूप में आमन्त्रित थे। विजयोल्लास के कहकहे गूँज रहे थे।

उधर आचार्य चूड़ामणि के दरबार में एक लाश रखी हुई थी। इतिहास की लाश। सारे क्षत्रप शोकमग्न सिर झुकाये बैठे थे। पराजय और अपमान से आहत। किंकर्तव्यविमूढ़ संघ के नगर संचालक महातिम सिंह ने आर्य पराभव के मूल पर टिप्पणी की और फुसफुसाये – "मुसलमानों से भी खतरनाक होते हैं ये सँपोले! कुछ न कुछ जरूर करना पड़ेगा इस बार।" वे लंबी साँस खींच कर उठे और शाम के धुँधलके में कहीं खो गये।

ठीक रात के बारह बजे जब लोग महन्थ जी के यहाँ से लौटकर पान की दुकान पर खड़े हुए ही थे कि राजपूतों की गुंडावाहिनी ने हॉकी और लोहे की राडों से उन पर हमला कर दिया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि ब्राह्मणों के साथ कहीं कोई भूमिहार न पिट जाय। वरना, यह समीकरण स्थायी होकर दूर तक नुकसान करेगा।

थोड़ी देर बाद गुंडों की तलाश में पुलिस और पी.ए.सी. का भारी जत्था हॉस्टल में घुसा। उस समय सारी घटना से बेखबर लड़कों की समझ में कुछ नहीं आया। पी.ए.सी. जब छात्रवासों में जाती है तो उसका ध्यान घड़ी, पर्स और रुपये, पैसों पर ज्यादा होता है। लड़कों ने जिन्दाबाद-मुर्दाबाद करना शुरू किया। लाठी चार्ज होने लगा। शहर कोतवाल ब्राह्मण था। जिले का सी.जे.एम. भी ब्राह्मण था। और वह भी, जो होना चाहता था किसी गली का शोहदा, किसी नुक्कड़ का गुंडा या किसी थाने का दारोगा, लेकिन दुर्भाग्य से प्रोफेसर बना, चीफ प्राक्टर भी ब्राह्मण था। वह गुस्से से थरथर काँपते

हुए पी.ए.सी. वालों को ललकार रहा था। एक जवान के सिर पर पत्थर लगा। उसने दौड़ाकर लड़के को पकड़ा और तिमंजिले पर ले जाकर सीधे उठाया और नीचे फेंक दिया।

महीने भर बाद होने वाले छात्र-संघ के चुनाव में सारा समीकरण बदलने लगा। वामपंथी प्रत्याशी विजयानंद शाही मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा का सशक्त दावेदार बनकर उभर रहा था। पिता भ्रष्टाचार के मामले में सस्पेंड, सिंचाई विभाग में जूनियर इंजीनियर थे। शहर में मकान था। पैसे की चिन्ता नहीं थी। आचार्य चूड़ामणि ने सोचा कि 'विचारधाराएँ तो परिवर्तनशील होती हैं। उम्र और परिस्थिति से निर्धारित। मूल सत्य तो जाति है।' आर.एस.एस. की राजपूत और भूमिहार लॉबी ने विद्यार्थी परिषद के शिवानन्द ओझा के खिलाफ अध्यक्ष पद पर शाही का समर्थन कर दिया। वामपन्थ की शानदार विजय दर्ज हुई। उसी पैनल का दूसरा हरिजन प्रत्याशी मात्र पचासी वोट पाकर वीरान और बेजान पसरी सड़क पर अकेले क्रान्तिवाद जिन्दाबाद चिल्लाता चला जा रहा था। जब थक गया और मुँह से झाग आने लगा तो जगजीवनराम छात्रावास के अपने कमरे में जाकर भूखे पेट सो गया।

उस समय आचार्य चूड़ामणि के रिटायर होने मे दो वर्ष और बाकी थे। इसलिए जब उनको 'माइल्ड हार्ट अटैक' हुआ तो लोगों ने उसकी तरह-तरह की व्याख्या की। किसी ने बताया कि दरअसल, यह हार्ट अटैक महज एक नाटक है। अध्यापक संघ के चुनाव के बाद जिन ब्राह्मण प्रोफेसरों को मारा गया है उसके लिए कुलपति ने हाईकोर्ट के एक रिटायर जज से जाँच शुरू करा दी है। वह उसी जाँच समिति से बचने का बहाना है।

यह बात सच है या नहीं। लेकिन यह जरूर है कि हफ्ते भर पहले जब इस जाँच समिति की घोषणा की गयी थी तो आचार्य चूड़ामणि की प्रतिक्रिया यही थी कि – "कुलपति ब्राह्मण। हाईकोर्ट का रिटायर जज ब्राह्मण! इसमें जाँच कराने से क्या? एक तरफ फैसला होगा...

"इसमें होगा क्या गुरुदेव?" - पास बैठे एक लड़के ने, जो विश्वविद्यालय में ठेके लेता है, पूछा।

आचार्य चूड़ामणि मुस्कराये- "एक रजिस्टर गन्दा होगा। जज साहब रिटायर हो चुके हैं। दस-बीस बार ए.सी. का किराया और भोजन-पानी का कुछ पैसा मिल जायेगा।" मसनद पर थोड़ा उठंगकर उन्होंने दीवान के नीचे से पीकदान खींचा और कंठ तक भर आयी घृणा को पिच्च से थूक दिया।

कुछ लोग इस हार्ट अटैक की व्याख्या बिलकुल दूसरे ढंग से कर रहे थे। उन लोगों का कहना था कि हृदयहीन लोगों को हार्ट अटैक कैसे हो सकता है? हो न हो, यह भदैनी की उस हवेली को हारने का दुःख है जिसमें पच्चीस रुपया किराया देकर आचार्य पिछले पैंतीस सालों से रह रहे हैं। उनका अपना मकान, पी.डब्लू.डी. विभाग के बतौर ऑफिस, अठारह हजार रुपये किराया पर उठा है। अब अगर उन्हें अपने मकान में जाना पड़ा तो हर महीने अठारह हजार रुपये का घाटा।

हालाँकि इस बात में भी कुछ दम नहीं है। क्योंकि आचार्य के खिलाफ फैसला सिर्फ निचली अदालत से हुआ है। ऊपर की अदालत ने 'स्टे' दे दिया हैं इसके बाद तो हाईकोर्ट है। फिर सुप्रीम कोर्ट। तब तक आचार्य की तीन पीढ़ियाँ इसमें गुजर जायेंगी।

इन सब बातों के अलावा, कुछ लोग जो ज्यादा ही कृतघ्न बुद्धि के होते हैं और बेवजह हर समय हर किसी की दीवाल में छेद करके वहीं चौबीस घंटे आँख गड़ाये रहते हैं, हर छोटी-बड़ी घटना में जो लोग पुत्रों, बहुओं और बेटियों को खींच लाते हैं, उन सबका कहना था कि 'रिटायरमेंट' नजदीक है। बेटा एम.ए. में है। कुलपति पिछले दस सालों से विश्वविद्यालय के रुके इंटरव्यू को रात-दिन कराने के लिए आमादा है। अगर इस समय इंटरव्यू हो गया तो मेरे श्रवणकुमार का क्या होगा? फिर तो अगले दस साल तक इंटरव्यू नहीं होगा। दरअसल, यह हार्टअटैक श्रवणकुमार की चिन्ता से है।

ले-देकर यही बात सत्य के ज्यादा करीब हो सकती थी। क्योंकि अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में भर्ती आचार्य को जैसे ही यह बात पता लगी कि विभाग में इंटरव्यू की तारीख तय हो गयी है, उन्होंने डॉक्टर के मना करने के बावजूद अपने को पूर्णतया स्वस्थ घोषित किया और रिक्शा पकड़कर सीधे विभाग के लिए चल पड़े।

उस दिन विभाग में अफरा-तफरी मची थी। लोग अनुमान लगा रहे थे कि अभी तो आचार्य चूड़ामणि हार्ट अटैक के मरीज होकर अस्पताल में भर्ती हैं, इसलिए नंबर दो के रीडर आचार्य भवेश पाण्डेय जी अध्यक्ष की हैसियत से इंटरव्यू बोर्ड में बैठेंगे। - "लेकिन वे कैसे बैठ सकते हैं" - किसी ने शंका जाहिर की - "वे तो खुद ही प्रोफेसर पद के प्रत्याशी हैं, और दूसरे उनकी पुत्रवधू लेक्चररशिप के लिए अप्लिकेंट है।" दूसरे ने प्रतिवाद किया - "हो सकता है वे रीडर वाले इंटरव्यू बोर्ड में बैठें।"

विभाग में ज्यादातर नये लेक्चरर जो दिन में दो बजे आते और विभाग से दूसरे की डाक उठाकर चुपचाप चले जाते, वे सारे लोग आज सुबह दस बजे से ही आने शुरू हो गए थे। भवेश पांडेय के आसपास जमा ये लोग उनके मफलर और टोपी और सुन्दर स्वास्थ्य के बारे में बातें कर रहे थे। भवेश पाण्डेय उस समय आचार्य चूड़ामणि के हार्ट अटैक, इंटरव्यू का घोषित होना आदि कई ईश्वरीय चमत्कारों पर अभिभूत गुरुगंभीर मुद्रा बना कर खड़े थे। रीडर के प्रत्याशी एक लेक्चरर ने कहा- "गुरुदेव! आपने एम.ए. में जो कामायनी की व्याख्या पढ़ायी थी वह तो आज तक नहीं भूलती।"

पांडेय जी मुस्कराये - "अरे भाई! मैं तो बीस सालों से उद्धव शतक ही पढ़ा रहा हूँ।"

लोग हँस पड़े।

"पन्द्रह दिन से सूरज नहीं निकला" - पांडेय जी ने मौसम पर टिप्पणी की - "डीन सिनहा जी के घर जाना है" - अपने भविष्य से आशंकित वह सड़क की ओर देख रहे थे - "आजकल ठंड के मारे रिक्शे भी नहीं निकलते।"

कामर्स विभाग के सामने दो लड़कियाँ रिक्शे से उतर रही थीं – "हम अभी रिक्शा ला रहे हैं सर!" चपरासी रामदीन हाथ बाँधे देख रहा है, तीन लेक्चरर रिक्शे वाले को बुलाने के लिए दौड़ पड़े।

ठीक उसी समय क्लर्क शर्मा जी ने चहककर इशारा किया – "उधर सामने रिक्शा आ रहा है।"

सब लोगों ने देखा, धोती और कुर्ता। कुर्ते पर बंद गले की कोट। सिर पर फर की टोपी और कन्धे पर कश्मीरी शाल। आचार्य चूड़ामणि रिक्शे पर चले आ रहे थे। अब तक जो लोग पाण्डेय जी को घेरकर खड़े थे उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। किसी को बहुत जोर की पेशाब लगी तो किसी को ऊपर विभाग में काम पड़ गया। जो तीन लेक्चरर कामर्स विभाग की ओर गये थे, वे रिक्शे वाले को वहीं छोड़कर कैफेटेरिया में घुस गये। मैदान में अकेले खड़े रह गये भवेश पाण्डेय। बाघ के सामने सहमी नीलगाय। वह रिक्शे पर बैठे आचार्य को देख रहे थे। जैसे कोई कालपुरुष चला आ रहा हो।

– "क्या बात है पाण्डेय जी!" चूड़ामणि ने रिक्शे से उतरते हुए पूछा, "आप लोग क्लास छोड़कर यहाँ खड़े हैं?"

"आपका स्वास्थ्य कैसा है सर?" पाण्डेय जी ने पूछा और सफाई दी, "डीन सिनहा जी ने सारे विभागाध्यक्षों की मीटिंग बुला रखी है। वहीं जा रहा था। आप नहीं थे सर, मुझे बहुत चिन्ता थी।"

"सिनहा को और कोई काम नहीं रह गया है। बैठे-बैठे राजनीति छांटता है। आपको वहाँ जाना है। जाइये, अपना क्लास लीजिये!" चूड़ामणि जी ने हिकारत से कहा – "क्या मवेशीखाना बना रखा है विभाग को।" उन्होंने शर्मा जी को बुलाकर कहा, "वहाँ से लड़कों को हटाइये और कहिये, अपने-अपने क्लास में जायें।"

"और सुनिये, आप डीन ऑफिस चले जाइये। मीटिंग का एजेन्डा ले आइये। और बता दीजिएगा कि यहाँ सबकी व्यस्तताएँ हैं। समय पूछकर मीटिंग रखा करें।"

"सर, सुना है कि इंटरव्यू होने वाला है" – शर्मा ने बताया। जैसे सुस्वादु भोजन के बीच दाँतों में काई कंकड़ फंस जाय। सारा जायका खराब। बुरा सा मुँह बनाकर चूड़ामणि जी ने शर्मा को देखा – "कैसा इंटरव्यू!"

"सर! यहाँ सारे अध्यापक सुबह से ही पाण्डेय जी को घेर रखे हैं। हफ्ते भर से कोई क्लास नहीं। सुना है डीन ने पाण्डेय जी को प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष बनाने का आश्वासन दे रखा है।" – शर्मा विभाग में आचार्य चुड़ामणि जी का खास आदमी है।

तब तक एक लड़का आया। उसके साथ विश्वविद्यालय छात्र संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष और अब आर.एस.एस. के प्रान्तीय संयोजक समर सिंह भी थे। दोनों ने आचार्य का चरण स्पर्श किया। "कहिये, संगठन का काम कैसा चल रहा है?" आचार्य ने पूछा।

"वहाँ तो ठीक है सर! लेकिन आप लोगों ने कम्युनिस्ट, वह भी नक्सलाइट प्रत्याशी को जीत जाने दिया?" समर सिंह ने चिन्ता जाहिर की।

"तो क्या करते! यहाँ बाभन जिता देते? हम बचे रहेंगे तभी विचारधाराएँ रहेंगी।" – चूड़ामणि जी ने उनकी बात को कोई तवज्जो न देते हुए पूछा – "कहिये, कोई काम है?"

"सर! इनका पी.एच.डी. में रजिस्ट्रेशन कराना है।" समर सिंह ने साथ वाले लड़के की ओर इशारा किया।

"आपने और किसी से बात नहीं की?" आचार्य रजिस्ट्रेशन फार्म को पढ़ रहे थे – विषय, 'हिन्दी कवियों का औषधि ज्ञान।'

"इस विषय का क्या मतलब?" – उन्होंने लड़के से पूछा।

"सर, आयुर्वेद विभाग में शोध के लिए 'स्कालरशिप' है। आप चाहेंगे तो मिल जायेगी।" लड़का मुस्करा रहा था।

"होशियार लग रहे हो, क्या नाम है।"

"प्रताप सिंह सर!"

"सिंह!" आचार्य ने देखा - छह फुट का शरीर। स्वास्थ्य अच्छा है। मुस्कराये - "कुर्मी तो नहीं हो?"

"नहीं सर! खाँटी बलिया का हूँ।"

आचार्य ने फार्म पर हस्ताक्षर कर दिये।

ऊपर विभागाध्यक्ष का कमरा झाड़-पोंछकर साफ कर दिया गया। आचार्य चूड़ामणि ने उन लोगों को विदा किया और ऊपर जाकर कुर्सी पर बैठे। "सिंहपीठ पर सिंह ही शोभा देता है" क्लर्क शर्मा जी डाक लेकर आ गये थे और बता रहे थे- "पाण्डेय तो इस पर बैठकर चारों ओर नाचता और लिबिर-लिबिर करता है।"

"शर्मा जी, आपको कुछ पता है इंटरव्यू की तारीख क्या है?... और सुनिये, पहले दरवाजा बंद कीजिए।" - आचार्य ने आज्ञा दी।

भीतर ही भीतर मन्त्रणा हुई। उन्होंने किसी को फोन किया। इंटरव्यू से दो दिन पहले 'स्टे आर्डर' के लिए आश्वस्त हो गए। शर्मा जी उन्हें मुग्ध नायिका की तरह देखकर मुस्कराये। आचार्य का ठहाका गूँज उठा। बाहर कुछ अध्यापक कान रोपे रेंगे रहे थे। कमरे से निकल रहे शर्मा जी को उन्होंने दण्डवत किया।

"आचार्य की तबीयत कैसी है शर्मा जी?"

कोढ़ में खाज। जाड़े में बारिश। माहौल गरम है। कान और मुँह मफलर से बाँधे प्रेत अपनी-अपनी कब्रों से बाहर निकल आये हैं। सुबोध मिसिर ने महसूस किया कि जिन वामपन्थियों से उनका हुक्का-पानी बंद था, उनसे भी नमस्कार-बंदगी होने लगी हैं। फिजाएँ रंग बदल रही हैं। हवाओं में हिन्दी विभाग का इंटरव्यू गूँज

रहा हैं सहअस्तित्व और समागम के इस दौर में वे आचार्य तक पहुँचने की मजबूत सीढ़ी बन सकते हैं। वामपंथी विचारों वाले रायसाहब के साढू की मौसी के बड़े वाले दामाद की छोटी वाली बिटिया उसी गाँव में ब्याही गयी है जहाँ डीन सिनहा जी की ननिहाल है। वे उधर से आश्वस्त हैं। लेकिन इस चूड़ामणि का कोई भरोसा नहीं। जाति पहली शर्त है लेकिन सुबोध मिसिर को तो दत्तक पुत्र की तरह मानता है। अब अपना काम तो प्रयास करना है। वे सुबोध मिसिर को बता रहे थे - "आप ध्यान दें तो पायेंगे कि हमारी भारतीय संस्कृति में वाद-विवाद की लम्बी परम्परा रही है, आचार्यों का अपने शिष्यों तक से वाद-विवाद होता रहा है। गार्गी और याज्ञवल्क्य की परम्परा वाले इस देश ने विरोधी विचारों को व्यक्तिगत हित-अहित, लाभ-हानि, जीवन-मरण से ऊपर उठकर सम्मान दिया है। अब देखिये तो एक तरह से यह पूरा विभाग आचार्य जी का ही पाला-पोसा हुआ है। उनके सोचने का अपना ढंग है। और मैं तो कहता हूं कि उसकी एक बहुत लम्बी और समृद्ध परम्परा रही है। जहाँ तक उनके निजी व्यक्तित्व का प्रश्न है तो मैं तो हमेशा से कहता रहा हूँ..." - इस इंटरव्यू में राय साहब का भतीजा लेक्चरर और वे खुद रीडर पद के प्रत्याशी हैं। - "अच्छा तो मैं चल रहा हूँ" उन्होंने सुबोध मिसिर से कहा - "आप उनके खास और योग्य विद्यार्थी हैं। अरे भाई, अब तक आपको अपनी थीसिस पूरी कर लेनी चाहिए थी। खैर, अभी तो जो लोग रीडर हो जायेंगे, उनकी और कई जगहें खाली होंगी आप गुरुदेव को मेरा प्रणाम कह दीजिएगा।"

नीचीबाग के चौधरी प्रकाशन से चले आ रहे उपाध्याय जी ने अपनी खटारा सायकिल पर पैंडिल मारते हुए सोचा कि यह तो रिक्शे से भी भारी चल रही है। विभाग तक पहुँचने में पसीने-पसीने हो रहे थे। साँस दमा के मरीज की तरह चल रही है। जाते हुए राय साहब को देखकर उन्होंने भद्दी सी गाली दी और सुबोध मिसिर के पास रुककर बोले- "एक तो भुइंहार, दूसरे जनवादी। का कह रहा था हो सुबोध? अभी कल तक तो चूड़ामणि जी को गाली देता था। क्लास

में लड़कों से कहता था कि उपन्यास के विकास में प्रेमचंद और यशपाल के साथ गुलशन नन्दा और राणू का नाम लिख रखा है भुइंहारी छाँटता है। ससुर कुछ तुम भी तो लिखो! कि बस मुक्तिबोध का गू चाटते रहोगे।" उन्होंने घुणा से थूका और मतलब की बात करने लगे- 'सन्त साहित्य का सामाजिक योगदान' मेरी पुस्तक परसों तक छपकर आ जायेगी और कातर हँसी हँसते हुए बताने लगे- "सारा पैसा मकान बनवाने में लग गया था। बहू का मंगलसूत्र पाँच हजार में बेचकर यह किताब छपवा रहा हूँ। चिन्ता के मारे नींद नहीं आती। तीन रात जागकर सोचता रहा। आज जाकर फाइनल किया। मैंने यह पुस्तक आचार्य जी की पत्नी को समर्पित कर दिया है। आगे भगवान की मर्जी। प्रकाशक साले तो लूट रहे हैं। कागज और छपाई का सारा पैसा देना पड़ा है।"

शान्तिकाल के बीस वर्षों में इस विभाग से सिर्फ तीन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ था। इंटरव्यू घोषित होने के बाद से यह पैंतालीसवीं पुस्तक की सूचना थी। जनार्दन प्रसाद ने अपने कई शेयर जल्दी-जल्दी बेचे। एन.एस.सी. की रकम भुनायी। वे प्रोफेसर पद के प्रत्याशी हैं। ऐसा सुना जाता है कि उनके मकान के भीतर एक बहुत बड़ा हाल है। जहाँ अकसर उनके स्टूडेंट्स दूसरे विश्वविद्यालयों से आयी कापियाँ जाँचते रहते हैं, वहीं बैठकर आजकल पाँच विद्यार्थी रात-दिन पुस्तकें तैयार कर रहे हैं। पुस्तकालय की किताबों के पन्ने नोच-नोच कर भारतीय काव्यशास्त्र, समकालीन साहित्य की भूमिका, रीतिकाल का कलात्मक योगदान, आदि-आदि ग्रन्थ तैयार किये जा रहे हैं।

कबीरपन्थी गुह्यसाधना और उलटबाँसी के मर्मज्ञ रीडर आचार्य महादेव मुनि ने देखा कि पशुचिकित्सालय के गर्भाधान केंद्र पर भीड़ लगी है। बनियान और तहमत लपेटे एक हट्टा-कट्टा आदमी गाय के नवजात बछड़े का कान पकड़े, पुचकारता चला जा रहा है। उन्होंने आँखों पर जोर लगाकर देखा-लग रहा है रमकरना है। दोनों में ननद और भौजाई का रिश्ता। उन्होंने पुकार लगायी-"पड़वे के साथ कहाँ जा रहे हो?"

सुबह-सुबह बहिर बकलोल ने टोका। कैसे बीतेगा पूरा दिन? उन्होंने जवाब दिया- "कान तो पहले ही गायब था। अंधे भी हो गये क्या? ससुर बछड़े को पड़वा बोल रहे हो?"

"मैं तुमसे नहीं, बछड़े से पूछ रहा हूँ" - कबीरपन्थी आचार्य ने रामकरन से कहा।

दोनों एक-दूसरे के करीब आये। अविश्वास और घृणा एक-दूसरे के कान में मुँह सटाकर फुसफुसाती रही, "अरे भाई, डीन तुम्हारी बिरादरी का है। कहना, एक्सपर्ट को साधे रहे। वरना यह चूड़ामणि टिकने न देगा।"

दोनों ने एक-दूसरे को भरपूर तोला। अंदाजा, सुना और सूँघा। फिर अलग-अलग दिशाओं में थोड़ी दूर आगे जाकर गुम हो गये। चारों ओर प्रेम और घृणा, संशय और अविश्वास की मनोरम छटा फैल रही थी।

लेक्चरर जैन साहब! रिटायर होने में सिर्फ छह महीने बाकी हैं। इस बार भी कोई उम्मीद दिखायी नहीं दे रही है। चेहरे पर माँछी भिनक रही है। निरीह आँखों से हिन्दी विभाग को देखते हुए उन्होंने आह भरी - "कैसा जमाना आ गया। विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रह ही नहीं गये। सब जगह सिर्फ ठाकुर, भूमिहार, ब्राह्मण और लाला हैं।"

"कैसा ठाकुर, ब्राह्मण, गुरुदेव! - सुबोध मिसिर ने कहा - "मैं तो पाँच साल से यहाँ लोगों को देख रहा हूँ और मैं जब भी देखता हूँ, हर बार मुझे अपने गाँव का देसराज नाई याद आने लगता है।"

सुबोध मिसिर पान की दुकान पर खड़े होकर खैनी मल रहे थे तभी उन्हें कुछ शोर और पकड़ो-पकड़ो की आवाज सुनायी पड़ी। हिन्दी विभाग के सामने प्राध्यापकों और छात्रों की भीड़ थी। लग रहा है कोई साइकिल चोर पकड़ा गया है- और ठीक उसी समय उन्होंने देखा कि भीड़ के बीच से गुरुदेव शिवपाल मिश्र भागे जा रहे हैं। पीछे एक हट्टा-कट्टा दारोगा उन्हें दौड़ा रहा है- "पकड़ो! पकड़ो!!" गुरुदेव के पैर में जूता भी नहीं है। कोट के सारे बटन नुच गये हैं।

बाँह फटकर झूल रही है। वे सरपट भागे जा रहे हैं। विश्वविद्यालय का विशाल फाटक उन्होंने एक लंबी छलाँग से पार किया और शहर की भीड़ में, जहाँ सिनेमा के टिकट ब्लैक हो रहे थे, और जहाँ पायल और घुंघरू के उदास अफसाने लाटरी के टिकट बेच रहे थे, जाकर खो गये।

"भाग गया हरामी का पिल्ला" - दारोगा हाथ में डंडा लिये पान की दुकान की ओर आ रहा था।

"क्या इन्होंने किसी लड़की के साथ कुछ किया है?" एक जिज्ञासु भीड़ दारोगा के आसपास घिरने लगी थी।

"प्राध्यापक लोग तो यह सब करते ही रहते हैं। मुझे इन सब बातों के लिए फुर्सत नहीं।" दारोगा हाँफ रहा था।

"फिर क्या हुआ?" किसी ने पूछा।

"कानपुर स्टेशन पर गिरहकटी करता था। किसी की मार्कसीटें और डिग्रियाँ हाथ लग गयीं। सत्रह साल से उन्हीं के भरोसे यहाँ नौकरी कर रहा है। हद है भाई! विश्वविद्यालय है कि चंडूखाना! रंडियाँ भी ग्राहक का मुँह सूँघकर सौदा करती है।" - दारोगा छात्रों और प्राध्यापकों को हिकारत से देख रहा था, "कैसे यहाँ पढ़ने वाले हैं। और 'कुलिगुस' लोग क्या भूसा खाते हैं?"

"उसके अण्डर में शोध कर चुके पचासों छात्रों का क्या होगा? वे तो दूसरे विश्वविद्यालयों में नौकरी कर रहे हैं" - किसी ने उत्सुकता प्रकट की।

"अब इस बात में कोई मजा नहीं।" भीड़ दारोगा के आसपास से छँटने लगी।

"लीजिए, अब इसी बात पर पान खाइये!" दुकानदार ने पान का गोल बीड़ा थमाते हुए शर्मा जी को बधाई दी। "मिश्रा मैदान से बाहर हो गया। अब आपका रीडर बनना कोई नहीं रोक सकता।"

शर्मा का साढ़ू 'विजिलेंस' में नौकरी करता है। लग रहा है मामले को

उभारने में इसी का हाथ है। लोगों ने कानाफूसी शुरू की - "अपने स्वार्थ के लिए लोग किस हद तक जा सकते हैं! यहाँ किसी पर भरोसा नहीं।" त्रिपाठी जी ने टिप्पणी की, "अभी कल तक ये दोनों गलबहियाँ डाले पूरे विभाग को गाली देते थे।"

तेरह दिन हो गये। सूरज नहीं निकला। शाम होते ही सारा शहर घने कोहरे की सफेद चादर ओढ़कर उकड़ूँ पड़ा सो जाता। लंबी और सुनसान रात। कौन रो रहा है? शायद कोई किशोर विधवा है! लेकिन इतनी मर्मान्तक वेदना! जरूर कोई वृद्ध विधुर होगा। स्ट्रीट लाइटों के मद्धिम प्रकाश में कंबल ओढ़े कोई छायाकृति चली जा रही है। किसी स्कूटर की सरसराह पास आती और फिर दूसरे छोर के अँधेरे में जाकर विलीन हो जाती। अपने रिटायरमेंट से ऊबे वृद्ध और जर्जर प्रोफेसरों की भी पूछ बढ़ गयी है। रात दो-दो बजे तक सन्धियों, समझौतों और षड्यन्त्रों का दौर जारी है। मिठाइयों का भाव बढ़ गया हैं ऐसे प्रचण्ड सन्नाटे में भी दुकानें खुली हैं। जिन्होंने अपने बच्चों को टॉफी की जगह भेली और गुड़ खिलाकर पाला-पोसा था, वे भी इकट्ठे तीन-तीन, चार-चार किलो के अलग-अलग पैकेट बँधवा रहे हैं। "जल्दी करना भाई, सड़क पर स्कूटर स्टार्ट खड़ा है।" -मुनिन्दर राय ने दुकानदार से कहा।

उनके चले जाने के बाद एक आदमी ने दुकानदार से पूछा, "बहुत बड़े आदमी हैं क्या?"

दुकानदार मुस्कराया, "आजकल विश्वविद्यालय में इंटरव्यू चल रहा है। बिक्री बढ़ गयी है।"

सृष्टि में सत्य इतना मनोहारी, रंग-बिरंगा और मौजूँ कभी नहीं रहा होगा। सुबोध मिसिर आजकल पुस्तकालय नहीं जाते। सुबह से उठकर दिन भर सत्य की तलाश में घूमा करते हैं। वह उन्हें चौराहों, नुक्कड़ों, चाय और पान की दुकानों पर, हिन्दी विभाग में जगह-जगह दिखायी देता रहता।

ये प्रोफेसर लोग खाते क्या हैं? आज यही जानने के लिए वे मचल पड़े। वह

जानना चाहते थे कि आखिर कौन सा अन्न है जिसने इनकी वासनाओं को प्रचण्ड और जननेन्द्रियों को निष्क्रिय कर दिया है? वह पूरे दिन भूखे-प्यासे टहलते रहे। शायद इस रहस्य को पार पाना मेरे लिए दुर्लभ है। यह सोचते हुए थककर वह नुक्कड़ वाली दुकान पर चाय पीने चले गये। तभी अचानक उन्होंने देखा कि मुख्य सड़क की नजर से दूर जो चोरगलियाँ हैं उनमें कुछ लोग सिर पर बोझा लादे दबे-पिचके कतारबद्ध चुपचाप चले जा रहे हैं। वे चौंक पड़े। बहुत पहले 'टाम काका की कुटिया' में इनकी शक्लें दिखायी दी थीं। लेकिन इनके चेहरे तो परिचित हैं। ये अपने ही विश्वविद्यालय के शोधछात्र हैं। विज्ञान और मानविकी की विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं के शोधक। हॉस्टलों में रहते हैं। अपने गाँव-जवार के होनहार। घर के दुलरुवा। जब ये यहाँ पढ़ने आते हैं तो इनके बाप अटैची और आचार सिर पर लादकर इन्हें स्टेशन तक छोड़ने आते हैं। खेत गिरवी रखकर इनके सुख-सुविधाओं को पाला-पोसा जाता है। आखिर इस तरह ये लोग कहाँ जा रहे हैं? - सुबोध मिसिर ने सोचा। लड़खड़ाकर गिर पड़े एक लड़के को उन्होंने दौड़कर पकड़ा। सहारा देकर उठाया और पूछा, "इस बोरे में क्या है भाई? कहीं तुम तस्करी तो नहीं करने लगे?"

लड़के ने कहा, "गुरुदेव की भैंस ब्यायी है। उसी के लिए पुराना, गुड़ और चोकर ले जा रहा हूँ।"

"और तुम?" - उन्होंने दूसरे से पूछा।

"पहाड़िया सट्टी से कुम्हड़ा और लौकी खरीदकर ले जा रहा हूँ। गुरुजी ने कहा है कि वहाँ सस्ती और ताजी सब्जियाँ मिलती हैं"

तीसरे ने बिना रुके बताया कि, "गुरुजी का मकान बन रहा है। उसी के लिए सीमेंट है।" बोझ से पिचके सिर का सारा रक्त चेहरे पर उतर आया था। आँखे बाहर लटक आयी थीं। वे उसी तरह सिर झुकाये चुपचाप आगे बढ़ गये। सुबोध मिसिर की आँखें डबडबा गयीं। वह खूब जोर से हँस पड़े।

इंटरव्यू में दो दिन रह गया है, जब साँस रोके प्रतीक्षा कर रहे हैं। उधर

कोने में झाड़ी की आड़ लेकर गेस्टहाउस का चपरासी वामपन्थी रायसाहब से फुसफसा रहा है, "तीन कमरे बुक हैं। कोई गुजरात के मिसिर जी हैं और राजस्थान के उपाध्याय जी। एक पंजाब के, पता नहीं कैसी 'टाइटिल' है। जाति पता नहीं चल रही है।"

राय साहब ने अनुमान लगाया और सिर हिलाते हुए एकालाप की मुद्रा में बुदबुदाने लगे - "वाम, वाम, वाम दिशा, समय साम्यवादी।"

"तब तो आपके लिए शुभ है" - चपरासी ने दिलासा दिया।

"खाक शुभ है! मूल सत्य तो दूसरा है" - वे चिन्ता में आरपार हो रहे थे - वह एक और मन रहा राम का जो न थका। कुछ बुदबुदाहट उभरी - "कहती थी माता मुझे सदा राजीव नयन।" चाहे जो भी हो, यू.पी. कालेज वाले मास्टर साहब मुझे वामपंथी मानते हैं। जाति भेद से परे। आज के युग में ऐसा आदमी मिलना मुश्किल है। बहुत दिनों से एकान्तवास कर रहे हैं। हालचाल लेना चाहिए - "अच्छा तो भाई, बहुत-बहुत धन्यवाद" - उन्होंने चपरासी से कहा और स्कूटर की किक मारी - फुर्रऽऽ।

इधर आचार्य चूड़ामणि धोती, कुर्ता और बंद गले की कोट पर शाल डाले चले आ रहे हैं। पान की दुकान, सड़क पर यहाँ-वहाँ धूप के छोटे-छोटे टुकडों में बँटे समस्त प्राध्यापकगण हिन्दी विभाग के सामने आकर दण्डवत मुद्रा में विनत भाव से झुक गये। भय और आशंका से भरे स्वयंवर के समस्त राजगण। आचार्य चूड़ामणि के कृपाकांक्षी। कौन कहा है कि चर्च और पोप का युग खत्म हो गया है!

सब वामपन्थियों का फितूर है। कम्यूनिस्टों के देश में तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता होती ही नहीं। आखिर में दासवृत्ति का पालन भी तो हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता है।

आचार्य ने देखा, भविष्य की पौध लहलहा रही है। श्री विकास पाण्डेय, उपाध्याय, डॉ. त्रिपाठी, जनार्दन प्रसाद, रीडर महादेवमुनि और रामकरन राय।

सबके सब उपस्थित हैं। कुछ पारभृता सुनयना सुकुमारियाँ भी। श्रद्धा और समर्पण का महोत्सव। उनके होंठों पर रहस्यमयी मुस्कान तैर रही थी, "कितने पैसे हुआ जी?" उतरते हुए उन्होंने रिक्शे वाले से पूछा।

"साहब, जो मर्जी हो दे दीजिए" - ठंड से काँप रहे उस बूढ़े ने चिथड़े कम्बल को लपेटते हुए कहा।

"सर, मेरे पास चेंज है" - वर्षों से लइया और भुने चने का स्वल्पाहार करने वाले मुनिन्दर राय रिक्शे की ओर बढ़े।

"नहीं, नहीं! यह गलत बात है" - आचार्य ने उन्हें सख्ती से रोका और पचास पैसे का एक सिक्का रिक्शे वाले को दे दिया।

"साहब, पाँच रुपया होता है" - रिक्शा वाला गिड़गिड़ाया, "किसी से पूछ लीजिये।"

आश्चर्य में डूबा समवेत स्वर, "पाँच रुपया!! लूटते हैं साले! भाग भोसड़ी के, दिखाई न देना!!" भोंऽऽ भोंऽ हुवांऽ हुवांऽऽ

रिक्शा वाला गिरते-पड़ते भागा।

आचार्य सामने पत्थर के बेंच पर खड़े हो गये। "मैं आप लोगों से कुछ कहना चाहता हूँ" - उन्होंने सामने झुके सिरों को सम्बोधित किया, "लेकिन, अगर आप लोगों को मुझ पर भरोसा हो तो..."

दो दिन बाद इंटरव्यू है। किसमें इतनी जुर्रत। फिर वही समवेत स्वर, "हमें आपके न्यायबोध पर पूरा भरोसा है आचार्य।"

दो मिनट तक सन्नाटा रहा। विभाग के हेड क्लर्क शर्मा जी ने बैग से कागज का एक टुकड़ा निकालकर उन्हें थमाया। चपरासी रामदीन अध्यापकों के पीछे खड़ा हो गया।

वहाँ 'जनगण मन' हो रहा है क्या भाई! सड़क पर घूम रहे लड़के भी आकर खड़े हो गये।

"आप तो साक्षात न्यायमूर्ति हैं सर!" फिर वही समवेत स्वर गूँजा।

"तो आप लोग सुनें! मुझे इस बात की बहुत शिकायत है कि यहाँ कोई क्लास नहीं लेता। दूसरी बात यह कि आप लोग पेट्रोल और मिठाइयों पर बहुत ज्यादा पैसा फूँकते हैं। थोड़ा मितव्ययिता से काम लें। लेकिन, साथ ही मुझे इस बात की बहुत खुशी है कि इधर मेरे विभाग ने समूचे हिन्दी जगत से ज्यादा पुस्तकें लिखी हैं। लोगों में पढ़ने-लिखने की रुचि बढ़ रही है। यह अच्छी बात है। बस यही कामना है कि आप लोग बनारस और इलाहाबाद के प्रकाशकों से थोड़ा ऊपर उठें। स्तर बढ़ायें। और हाँ! इलाहाबाद के ही संदर्भ में एक जरूरी बात याद आ गयी। यह देखिये..." उनके हाथ में कागज का एक टुकड़ा लहरा रहा था, "यह इलाहाबाद हाईकोर्ट का 'स्टे आर्डर' है। इंटरव्यू स्थगित किया जा रहा है।" - और वे जल्दी से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ऊपर अपने कमरे में चले गये।

"अरे यह क्या हो रहा है! उपाध्याय जी के मुँह से झाग क्यों निकल रहा है? आँखें उलट गयीं। मिर्गी का दौरा है! जूता सुँघावो!!" चारों ओर खलबली मच गयी। जनार्दन प्रसाद ने मन्दी के दिनों में शेयर बेचकर किताबें छपायी थीं। सत्यानाश! गुड़ गोबर!! "पकड़ो साले को! भागने न पाये!" - ललकारते हुए रामकरन राय आचार्य चूड़ामणि के पीछे-पीछे लपके।

जम्मू, चण्डीगढ़, दिल्ली और लखनऊ। चार-चार विश्वविद्यालयों से आयी थीसिसों का मौखिकी लेना है। हवाई यात्रा का टिकट पहले से बुक है। चूड़ामणि जी ने पन्द्रह दिन की ड्यूटी लीव ली। टैक्सी पकड़कर सीधे बाबतपुर पहुँच गए।

इसी बीच आचार्य के इकलौते श्रवणकुमार के एम.एम. अंतिम वर्ष का रिजल्ट आया। पिछले सारे आचार्य पुत्रों का रिकार्ड ध्वस्त करता हुआ वह अस्सी प्रतिशत अंक पाया। अध्यापक संघ की आपात बैठक में जनार्दन प्रसाद राँड़ औरतों की तरह विलाप कर रहे थे - "यह आदमी शुरू से ही अध्यापक विरोधी रहा है। अब उसके लड़के का अस्सी प्रतिशत अंक!" अध्यापक संघ के तीनों

प्रत्याशी ब्राह्मण हैं – "अगर फिर भी आप लोग कुछ नहीं करेंगे तो मैं आमरण अनशन पर बैठूँगा।"

"हम करना तो बहुत कुछ चाहते हैं" – अध्यक्ष महोदय चिन्तित और असमंजस में हैं – "लेकिन इसमें क्या किया जा सकता है? मामला कोर्ट का है।"

"क्यों नहीं कर सकते! हिन्दी में कहीं अस्सी प्रतिशत" अंक आते हैं? रामकरन राय चीख रहे थे – "इसी अपने पुत्र के लिए इस आदमी ने बारह साल से ये जगहें रोक रखी है। लड़का तीन साल इंटर में फेल हुआ।"

अध्यापक संघ के अध्यक्ष मिश्रा जी की बहु इसी साल इतिहास में पचासी प्रतिशत अंक पा चुकी हैं। उन्होंने सभा के सामने हाथ जोड़कर अनुरोध किया – "हम लोगों को शोभा नहीं देता कि आपस के झगड़े में बहू-बेटियों या पुत्रों को घसीटें।"

कुलपति ने डीन सिनहा जी को बुलाकर पूछा कि अचानक यह सब कैसे हो गया?

"मैं कुछ नहीं कर सकता सर!" डीन ने असमर्थता प्रकट की, "यह आदमी बहुत जालिया है।"

"अच्छा आप ऐसा करें कि उनके आते ही मेरे साथ मीटिंग रखें। मैं नोटिस टाइप करा दे रहा हूँ। लड़कों का प्रतिनिधिमंडल रोज-रोज ज्ञापन दे रहा है। जिन्दाबाद, मुर्दाबाद हो रहा हैं कोर्ट के मामले में तो कुछ नहीं हो सकता, लेकिन यह अस्सी प्रतिशत वाली बात पूछकर आप कार्रवाई करें।" – वी.सी. न्यायप्रिय छवि वाले सख्त व्यक्ति हैं।

हवाई यात्रा की थकान थी। फिर भी कुलपति का पत्र पाते ही आचार्य उनसे मिलने गये। डीन सिनहा जी वहाँ पहले से मौजूद थे। थोड़ी देर तक फाइलों को पलटते रहने के बाद वी.सी. ने औपचारिक शुरूआत की, "आपकी यात्रा कैसी रही आचार्य जी?"

"ठीक थी सर!" – आचार्य चूड़ामणि दाँत खोद रहे थे– "दिल्ली गया था। सोचा यू.जी.सी. भी हो लूँ, आपके 'एक्सटेंशन' की बात चल रही थी सर!"

"हाँ भाई, दिल्ली के मारे तो मैं भी बहुत परेशान हूँ। यहाँ के एम.पी. त्रिपाठी जी ने संसद में क्या तो प्रश्न पूछा है कि आपके लड़के को हिन्दी में अस्सी प्रतिशत अंक मिले हैं। सब लोग जाँच कराने की बात कर रहे हैं। यहाँ लड़के भी रोज जुलूस लेकर आते रहते हैं।" – वाइस चांसलर ने सीधे-सीधे बात शुरू की।

चूड़ामणि जी मुस्कराये, "धरना-प्रदर्शन ही तो हमारा जनतंत्र है सर!"

"अस्सी प्रतिशत अंक हिन्दी में!" – डीन सिनहा जी ने सख्त एतराज जताया – "सुना है, वह प्रवीयस में सेकेण्ड डिवीजन पास था।" उन्होंने वी.सी. से मुखतिब होकर कहा – "सर! एम.पी. त्रिपाठी जी ने लोकसभा में कहा है कि रामचन्द्र शुक्ल को भी इतने नम्बर नहीं मिले थे। पूरे देश में विश्वविद्यालय की छीछालेदर हो रही है सर!"

वी.सी. तक तो सही है! यह डीन बहुत गटर-पटर बोल रहा है– आचार्य ने सोचा और मुस्कराये, "देखिये सिनहा जी, आप भूमिहार हैं..."

उनका वाक्य पूरा होने से पहले ही डीन उछल पड़ा, "आप यहाँ जाति-बिरादरी की बात क्यों उठा रहे हैं।"

"आप पहले शान्त होकर मेरी पूरी बात सुनें! और चीखना-चिल्लाना मुझे भी आता है" – गुस्से में चूड़ामणि जी के दोनों नथने मरकहे बैल की तरह फड़कने लगते –हुःहुः– "क्योंकि यह मूल सत्य है कि आप भूमिहार हैं। इस धरने-प्रदर्शन में आधे लड़के भूमिहार, आधे ब्राह्मण और दो-चार कम्युनिस्ट हैं। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि ये लड़के धरने से पहले और उसके बाद आपके घर क्या करने जाते हैं! रही बात त्रिपाठी एम.पी. की, तो वह निरा बेवकूफ है। हिन्दी की इतनी पवित्र संस्था का नाश उन्हीं दोनों भाइयों ने किया है। उस गधे

को यह भी नहीं मालूम कि आचार्य शुक्ल इण्टर फेल थे। उनका एम.ए. में अस्सी प्रतिशत अंक कैसे आयेगा?"

यह आदमी तो एकदम बेलगाम है, वी.सी. ने सोचा-इस पर कार्रवाई करनी जरूरी है-और बोला- "आप विश्वविद्यालय में जातिवाद की राजनीति करते हैं। सुना है, अध्यापकों पर हुए हमले में भी आपका हाथ है" - वी.सी. का लहजा बेहद तल्ख और सख्त था।

आचार्य के सामने आज तक किसी ने इस अंदाज में बात करने की जुर्रत नहीं की थी। वह कुछ क्षण तक शान्त होकर कुलपति के चेहरे की और देखते रहे और फिर मुस्कराते हुए ठण्डे स्वर में बोले, "आपने और क्या-क्या सुना है मेरे बारे में? लोग तो बहुत कुछ कहते हैं। आपके पहले भी एक कुलपति थे। जूते की माला पहनकर गये थे यहाँ से। लोग चुगलखोर हैं। कहते हैं, कि वह सब मैंने ही किया-किराया था। जबकि बात बस इतनी थी कि प्राचीन वाङ्मय, वैदिक साहित्य और भारतीय संस्कृति के बारे में मेरी आस्थाएँ उनसे मेल नहीं खाती थीं।"

कुलपति ने देखा, अनेक किंवदन्तियों और क्षेपक कथाओं से मिथक बन चुके महानायक आचार्य चूड़ामणि मुस्करा रहे थे, भय से उसका चेहरा पीला पड़ गया। आचार्य को दया आ गयी, बोले, "वी.सी. साहब, मैं आपका बहुत आदर करता हूँ। बावजूद इसके कि मैं हिन्दी विभाग का अध्यक्ष हूँ। 'डीन ऑफ स्टूडेंट्स' भी हूं। और आपने बिना मुझे विश्वास में लिये हिन्दी विभाग का इंटरव्यू 'फिक्स' कर दिया था। मैं जानता हूँ कि आप अत्यंत शालीन, मितभाषी और न्यायप्रिय व्यक्ति हैं और यह भी जानता हूँ कि मानव संसाधन मंत्रालय का मुख्य सचिव आपका साढ़ू है। लेकिन क्या बात है कि यहाँ इस बनारस विश्वविद्यालय में आज तक कोई राजपूत वी.सी. नहीं हो सका है। मैं जातिवाद को देश के लिए कैंसर से कम घातक नहीं मानता। आप चाहें तो जाँच आयोग बैठा दें। लेकिन किसी परीक्षक की जाँची कापी को कोई न्यायाधीश कैसे जाँच सकता है? जनतंत्र में

अलग-अलग संस्थाओं की अपनी स्वायत्तता, हैसियत और गरिमा होती है। आपको कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए कि यह पवित्रता नष्ट हो। किसी को यह कहने का अवसर मिले कि आप ब्राह्मण और भूमिहार लॉबी के दबाव में हैं। आगे आपकी जैसी मर्जी।" - कहकर आचार्य चूड़ामणि अचानक उठे और वी.सी. लॉज से बाहर निकल गये।

बाहर चारों और रेलमपेल था। धरना, प्रदर्शन और अनशन करने की धमकी। उस दिन दोपहर को जब सुबोध मिसिर कैफेटेरिया से चावल और कुम्हड़े की तरकारी खाकर चले जा रहे थे, उन्होंने देखा कि कृषि विज्ञान संकाय वाले चौराहे पर एक लड़का फटा कुर्ता, पाजामा और हवाई चप्पल पहने उजबक की तरह चारों तरफ देख रहा है। विशालकाय इमारतों और एक-दूसरे को काटती आगे चली जा रही चिकनी, चौड़ी सड़कें। सड़कों के ऊपर झुक आये आम, अमलताश, शीशम और सागौन के पेड़ों की घनी छाँव में शायद वह रास्ता भूल गया है। सामने से अध्यापक संघ का विशाल जुलूस चला आ रहा था। वे लोग पता नहीं किस बात पर बेहद उग्र और उत्तेजित थे। लड़का दोनों हाथ उठाकर उन्हें रोकना चाहता है। जब वे लोग नहीं रुकते तो वह दोनों हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगता है, "गुरुजनों, बस इतना ही याद है कि मैं बारह साल पहले यहाँ आया था। मैं कहाँ का रहने वाला हूं? मुझे अपने गाँव का नाम और बाप की शक्ल भूल चुकी है। मैं भूखा हूँ। कई दिनों से मुझे अन्न का एक दाना भी नहीं मिला है। यह देखिये... उसने कुर्ता उठाया और अपना पेट दिखाने लगा। वहाँ कागज के कुछ मैले-कुचैले टुकड़े बंधे थे - ये मेरी मार्कसीटें हैं। चरित्र प्रमाण पत्र है। मैं भूखा हूं और अपने गाँव जाना चाहता हूँ गुरुजनों, मुझे मेरे गाँव का रास्ता बता दीजिये, वहाँ मेरी माँ खाना बनाकर खोज रही है।" वह चीख रहा था। भीड़ उसे कुचलते हुए आगे बढ़ गयी। किसी ने उसका कुर्ता नोच लिया - यह घर में पोंछा लगाने के काम आयेगा।

चौराहे के दूसरी और से छात्र संघ का जुलूस चला आ रहा था। वह लड़का

सड़क के बगल की नाली में गिर पड़ा था। अचानक उसे फिर कुछ आवाज सुनायी पड़ी तो दौड़कर आया ओर सड़क पर दुबारा खड़ा हो गया। कुर्ता गायब था। चप्पल का फीता टूटकर दूर कहीं छिटक गया था। लेकिन वह दोनों हाथों से अपने पेट पर बँधे कागजों को कसकर पकड़े था। "भाइयों रुकिये।" - वह फिर चीखने लगा - "मुझे मेरे घर का पता बता दीजिए। वहाँ जाड़े की गुनगुनी धूप में दीवार के सहारे बैठी मेरी पत्नी नये धान का चावल पछोरती थी। मेरे बाप ने बचपन में ही मेरी शादी कर दी थी। अब मेरा बेटा बड़ा हो गया है और मुझे बुला रहा है। मैं उसे देखना चाहता हूँ।" जुलूस में लड़के अपनी ही धुन में नारे लगाते, बहुत गुस्से में न जाने किसे, शायद खुद को ही गालियाँ देते उसे लँगड़ी मारकर आगे बढ़ गये।

सुबोध मिसिर ने लड़के को देखा। उन्हें लगा कि यह कोई स्वप्न है। जैसे स्वप्न में कोई अपने को अपने से थोड़ा दूर खड़ा होकर देखता है ठीक उसी तरह। उन्हें दया आयी। वे उसे पकड़कर कुछ पूछना और बातें करना चाहते थे। उन्हें अपनी ओर आता देखकर वह लड़का बहुत तेज भागा और जाकर विश्वविद्यालय के सबसे ऊँचे गुम्बद पर चढ़ गया।

सुबोध मिसिर ने देखा, गुम्बद के ऊपर जो त्रिशूल चमक रहा है उसी पर मजे से बैठा वह लड़का बानर की तरह उछल-कूद कर रहा है। सूरज तप रहा था। सुबोध मिसिर ने जोर से पूछा, "तुम क्या चाहते हो भाई? मैं तुम्हें तुम्हारे गाँव पहुँचा दूँगा। मुझे तुम्हारे घर का पता मालूम है।"

लड़के ने कहा, "लेकिन अब वहाँ मुझे कोई नहीं पहचानता। क्योंकि मैं भी किसी को नहीं पहचान पाता। वहाँ जाकर मैं क्या करूँगा?"

"तो फिर तुम क्या चाहते हो? सुबोध ने पूछा।"

"बताऊँ?" लड़का बहुत जोर से हँसा। "मैं ताजमहल में अपनी प्रेमिका के साथ एक पूरी रात हनीमून मनाना चाहता हूँ। पता नहीं कहाँ चली गयी मेरी

प्रेमिका? क्या तुम मुझे मेरी प्रेमिका से मिला दोगे? क्या तुमने अभी तक ताजमहल भी नहीं देखा है? ....अच्छा तो सुनो! मैं अपने बेटे के साथ नादिरशाह के सामने खूब जोर से हँसना चाहता हूँ। मेरे बेटे का कैरमबोर्ड नादिरशाह चुरा ले गया। अच्छा तुम गाँधी जी को बुला दो। वे उसे अपने खड़ाऊँ से मारेंगे।"

सुबोध मिसिर किंकर्तव्यविमूढ़ उसे देख रहे थे।

"खैर तुम जाओ!" उसने वहीं से चिल्लाकर कहा, "मैं अब यहीं रहूँगा। इसी त्रिशूल पर। मुझे यह ऊँचाई अच्छी लग रही है।"

एक दिन लोगों ने देखा कि एक बहुत बड़े देश के राजा ने उसी आदमखोर मिसाइल के गले में विजयहार पहना दिया, जिसे वहाँ के वाशिन्दों ने बर्फीली हवाओं में भूखे प्यासे सारी-सारी रात जागकर आधी शताब्दी से रोक रखा था। पूरी दुनिया तमाशबीन की तरह यह दृश्य देखकर भौंचक रह गयी। एक डरावनी और काफी गुफा की तरह मुँह बाये वह आदमखोर मिसाइल एक नगर से दूसरे नगर, एक देश से दूसरे देश तक घूमने लगी। उसने लोगों के सपने, जीने का अंदाज और जरूरतों की फेहरिश्त बदल दी। दिन, महीने और वर्ष बीतते रहे। समय गुजरता रहा। युग बदला। इस तरह बदला कि जो लोग निरन्तर रात-दिन उसे बदलने के लिए बेचैन रहते थे वे भी दुःख और शोक से भर गये। इसी बीच सुबोध मिसिर की थीसिस पूरी हुई। वे डॉक्टर सुबोध मिसिर हो गये।

एक दिन सुबह-सुबह वे कैंटीन के सामने चाय पी रहे थे। उन्होंने देखा कि आसपास बैठे लड़के रात टी.वी. पर रोमांचक मैच के बारे में उत्तेजक बहसें कर रहे हैं। सामने सड़क पर एक जवान और सुन्दर लड़की नशे की सी हालत में लंगड़ाती और सहमी हुई सी भागी चली जा रही थी। पता लगा कि वह गुजरात से अपने प्रेमी के साथ बनारस घूमने आयी थी। तीन दिन से भूखे-प्यासे छात्रावास के एक कमरे में बंद करके पाँच लड़कों ने उसके साथ निरंतर 'रेप' किया था। निष्प्राण घटनाओं और सनसनीखेज सूचनाओं का यह रीतिकाल था। थोड़ी दूर

आगे मात्र दस कदम की दूरी पर एक छोटा का कम्प्यूटर रखा हुआ था। किसी दूर उपग्रह से संचालित। कम्प्यूटर का शेष पिछला हिस्सा अँधेरे में डूबा हुआ था। तेज लाइट में चमकते स्क्रीन पर उस समय एक लड़की मुस्करा रही थी-किसी सुदूर अतीत या पौराणिक आख्यानों में चमकती लड़की की हँसी-एक तिलस्मी करामात की तरह उसके चारों और लहरा रही थीं चमकीली पैकिंगे। उनमें भरा था मिस यूनीवर्स का गोपन रहस्य, मादक पेय, क्रीम और बच्चों की चाकलेटें, औरतों के सिन्दरू, मित्रों की शुभकामनाएँ, नये साल का संदेश और भूसा और गोबर। अपनी जरूरतों से ऊबे लोगों की भीड़ एक जादुई कुतूहल से बेकाबू उस लड़की के उन्नत उरोजों और चिकनी जाँघों में धँसी चली जा रही थी। उस समय नशे की सी हालत में लंगड़ाती भागती लड़की के होंठ भय से काले पड़ गये थे। वह कम्प्यूटर के पिछले हिस्से में, जहाँ गाढ़ा अँधेरा फैला हुआ था, जाकर विलीन हो गयी। उसकी आखिरी चीख एक सुरीली और लयात्मक पींऽऽ-पींऽऽ के साथ स्क्रीन पर दो सेकेण्ड तक उभरकर बंद हो गयी। वहाँ रात के मैच का शेष भाग फिर शुरू हो गया।

आचार्य चूड़ामणि जी विभाग से रिटायर होने के दो महीने बाद दूसरे विश्वविद्यालय में कुलपति बना दिये गये। उनका इकलौता श्रवणकुमार, बकौल सारे शहर जिसे एक वाक्य शुद्ध हिन्दी लिखनी नहीं आती थी वह, मरुधर विश्वविद्यालय के फाटक से होता हुआ पाँच साल बाद उसी हिन्दी विभाग में रीडर बना दिया गया। उत्तराधिकार के इस महोत्सव में विश्वविद्यालय की राजपूत लॉबी ने उसका अभिनन्दन किया। इस नियुक्ति के समय भी सिनहा जी डीन थे। भूमिहार लॉबी ने बहुत कोशिश की लेकिन उन्होंने आचार्य चूड़ामणि से अपने सम्बन्धों को जातिगत रागद्वेष से ऊपर उठकर देखा। उन्होंने गंभीरतापूर्वक इस बात पर विचार किया कि इकलौते पुत्र का वृद्ध पिता के पास रहना ही जरूरी है। इस नियुक्ति के ठीक एक महीने बाद आचार्य चूड़ामणि ने यह सोचकर कि किसी का कर्ज लेकर मरना राजपूती आनबान के खिलाफ

है, उन्होंने अपने विश्वविद्यालय में डीन सिनहा जी की पुत्रवधू को अंग्रेजी में लेक्चरर बना दिया।

अपने गुरु के योग्य शिष्य सुबोध मिसिर नगर में दर-दर भटकते रहे। वे रात के अँधेरे में बैठकर नीतिवाक्य लिखा करते। उनके साथ के सारे छात्र, जिनसे उनकी नोक-झोंक चला करती थी, जो उन्हें यथास्थितिवादी कहकर क्रान्ति और परिवर्तन की बात किया करते थे, वे सबके सब एक-एक कर विश्वविद्यालयों, डिग्री कॉलेजों और अखबार के दफ्तरों में जाकर चूड़ामणि जी का जूठन बटोर रहे थे। इधर सुबोध मिसिर विश्वविद्यालय के नये लड़कों के बीच अजूबे बनते जा रहे थे। वह सबसे कहा करते कि विरोध में उठा एक हाथ, पक्ष में उठे करोड़ों हाथ से महत्वपूर्ण होता हैं वे इस विरोध की व्याख्या नहीं करते थे और अकसर चुप लगा जाते। आचार्य जी हर पन्द्रहवें दिन बाद किसी न किसी नियुक्ति में एक्सपर्ट होते। हर बार वे दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जाते कि इस बार अपने प्रिय शिष्य सुबोध मिसिर की नियुक्ति जरूर कर देंगे। लेकिन उनके मानवीय दायित्व बोध और न्यायोचित चेतना को किसी मंत्री, विधायक, किसी भूतपूर्व विभागाध्यक्ष या समकालीन प्रोफेसर का सिफारिशी पत्र हर बार पथभ्रष्ट कर देता। वे रोज-रोज पथभ्रष्ट होते रहे। एक दिन अपनी पुत्रवधू की नियुक्ति के लिए दिल्ली की एक महिला प्रोफेसर के पैरों पर गिर पड़े। नियुक्ति नहीं हुई। लोगों को उनके इस अपमान की उम्मीद नहीं थी। सबको लगा कि कहीं अबकी बार गंभीर हार्ट अटैक न हो जाय। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उनके दरबार में लोगों की आमद खत्म हो गयी। वे बिना बुलाये शहर और विश्वविद्यालय की हर सभाओं, समारोहों में पहुँचकर अपने को मंच पर बुलाये जाने की प्रतीक्षा किया करते और ऊँघने लगते। गोष्ठी, समारोह खत्म हो जाते। वे चुपचाप अकेले टहलते हुए अपने घर चले आते।

इधर गाँव में सुबोध मिसिर की बेटियाँ बड़ी हो रही थीं। पत्नी के दाँत हिलने लगे थे। हर फसल कटने के बाद खेती पर पानी, बिजली और लगान के कुछ

कर्जे बढ़ जाते। उन्होंने एक पर एक तीन एकड़ खेत बेच डाले। अंत में गाँव के एक बुजुर्ग ने समझाया कि "भाई सुबोध, कब तक नौकरी खोजते रहोगे? यह खेत तुम्हारी कमाई नहीं हैं जो बेचे जा रहे हो। कल लड़कियों की शादी करनी पड़ेगी।"

तीन दिन से भूखे-प्यासे सुबोध मिसिर ने एक दिन अन्तिम रूप से गुरुदेव के चौखट पर मत्था टेका। "बेटे सुबोध, मुझसे तुम्हारी दशा देखी नहीं जाती" - गुरुदेव ने कहा और रोने लगे।

"कोई बात नहीं गुरुदेव! मैं कुछ माँगने नहीं, आज्ञा लेने आया था। घर जा रहा हूँ" - उन्होंने शहर के बीचोंबीच थूका और गाँव चले गये।

पाँच साल से गाँव में रहते हुए सुबोध मिसिर को सिर्फ यूरिया का दाम, बिजली के बिल, गेहूँ, धान और ईख का भाव याद रह गया था। अलंकार, छन्दशास्त्र, रस यहाँ तक कि तुक और विचार आदि की मर्यादा तोड़ता हिंदी कविता का प्रवाह आधुनिकता, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद आदि को अप्रासंगिक करार देता हुआ इन दिनों उत्तर-आधुनिकता और विखण्डनवाद के समीक्षा सिद्धान्तों से अपनी संगति बिठाने का जोड़तोड़ कर रहा था। सुबोध मिसिर ने सुना कि आज पूरा विश्व एक गाँव बनकर रह गया हैं संचार माध्यमों की अचूक पकड़ से कोई व्यक्ति बाहर नहीं है। वे यह सब सुना करते और देखते कि सैकड़ों सुरक्षा गार्डों के बीच प्रधानमंत्री मांस के निर्जीव लोथड़ों में बिखर जाता है। हजारों जासूसी कुत्ते पाँच साल से हत्यारे की छाया सूँघते घूम रहे हैं। अजीबोगरीब विरोधाभासों और विडम्बना का दौर जारी है। पुरातत्व विभाग के संग्रहालय और अजायबघर की दीवारों पर कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी और कबीर की पाण्डुलिपियाँ मरे शेरों की खाल की तरह टँगी हैं। शब्द अप्रासंगिक हो गये हैं। कविता और इतिहास का अंत हो गया हैं यह सब सुबोध मिसिर अखबारों में पढ़ रहे थे और देख रहे थे कि यहाँ गाँव में अब भी औरतें शादी, समारोह में, छठ और मुण्डन के अवसर पर उसी तरफ फटी साड़ियाँ और

लुगदी पेटीकोट लपेटे गीत गाये जा रहे हैं। ठण्ड में काँपते-ठिठुरते धरने और प्रदर्शन पर जाते हुए लोग कबीर के निर्गुण और तुलसी की चौपाइयाँ सुन-सुना रहे हैं। नारे लगा रहे हैं। वह अकसर सोचा करते कि संचार माध्यमों ने जिस दुनिया को एक गाँव में बदल दिया है उस गाँव के नक्शे में यहाँ की औरतें और लोगों की कोई सूरत और जरूरत क्यों नहीं दिखायी देती? कुएँ में गिरे बैल को निकालने वे लोग क्यों नहीं आते जो मुँह में भोंपा बाँधकर हमें अपने गाँव का वाशिन्दा बताते हुए रोज-रोज चीख रहे हैं एक दिन उन्होंने देखा कि एक मजदूर नेता की, जो लोककथाओं की तरह प्यारा और खूबसूरत था, एक उद्योगपति और शराब के ठेकेदार ने मिलकर हत्या कर दी। आज उसी उद्योगपति ने हिन्दी का सबसे बड़ा पुरस्कार सबसे बड़े जनवादी और मानवतावादी साहित्यकार को दिया है। फ्लैश चमक रहे हैं। फोटो खींचे जा रहे हैं। विचार, आदर्श और नैतिकता बेमानी। यहीं है उत्तर आधुनिकता का खूबसूरत माडल। एक युवा मजदूर की विधवा ने जिस सहायता राशि पर थूक दिया उसी के सूद से हिन्दी का सबसे बड़ा पुरस्कार सबसे बड़ा जनवादी साहित्यकार ले रहा है। बेशर्मी की हद है।

ठीक इन्हीं दिनों उन्हें पंजाब के एक विश्वविद्यालय से लेक्चररशिप का इंटरव्यू देने के लिए एक रजिस्ट्री पत्र आया था। तीन दिन पहले। आज जब वे खेत से आकर बैलों को भूसा-दाना करने का रहे थे तभी उनकी बड़ी वाली बेटी ने उन्हें एक दूसरा पोस्टकार्ड दिया।

यह आचार्य चूड़ामणि का पोस्टकार्ड था। गुरुदेव मुझे अब भी भूले नहीं हैं-यह सोचकर ही सुबोध मिसिर की आँखे छलछला गयीं। कुशलता की कामना के साथ गुरुदेव ने लिखा है कि "अगर तुम्हें फुर्सत हो तो यहाँ चले आओ। पंजाब की यात्रा करनी है। बूढ़ा हो गया हूँ। अकेले यात्रा संभव नहीं है। और अब यहाँ कोई इतना विश्वसनीय नहीं जिसके भरोसे इतनी दूर जाया जा सके।"

वही तारीख! वही जगह! लग रहा है इस इंटरव्यू में गुरुदेव ही एक्सपर्ट हैं

– सुबोध मिसिर खुशी से करीब-करीब काँपने लगे- शायद अब मेरे दुःखों का अंत होने वाला है। ठीक पन्द्रह दिन बाद उन्होंने रामधारी साहु से हजार रुपये उधार लिये और गुरुदेव के चौखट पर हाजिर हो गये।

सुबोध ने देखा, अपने घर के बाहरी हिस्से में, जहाँ कभी गाड़ी खड़ी रहती थी वहीं एक टूटी और धँसी चारपाई पर गुरुदेव मैली-कुचैली सी चीकट रजाई ओढ़कर बैठे हैं। जगह-जगह से फटी बेडशीट नीचे तक झूल रही है। सर्दी का मौसम था। गुरुमाता चारपाई पर पाताने सिकुड़कर बैठी थीं। एक गठरी हो चुकी गुरुमाता। जब सुबोध वहाँ पहुँचे तो गुरुदेव के चेहरे पर हल्की और थकी मुस्कराहट फैल गयी। उन्होंने कोने में रखे पुराने स्टूल की ओर इशारा करके बैठने के लिए कहा। "गुरुदेव आप यहाँ?" – सुबोध ने जगह-जगह से फटी दीवारों वाले गैरजे में लावारिश की तरह पड़े गुरुदेव को देखकर आश्चर्य और करुणा से भरकर पूछा। दीवारों और छत पर वर्षों पुराने मकड़ी के जाले लटक रहे थे। चारों और गंदगी थी।

"हाँ, अब मेरे लिए यही जगह उपयुक्त है। उत्तराधिकार सौंप देने के बाद राजा के लिए जंगलवास ही उचित रहा है।" – बोलते हुए चूड़ामणि जी के शब्द, जो कभी नाभि की ओंऽम ध्वनि की तरह थरथराते हुए निकलते थे, आज जैसे आँखों से भीगकर रेंग रहे थे। पंख फड़फड़ाने की कोशिश में गौरैया के बच्चों की तरह मुँह के बल गिर-गिर जा रहे गुरुदेव के शब्द- "इधर अब थोड़ा एकान्त रहता है" – उन्होंने कहा।

घुटनों में मुँह ढाँपे गुरुआइन अचानक फफक पड़ीं, "बहू उधर जाने नहीं देती। बेटा मउगा है। बात-बेबात झिड़कता रहता है। अब तुम्हारे बाबूजी गठिया के मारे चल नहीं पाते। दो मील पैदल जाकर होमियोपैथ की दवा लाती हूँ। दिन भर के लिए आधा किलो दूध! बेटा, तुमने तो देखा ही है! पांच-पांच किलो दूध का चाय बनाती रही हूँ। आज बूढ़ापे में अपनी थाली अपने हाथ धोओ! गिनी हुई रोटियाँ और मुट्ठी भर चावल!"

"चुप रहो भागमान।" – आचार्य ने पत्नी को संतोष दिलाया और पूछा, "बेटे सुबोध! तुम कैसे हो? घर में बाल-बच्चे? और बहू कैसी है?"

"सब ठीक है गुरुदेव। लेकिन आप यहाँ! और इस तरह?"

"नहीं, मुझे कोई तकलीफ नहीं है। पत्नी अपनी आदत से लाचार है। बहू से नहीं पटती। खैर छोड़ो! मुझे यहाँ बहुत सुख है।"

सुबोध ने देखा था वह दिन-कालीन के चारों तरफ बिछी कुर्सियाँ। स्वयं तख्त के मोटे गद्दे पर मसनद के सहारे अधलेटे आचार्य चूड़ामणि का व्यक्तित्व। हिन्दी जगह का यह प्रचण्ड सूरमा शत्रु शिविर में ऐरावत की तरह, अपने सामने डीन, वाइस चांसलर या अन्त्री-मन्त्री किसी को कुछ नहीं समझता था। सूर पंचशती समारोह का विराट समागम! देश के कोने-कोने से आये मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र से लेकर संरचनावादी समीक्षा सिद्धान्तों के पचासों विद्वान, सबके बीच दिप-दिप करता आचार्य का अपना प्रभामण्डल! सभी उनके सामने दण्डवत थे। किसी को थीसियों का परीक्षक बनना था तो किसी को अपनी किताब पाठ्यक्रम समिति से पास करानी थी। किसी को बहू की नियुक्ति चाहिए, तो किसी को यू.जी.सी. की ग्रान्ट। आज वही गुरुदेव लावारिस की तरह अपने ही घर के एक कोने में खो गये-सुबोध मिसिर भौंचक थे।

"अच्छा तुम ऐसा करो कि मुमुक्ष भवन में जाकर ठहर जाओ"- आचार्य ने कहा – "कल सुबह पंजाब मेल से अंबाला तक का रिजर्वेशन है। वहाँ से बस की यात्रा करनी पड़ेगी।"

"गुरुदेव! मैंने भी उस जगह के लिए आवेदन किया था।" सुबोध ने बताया, "मेरा भी इंटरव्यू लेटर आया है। क्या आपको मालूम है कि दूसरे कौन-कौन एक्सपर्ट हैं?"

अब तक आचार्य जी के मुखमंडल पर शिष्यत्व की जो ममता झलक रही थी अचानक यह सुनते ही कर्तव्यपराणता के बोझ से दबकर कठोर रुख बदलने

लगी। स्वर मद्धिम हो गया। बोले, "चलो, यह तो बहुत ही अच्छा है। लेकिन तुम यह बात यहाँ किसी से बताना मत। मुझे तुम्हारी बहुत चिंता है।"

गुरुआइन ने कहा, "अब इन्हें कौन पूछता है बेटा! पहले सब लोग यहीं माथा रगड़ते थे। अब इसी शहर में आकर चुप-चुप चले जाते हैं। अगर गोहत्या का भय न हो तो लोग बुढ़े बैल को गोली मार दें।"

लखनऊ से अम्बाला तक की यात्रा आचार्य ने सोकर पूरी की। दूसरे सारे मुसाफिर उनकी नाक की घर्र-घर्र और खाँसी के मारे ऊब-ऊब कर करवट बदलते रहे। आँखों के अलावा गुरुदेव के सारे अंगछिद्र मिनट-मिनट पर विस्फोट कर रहे थे। श्रद्धा अतीन्द्रिय नहीं होती। खुद सुबोध को भी दिक्कत हो रही थी।

अम्बाला से बस का सफर करते हुए गुरुदेव सुबोध से हिसाब-किताब लेते रहे। खेती में कितना फायदा हो जाता है। "हम लोग बचपन में चने का होला खाकर ईख चूस लेते थे। पेट भर जाता था। शहरों में तो बहुत प्रदूषण और मिलावट बढ़ गयी है। एक तो बिजली नहीं आती दूसरे बिल बहुत देना पड़ता हैं 'महिशं च शरद् चन्द्र चन्द्रिका धवलं दधिः'। कालिदास ने लिखा है - शरद कालीन चन्द्रमा की चाँदनी की तरह भैंस की सुन्दर सजाव दही! पढ़कर लार टपकने लगती। यह सब गाँव में ही सम्भव है। शुद्ध हवा और बे-मिलावट भोजन।"

"लेकिन गुरुदेव, गाँव तो नरक हो चुके हैं। खेती की हर फसल किसानों को कर्ज में डुबोकर चली जाती है। दो जून के भोजन के अलावा अब वहाँ कुछ भी नहीं है।"

"यह तुम्हारा भ्रम है सुबोध! शहरों के लिए तुम्हारा आकर्षण ठीक है, लेकिन गाँवों के प्रति तुम्हारे विचार अच्छे नहीं है।"

सुबोध ने सोचा- क्यों नहीं आप गाँवों में चले जाते। कौन आपको रोके है। लेकिन गुरुदेव की बात। वे चुप लगाये रहे।

उतरने वाले स्टेशन के थोड़ा पहले ही चूड़ामणि जी ने सुबोध को हिदायत दी, "तुम पीछे से उतरकर दूसरी ओर चले जाना। वरना, कोई तुम्हें मेरे साथ देख लेगा तो पक्षपात का आरोप लगेगा। लोगे कहेंगे कि 'कैंडिडेट' लेकर आये हैं।"

सुबोध ने कहा, "जैसी इच्छा गुरुदेव!"

इंटरव्यू बोर्ड में दिल्ली के एक प्रचंड वामपन्थी थे और दूसरे राजस्थान के वाममार्गी। तीसरे स्वयं आचार्य चूड़ामणि, जिनके पुत्र को अभी बनारस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनना था। सुबोध मिसिर ने इंटरव्यू बोर्ड में बैठे आचार्य को देखा। निर्वीय पौरुष की समस्त वासना निरीह आँखें में दीन याचना बनकर चुपचाप बैठी थी। वामपंथी आचार्य ने उनसे अलंकार और रीति की सामाजिक और साहित्यिक महत्व पूछा। राजस्थान के वामामार्गी नाथ सम्प्रदायी आचार्य ने भाषा विज्ञान का 'ग्रिम नियम'।

सुबोध मिसिर सवालों का जवाब ठीक से नहीं दे पाये। इंटरव्यू खराब हो गया। इसलिए नहीं कि पिछले कई सालों से उनकी पढ़ायी-लिखायी नहीं हो सकी थी, बल्कि इसलिए कि इंटरव्यू का अच्छा या बुरा होना अंततः और एकमात्र एक्सपर्ट पर ही निर्भर करता है। अब उन्हें अपने गुरुदेव आचार्य चूड़ामणि से ही अंतिम उम्मीद थी।

"तुमने तो मेरी सारी उम्मीद पर ही पानी फेर दिया।"- बाहर निकलकर आचार्य चूड़ामणि ने बताया।

"नियुक्ति किसकी हुई गुरुदेव?" बस अड्डे की ओर लौटते हुए सुबोध मिसिर ने बहुत धीमे और रुआँसे स्वर में पूछा।

रात हो रही है। चौड़ी और चिकनी सड़कों के दोनों ओर नियान लाइटों और हाइलोजन के पीले प्रकाश में जलपरी की तरह तैरती-भागती कारें। खिलखिलाती लड़कियाँ। समूचा शहर एक नशीले संगीत की लय पर थिरक रहा था। उनका प्रश्न डूब गया था। किसी अदृश्य लोक की स्वप्न सुन्दरी ने अपने

वैभव का पारदर्शी नीला आँचल बाजारों के ऊपर फैला दिया था। पैदल चलते हुए आगे-आगे गुरुदेव और पीछे सुबोध मिसिर। वह अपने गाँव के रामधारी साहु से उधार लिये एक हजार रुपये, अपनी पत्नी और जवान होती बेटियों के बारे में सोच रहे थे। कहाँ से चुकायेंगे यह एक हजार रुपया। उनका दिल डूब रहा था। गुरुदेव ने बताया, "रजिस्ट्रार की पुत्रवधू की नियुक्ति हुई है। सब कुछ पहले से तय था। कहने को लोग वामपंथी बनते है, लेकिन प्रोफेसरों की एक ही जाति होती है और एक ही विचारधारा। कौन उन्हें परीक्षक बनाकर हवाई जहाज का किराया दे सकता है! बस। मैंने बहुत दुनिया देखी है। बनारस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर की नियुक्ति होने वाली है। शायद यही एक्सपर्ट होकर आयें। इसलिए मैं चुप लगा गया। किसी तरह श्रवण कुमार प्रोफेसर हो जाता।"

अम्बाला कैंट तक पहुँचने में रात के नौ बज गये थे। गाड़ी अभी चार घंटे लेट थी। "ए.सी. और फर्स्ट क्लस में मैंने बहुत यात्राएँ की हैं। ऊब और एकान्त अब सहा नहीं जाता। देखों, सेकेण्ड क्लास में रिजर्वेशन मिल पाता है या नहीं?" आचार्य ने सुबोध से कहा, "तुम टी.टी. को बता देना कि बनारस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।"

कुर्ते के नीचे मारकीन की बनियान। बनियान के भीतर चोरथैली। रामधारी साहु की बनियान की तरह आचार्य की बनियान में भी चोरथैली। ए.सी. का किराया मिला है। लेकिन गुरुदेव ने चोरथैली से निकालकर सौ-सौ के दो नोट सुबोध को थमाये, "सेकेण्ड क्लास का टिकट ले लेना।"

"अभी गाड़ी आने में बहुत देर है" चूड़ामणि जी ने सुबोध से कहा, "यहाँ से तीन किलोमीटर दूर तक देवी का मन्दिर है, एकदम निर्जन स्थान में। कहा जाता है कि सच्चे मन से वहाँ माँगी गयी हर मन्नत पूरी हो जाती है। मुझे तुम्हारी भी बहुत चिन्ता रहती है सुबोध!"

शायद गुरुदेव मेरे लिए सोच रहे हैं। अगर कोई गुरु देवी के सामने जाकर

सच्चे मन से अपने शिष्य के लिए मन्नत माँगे तो समूचे ब्रह्माण्ड में इससे पवित्र प्रार्थना और क्या हो सकती है? - सुबोध ने सोचा।

अँधेरी रात है। निर्जन स्थान। रिक्शा तो मिलेगा नहीं। "लेकिन कोई बात नहीं गुरुदेव! गाँव का रहने वाला हूँ। बोझा ढोने की आदत है। ईख और ज्वार के बड़े-बड़े बोझ खेत से लेकर आता हूं। तीन किलोमीटर कोई दूरी नहीं है!" - सुबोध ने कहा और गुरुदेव का भारी होल्डाल और अटैची सिर पर लादकर चल पड़े। अपना झोला उन्होंने गले में लटका लिया। - "आप बस रास्ता बताते जाइए गुरुदेव!"

एक किलोमीटर बाद शहर खत्म हो गया। मुख्य सड़क से हटकर खेतों के बीच एक पगडंडी। दो किलोमीटर और चलना है- गुरुदेव ने कहा, "पता नहीं क्यों मुझे आज बहुत डर लग रहा है।"

गहरी अँधेरी रात थी। सिर पर भारी होल्डाल, अटैची और गले में झोला लटकाये आगे-आगे सुबोध मिसिर और पीछे-पीछे अब भूतपूर्व हो चुके बनारस विश्वविद्यालय के अभूतपूर्व आचार्य चूड़ामणि। उनके पैर बार-बार धोती में फँसकर उलझ जा रहे थे। जाड़े का मौसम था। तेज बर्फीली हवा चल रही थी। "लग रहा है शिमला में बर्फ गिरी है। इस साल ठण्ड बहुत पड़ेगी।" - कंबल को कसकर शरीर पर लपेटते हुए आचार्य ने कहा।

"मुझे तो पसीना हो रहा है गुरुदेव!" - सुबोध मिसिर की काँपती आवाज होल्डाल के भारी वजन से दबी जा रही थी।

"गाँव का आदमी श्रम करता रहता है। कर्मवीर और सच्चा प्रकृति पुत्र। इसीलिए निरोग रहता है। पता नहीं क्यों आजकल लोग शहरों की ओर भाग रहे हैं। मुझे तो गाँव बहुत अच्छे लगते हैं। रिश्तों की आदिम गंध में डूबे गाँव। शहर में तो कोई किसी को पहचानता ही नहीं। चारों ओर मतलब और स्वार्थ!" - गुरुदेव ने कहा।

बस, बस यही सामने। चारों ओर ईख और धान के कटे खेत। सन्नाटे में डूबा छोटा सा मन्दिर। तेलियों के बटखरे की तरह काली और बेढब सी गुप्तकलीन पत्थर की मुर्ति। न कोई तराश ना भव्यता। आचार्य ने आँखे बंद कीं और श्रद्धा से हाथ जोड़ा। "विदेशों में यह करोड़ों की बिकेगी। सरकार को सुरक्षा का इंतजाम करना चाहिए" - गुरुदेव ने चिंता जतायी और बताया, "हल जोतते समय खेत के भीतर मिली थी यह मूर्ति।"

गांव में तो कोई इसका पाँच रुपया भी ना देगा- सुबोध ने आश्चर्य से गुरुदेव को देखा।

"पहले तुम अपने लिए कुछ माँग लो!" आचार्य ने कहा - "लेकिन पूरे मन से तन्मय होकर। स्पष्ट उच्चारण के साथ।"

सुबोध हाथ जोड़कर खड़े हो गये, "माँ, मुझे नौकरी चाहिए! हाई स्कूल, इण्टरमीडिएट से लेकर बी.ए., एम.ए. किसी भी कक्षा में पढ़ा सकता हूँ। मुझे पढ़ाने की नौकरी चाहिए माँ! मैं गुरु ऋण से उऋण होना चाहता हूँ। सरस्वती का कलंक सिर पर लादे, मैं अपनी समूची आस्था के साथ तुमसे पापमुक्ति की प्रार्थना कर रहा हूँ। मुझे गाँव के अँधेरे नर्क से निकालकर चाहे जहाँ कहीं भेज दो। मैं वहाँ नहीं रहना चाहता। सारा गाँव मेरी पढ़ायी-लिखायी पर हँसता है।"

काली अँधेरी रात। निस्तब्ध सन्नाटा। सुबोध प्रार्थना कर रहे थे। उनके एक-एक शब्द, जैसे चिता में आत्मदाह करती किसी विधवा की चीख आग की लपटों में छटपटा रही हो। उनकी आँखों से आँसू छलछला आये थे।

उसके बाद आचार्य चूड़ामणि जी मूर्ति के सामने उपस्थित हुए। सुबोध ने सोचा, जो कुछ कसर रह गयी होगी मेरे माँगने के ढंग में, उसे गुरुदेव जरूर पूरा कर देंगे। वे चूड़ामणि जी के ठीक पीछे निश्चल भाव से खड़े हो गये। भावमग्न।

आचार्य ने पहले हाथ जोड़ा और फिर आँखें मूँद लीं। तीन-चार लम्बी-लम्बी साँसें खींची। प्रणायाम की दीर्घ साधना में उन्होंने शब्द को नाभि तक खींचकर

थरथराते मन्द्र स्वर में पहले ओऽम का उच्चारण किया। फिर हाथ को माँ के पैरों पर टेक कर जमीन पर लेट गये। थोड़ी देर तक एकदम शान्त। अचानक उनके गले से रोने की आवाज फूटी। सुबोध ने देखा, दुनिया का सबसे दुःखी आदमी माँ के पैरों पर गिरा पड़ा है। करुण हिचकियों में गुरुदेव के शब्द डूब-उतरा रहे थे, "माँ, मेरे बेटे को प्रोफेसर बना देना। हाँ माँ प्रोफेसर! समूचा हिन्दी जगह मेरे उपकार के बोझ से दबा है। लेकिन मुझे अब किसी पर भरोसा नहीं रह गया। मेरा दुर्दिन जानकर मेरे ऊपर दया करो माँ!"

यह क्या कह रहे हैं गुरुदेव! - सुबोध मिसिर थरथर काँप रहे थे। कृतध्नता का यह चरम रूप देखकर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

"अच्छा तो गुरुदेव, प्रणाम! - मैं जा रहा हूं।"

आचार्य ने सुना और लेटे-लेटे पीठ के बल उलट गये, "मुझे इस तरह यहाँ अकेले छोड़कर सुबोध?" उन्होंने याचना के से स्वर में पूछा।

"हाँ! इसी तरह। इसी अँधेरे में। यहीं पड़-पड़े रोते रहें।"सुबोध के हाथ में एक हल्का सा झोला था। वे उसे उँगलियों में नचाते, गुब्बारे की तरह हवा में लहराते चले जा रहे थे।

अचानक उन्हें अपने पीछे किसी की हिचकियाँ और रोने की आवाज सुनायी दी। उन्होंने मुड़कर देखा। उन्होंने देखा कि सिर पर भारी होल्डाल और अटैची लादे आचार्य चूड़ामणि भागते-भागते गिरते-पड़ते चले आ रहे हैं।

(कथादेश, मार्च 1998)

देवेन्द्र

कथाकार देवेन्द्र का जन्म जनवरी 1958 को गाजीपुर जिले के पिपनार गांव में हुआ। यूं देवेन्द्र ने कहानी लिखने की शुरूआत तो नवें दशक के अंतिम दौर

में कर दी थी और अपनी शुरूआती कहानी 'शहर कोतवाल की कविता' से ही अपनी पहचान बना ली थी, लेकिन वे महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए अंतिम दशक में। देवेन्द्र ने कम कहानियां लिखीं, लेकिन लगभग सभी महत्वपूर्ण। कहानी संग्रह अभी तक एक ही है - 'शहर कोतवाल की कविता'। समीक्षा की भी एक पुस्तक है- 'नक्सलवाड़ी आन्दोलन ओर समकालीन हिन्दी कविता'। पुरस्कार दो हैं - 'इन्दु शर्मा कथा पुरस्कार' (1996) और 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' का यशपाल कथा सम्मान (1998)।

सम्पर्क :- विश्वेश्वर दयाल मिश्र नगर, बेहजम रोड,
लखीमपुर खीरी, उत्तर प्रदेश
मो. - 09451237049

बाज़ार में रामधन

कैलाश बनवासी

यह बालोद का बुधवारी बाज़ार है।

बालोद इस जिले की एक तहसील है। कुछ साल पहले तक यह सिर्फ़ एक छोटा-सा गांव हुआ करता था। जहां किसान थे, उनके खेत थे, हल-बक्खर थे, उनके बरगद, नीम और पीपल थे। पर अब यह एक छोटा शहर की सारी खूबियां लिए हुए। आसपास के गांव-देहातों को शहर का सुख और स्वाद देने वाला। इसी बालोद के हफ्तावार भरने वाले बुधवारी बाज़ार की बात है। रामधन अपने एक जोड़ी बैल लेकर यहां बेचने पहुंचा था।

बाज़ार अभी भरना बस शुरू ही हुआ था, वैसे भी ढाई-तीन बजे धूप में ख़रीदारी करने कौन निकलता है? इसके बावजूद यहां चारों तरफ़ रंगीनी और रौनक है। पता नहीं क्या बात है, रामधन जब भी यहां आता है, बाज़ार और शहर की रौनक को बढ़ा हुआ ही पाया है।

अपने बैलों को लेकर वह उधर बढ़ गया जहां गाय-बैलों का बाज़ार भरता है। बैलों का यह कोई कम बड़ा बाज़ार नहीं है। बैलों का पूरा हुजूम मौजूद है। दो-ढाई सौ से भला क्या कम होंगे।

रामधन के चेहरे-मोहरे, उसकी चीकट बंडी और मटमैली धोती-जिसका मटमैला रंग किसी साबुन-पानी से नहीं घुलता-देखकर कोई भी सहज जान सकता है कि वह किस स्तर का आदमी है। रामधन के बारे में कुछ मोटी-मोटी

जानकारी दे देना मैं उचित समझता हूं। उमर होगी उसकी लगभग बत्तीस साल की। संपत्ति के नाम पर दो एकड़ खेत हैं, दो बैल और एक टूटता-फूटता पुरखौती कच्चा मकान। परिवार में बुढ़िया मां है, पत्नी, दो बच्चे और एक छोटा भाई है-मुन्ना। रामधन चौथी कक्षा तक ही पढ़ा हुआ है लेकिन मुन्ना को बारहवीं पास किए हुए दो साल गुज़र चुके हैं। रामधन ने अपने छोटे भाई को कॉलेज नहीं पढ़ाया। कुछ तो इसलिए कि उनके सरीखे लोगों के पढ़ने-लिखने से कुछ होता-हवाता नहीं। दूसरी बात और असल बात-वही घर की आर्थिक तंगी। वैसे यह शब्द मैं जान-बूझकर प्रयोग नहीं करना चाहता था, लेकिन मुझे लगता है, यह एक बेहद गंभीर और संवेदनशील शब्द है। मुझे यह भी लगता है कि दुनिया भर के वक्ताओं ने घसीट-घसीटकर दूसरे तमाम बड़े और महान शब्दों की तरह इसे भी ठस्स और निर्जीव बना डाला है। इसे लिखते हुए मुझे इस बात का डर है कि समाचारों में रोज़ जाने वाले शब्दों की तरह सस्ता और अर्थहीन न रह जाए।

ख़ैर! तो रामधन और उसकी पत्नी मेहनत-मजूरी करके ही अपना पेट पाल सकते हैं। और पाल रहे हैं। लेकिन मुन्ना क्या करें? वह तो यहां गांव का पढ़ा-लिखा नौजवान है, जिसे स्कूली भाषा में कहें तो देश को आगे बढ़ानेवालों में से एक है। वह पिछले दो सालों से नौकरी करने के या खोजने के नाम पर इधर-उधर घूम रहा हैं परंतु अब वह इनसे भी ऊब चुका है और कोई छोटा-मोटा धंधा करने का इच्छुक है। लेकिन धंधा करने के लिए पैसा चाहिए। और पैसा?

"भइया, बैलों को बेच दो!"

मुन्ना ने यह बात किसी खलनायक वाले अंदाज़ में नहीं कही थी। उसने जैसे बहुत सोच-समझकर कहा था। इसके बावजूद रामधन को गुस्सा आ गया, "ये क्या कह रहा है तू?"

"ठीक ही तो कह रहा हूं मैं! बेच दो इनको। मैं धंधा करूंगा!"

रामधन को एक गहरा धक्का लगा था, अब यह भी मुंह उठाकर बोलना सीख गया है मुझसे लेकिन इससे भी ज़्यादा दुःख इस बात का हुआ कि मुन्ना उसे बेचने को कह रहा है जो उनकी खेती का आधार है। रामधन ने बात गुस्से में टाल दी, "अगर कुछ बनना है, कुछ करना है तो पहले उतना कमाओ! इसके लिए घर की चीज़ क्यों ख़राब करता है? पहले कमा, इसके बाद बात करना! हम तेरे लिए घर की चीज़ नहीं बेचेंगे। समझे?"

लेकिन बात वहीं ख़त्म नहीं हुई। झंझट था कि दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था।

"आखिर ये दिन भर यहां बेकार में बंधे ही तो रहते हैं। खेती-किसानी के दिन छोड़कर कब काम आते हैं? यहां खा-खाकर मुटा रहे हैं ये!" मुन्ना अपने तर्क रखता।

"अच्छा, तो हमारा काम कैसे चलेगा?"

"अरे, यहां तो कितने ही ट्रैक्टर वाले हैं, उसे किराए से ले आएंगे। खेत जुतवाओ, भिजवाओ और किराया देकर छुट्टी पाओ!"

"वाह! इसके लिए तो जैसे पइसा-कौड़ी नहीं देगा? दाऊ क्या हमारा ससुर है तो फ़ोकट में ट्रैक्टर की कर रहा है तू, मालूम भी है भी है उसका किराया?"

"लगेगा क्यों नहीं? क्या इनकी देखभाल में खरचा नहीं लगता?"

"लगता है, मगर तेरे ट्रैक्टर से कम! समझे? बात तो ट्रैक्टर की कर रहा है तू, मालूम भी है उसका किराया?"

"मालूम है इसलिए तो कह रहा हूं। यहां जब बैल बीमार पड़ते हैं तो कितना ही रुपया उनके इलाज-पानी में चला जाता है, तुम इसका हिसाब किए हो? साला पैसा अलग और झंझट अलग!"

"मगर किसी की बीमारी को कौन मानता है?"

"तभी तो मैं कहता हूं, बेचो और सुभीता पाओ!"

बातचीत हर बार अपनी पिछली सीमा लांघ रही थी। कहने को तो मुन्ना यहां तक कह गया था कि इन बैलों पर सिर्फ़ तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी हक़ है।

इस बात ने लाजवाब़ कर दिया था रामधन को। और अवाक्! कभी नहीं सोचा था उसने कि मुन्ना उसके जैसे सीधे-सादे आदमी से हक़ की बात करेगा। मुन्ना को क्या लगता है, मैं उसका हिस्सा हड़पने के लिए तैयार बैठा हूं? रामधन खूब रोया था इस बात पर... अकेले में।

बैल उसके पिता के ख़रीदे हुए हैं, यह बात सच है। जाने किस गांव से भागकर इस गांव में आ गए थे बैल, तब ये बछड़े ही थे और साथ में बंधे हुए थे। किसी ने पकड़कर कांजी हाउस के हवाले कर दिया था उन्हें। नियम के मुताबिक़ कुछ दिनों तक उनके मालिक का रास्ता देखा गया ताकि जुर्माना लेकर छोड़ सकें। लेकिन जब इंतज़ार करते-करते ऊब गए और कोई उन्हें छुड़ाने नहीं पहुंचा तो सरपंच ने इनकी नीलामी करने का फ़ैसला किया था। यह संयोग ही था कि रामधन के गंजेड़ी बाप के हाथ में कुछ रुपए थे। और सनकी तो वह था ही। जाने क्या जी में आया जो दोनों बछड़े वहां से ख़रीद लाया। तब से ये घर में बंध गए और रामधन की निगरानी में पलने लगे। खेत जोतना, बैलगाड़ी में फांदना, उनसे काम लेना और उनके दाना-भूसा का ख़याल रखना, उनको नहलाना-धुलाना और उनके बीमार पड़ने पर इलाज के लिए दौड़-भाग करना-सब रामधन का काम था। तब से ये बैल रामधन से जुड़े हुए हैं। इनके जुड़ने के बाद रामधन इतना ज़रूर जान गया कि भले ही बेचारों के पास बोलने के लिए मुंह और भाषा नहीं है, लेकिन अपने मालिक के लिए भरपूर दया-माया रखते हैं। इनकी गहरी काली तरल आंखों को देखकर रामधन को यह भी लगता है, ये हमारे सुख-दुःख को खूब अच्छी तरह समझते हैं- बिल्कुल अपने किसी सगे की तरह। तभी तो वह उन्हें इतना चाहता है। इतना लगाव रखता है।

इन्हें बेचने की बात उठी, तबसे ही उसे लग रहा है, जैसे उसकी सारी ताक़त जाने लगी है।

रामधन मुन्ना को समझा नहीं पा रहा था। वह समझा भी नहीं सकता था। अब कैसे समझाता इस बात को कि बैल हमारे घर की इज़्ज़त है.... घर की शोभा है। और इससे बढ़कर हमारे पिता की धरोहर है। उस किसान का भी कोई मान है समाज में, जिसके घर एक जोड़ी बैल नहीं हैं! कैसे समझाता कि हमारे साथ रहते-रहते ये भी घर के सदस्य हो गए हैं। जो भी रुखा-सूखा, पेज-पसिया मिलता है, उसी में खुश रहते हैं। वह मुन्ना से कहना चाहता था, तुमको इनका बेकार बंधा रहना दिखता है मगर इनकी सेवा नहीं दिखती? इनकी दया-मया नहीं दिखती?

और सचमुच मुन्ना को कुछ दिखाई नहीं देता। उसके सिर पर तो जैसे भूत सवार है धंधा करने का। रोज़-रोज़ की झिक-झिक से उसकी पत्नी भी तंग आ चुकी है- रोज़ के झंझट से तो अच्छा है कि चुपचाप बेच दो। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी!

मुन्ना कहने लगा है- अगर तुम नहीं बेच सकते तो मुझसे कहो। मैं बेच दूंगा उन्हें बढ़िया दाम में!

... बाजार की भीड़ अब बढ़ रही है। चारों तरफ़ शोरगुल और भीड़भाड़। यहां की रौनक देखकर रामधन को महादेव घाट के मेले की याद आई। हर साल माघी पुन्नी के दिन भरने वाला मेला। वहां भी ऐसी ही भीड़ और रौनक होती हैं पिछले साल ही तो गया था उसका परिवार। और पास-पड़ोस के लोग भी गए थे-जितने उसकी बैलगाड़ी में समा जाएं। सब चलो! पूरी रात भर का सफ़र था। और जाड़े की रात। फिर भी मेले के नाम पर इतना उत्साह कि सब अपना कथरी-कंबल संभाले आ गए थे। रामधन को आज भी वह रात याद है- अंजोरी रात का उजाला इतना था कि हर चीज़ चांदनी में नहा-नहा गई थी, खेत, मेंड, नहर, पेड़, तालाब.... जैसे दिन की ही बात हो।

उनके हँसने-खिलखिलाने से जैसे बैलों को भी इसका पता चल गया था, रात भर पूरे उत्साह और आनंद से दौड़ते रहे... खन्-खन् खन्-खन्....!

... गाय-बैलों का एक मेला-सा लग गया है यहां। हर क़िस्म के बैल। काले-सफेद, लाल, भूरे और चितकबरे और अलग-अलग काठी के बैल - नाटे, दुबले, मोटे...ग्राहकों की आवाजाही और पूछताछ शुरू हो चुकी है। बैलों के बाज़ार में धोती-पटका वाले किसान हैं। सौदेबाजी चल रही है।

रामधन के बैलों को भुलऊ महाराज परख रहे हैं। आस-पास के गांवों में उनकी पण्डिताई ख़ूब जमी हैं। चाहे ब्याह करना हो, सत्यनारायण की कथा करानी हो, मरनी-हरनी पर गरुड़-पुराण बांचना हो- सब भुलऊ महाराज ही करते हैं। कुछ साल पहले तक तो कुछ नहीं था इनके पास। अब पुरोहिती जम गई तो सब कुछ हो गया। खेती-बाड़ी भी जमा चुके हैं अच्छी-खासी।

महाराज बैलों के पुट्ठों को ठीक तरह से ठोंक-बजाकर देखने के बाद बोले,

"अच्छा रामधन, जरा इनको रेंगाकर दिखाओ। चाल देख लूं।"

रामधन ने बीड़ी का धुआं उगलकर कहा, "अरे, देख लो महाराज.... तुमको जैसे देखना है, देख लो! हम कोई परदेसी हैं जो तुम्हारे संग धोखाधड़ी करेंगे।"

रामधन ने बैलों को कोंचकर हकाला, "हो... रे...रे...च्चल!" दोनों बैल आठ-दस डग चले फिर वापस अपनी जगह पर।

भुलऊ महाराज बगुला भगत बने बड़े मनोयोग से बैलों का चलना देख रहे थे-कहीं कोई खोट तो नहीं है! कहने लगे, "देखों भइया, मैं तो कुछ भी चीज़ लेता हूं तो जांच-परखकर लेता हूं।"

"देखो न महाराज, रोकता कौन है? न मैं कहीं भाग रहा हूं न मेरे बैल। अच्छे-से देख लो। धोखाधड़ी की कोई बात नहीं है। फिर बाम्हन को दगा देकर हमको नरक में जाना है क्या?"

भुलऊ महाराज, के चहरे से लगा, रामधन के उत्तर से संतुष्ट हुए। बोले "अच्छा, अब ज़रा इनका मुंह खोलकर दिखाओ। मैं इनके दांत गिनूंगा।"

"अभी लो। ये कौन बड़ी बात है।" रामधन ने बीड़ी फेंककर अपने बैलों के मुंह खोल दिए। भुलऊ महाराज अपनी धोती-कुरता संभालते हुए नजदीक आए और बैलों के दांत गिनने लगे।

दांत गिनते हुए महाराज ने पूछा, "तुम्हारे बैल कोढ़िया तो नहीं हैं?"

"ठीक है भई, ठीक है। मान लिया। अब तुम कहते हो तो मान लेते हैं।" महाराज व्यर्थ ही हँसे, फिर अपने बंद छाते की नोक को कसकर ज़मीन में धांसा-मानो अब सौदे की बात हो जाए। महाराज ने अपने को थोड़ा खांस-खंखारकर व्यस्थित किया, फिर पूछा, "तो बताना भाई, कितने में दोगे?"

रामधन विनम्र हो गया, "मैं तो पहले ही बता चुका हूं मालिक...."

नाराजगी से भुलऊ महाराज का चंदन और रोली का तिलक लगा माथा सिकुड़ गया, "फिर वही बात! वाजिब दाम लगाओ, रामधन।"

"बिल्कुल वाजिब लगा रहा हूं महाराज। भला आपसे क्या फ़ायदा लेना।" रामधन ने उसी नम्रता से कहा।

ज़ाफ़रानी ज़र्दा वाले पान का स्वाद महाराज के मुंह में बिगड़ गया। पीक थूककर खीजकर बोल, "क्या यार रामधन! जान-पहचान के आदमी से तो कुछ कम करो। आख़िर एक गांव-घर होने का कोई मतलब है कि नहीं? आंय!""

रामधन का जी हुआ कह दे, 'तुम तो लगन पढ़ने के बाद एक पाई कम नहीं करते। आधा-अधूरा बिहाव छोड़कर जाने की धमकी देते हो अगर दक्षिणा तनिक भी कम हो जाए। गांव-घर जब तुम नहीं देखते तो भला मैं क्यों देखूँ?' लेकिन लगा इससे बात बिगड़ जाएगी। उसने सिर्फ़ इतना ही कहा, "नहीं पड़ेगा महाराज, मेरी बात मानो। अगर पड़ता तो मैं दे नहीं देता।"

भुलऊ महाराज अब बुरी तरह बमक गए और गुस्से से उनके पतले लम्बूतरे चेहरे की नरम झुर्रियां लहरा उठीं, "तो साले, एक तुम्हीं हो जैसे दुनिया

में बैल बेचने वाले? बाक़ी ये सब तो मुंह देखने वाले हैं! इतना गुमान ठीक नहीं है, रामधन!"

महाराज की तेज़ आवाज से आसपास के लोगों का ध्यान इधर ही खिंच गया। रामधन ने इस समय गज़ब की शाति से काम लिया, "मैं कब कह रहा हूं महाराज। तुमको नहीं पोसाता तो इन खरीदो, दूसरा देख लो। यहां तो कमी नहीं है जानवरों की।" इतना तो रामधन भी जानता था कि ग्राहक भले ही गुस्सा हो जाए, बेचने वाले को शान्त रहना चाहिए।

महाराज गुस्से से थरथराते खड़े रहे। कुछ लोग आसपास घेरा बनाकर जमा हो गए, गोया कोई तमाशा हो रहा हो।

इधर-उधर घूमकर सहदेव फिर वापस आकर खड़ा हो गया था और सारा माजरा देखता रहा था चुपचाप। बोला, "देखो रामधन, तुमको पोसा रहा है तो बोलो, मैं अभी खड़े-खड़े ख़रीद लेता हूं।"

रामधन जानता है सहदेव को। यह गांव-गांव के बाज़ार-बाज़ार घूमकर गाय-बैलों की ख़रीदारी में दलाली करता है। ख़रीदार के लिए विक्रेता को पटाता है और विक्रेता के लिए ग्राहक। ये बैल के पारखी होते हैं। सहदेव कुथरेल गांव के भुनेश्वर दाऊ के लिए दलाली कर रहा है।

रामधन अपने बैलों की तरफ़ पुआल बढ़ाता हुआ बोला, "नहीं भाई, इतने कम में नहीं पोसाता सहदेव।"

रामधन का वही सधा हुआ और ठहरा हुआ टका-सा जवाब सुनकर जैसे महाराज की देह में आग लग गई, "देख...देख... इसको! कैसा जवाब देता है? मैं कहता हूं, अरे, कैसे नहीं पोसाएगा यार? सब पोसाएगा! देख सब जगे सौदा पट रहा है..." झल्लाहट में महाराज के कत्था से बुरी तरह रचे काले-भूरे दांत झलक गए।

"मैं तो कह रहा हूं महाराज। हाथ जोड़कर कह रहा हूं।" रामधन ने सचमुच हाथ जोड़ लिए। "आप वहीं खरीद लो!"

अब सहदेव भी बिदक गया, हालांकि वह शांत स्वभाव का आदमी है। बोला, "ले रे स्साले! ज़्यादा नखरा झन मार! तेरे बैल बढ़िया दाम में बिक जाएंगे। देख, तेरे बैल ख़रीदने भुनेसर दाऊ ख़ुद आए हैं।"

रामधन ने कुथरेल के भुनेश्वर दाऊ को देखा, जो सामने खड़े थे, सौदेबाजी देखते। अधेड़ दाऊ की आंखों में धूप का रंगीन चश्मा है, सुनहरी फ्रेम का। वे बड़े इत्मीनान और बेहद सलीके से पान चबाते खड़े हैं। भुलऊ महाराज की तरह गंवारूपन के साथ नहीं, जिनके होंटों से पान की पीक लगातार लार की तरह चू रही है।

रामधन को बहुत असहज लग रहा था.... इस भीड़ के केंद्र में वही है। और ऐसा बहुत कम हुआ है। सब पीछे पड़े हैं। एक क्षण को गर्व भी हुआ उसे अपने बैलों पर। उसने बैलों को पुचकार दिया और बैलों की गले की घंटियां टुनटुना उठीं।

अब दाऊ ने अपना मुंह खोला, "देखो भाई, मुझको तो हल-बैल का कुछ नहीं मालूम। मैं तो नौकरों के भरोसे खेती करने वाला आदमी हूं। बस, हमको बैल बढ़िया चाहिए-खूब कमाने वाला। कोढ़िया नहीं होना चाहिए बैल..."

रामधन ने अपने बैलों को दुलारा, "शक-सुबो की कोई बात नहीं है दाऊ। मैं अपने मुंह से इनके बारे में क्या कहूं, गांव के किसी भी आदमी से पूछ लो, वह बता देगा आपको। आप चाहो तो इनको दिन भर दौड़ा लो, पानी छोड़कर कुछ और नहीं चाहिए इनको।"

वहां खड़े-खड़े भुलऊ महाराज का धैर्य और संयम अब चुकने लगा था। बोले, "तीन हज़ार दो सौ दे रहा हूं! नगद! और कितना दूंगा? ....साले दो-टके के बैल!.... आदमी और कितना देगा?"

रामधन अटल है, "नहीं पड़ेगा महाराज! चार हज़ार माने चार हज़ार!"

अब महाराज के चेहरे पर गुस्सा, क्षोभ, तिलमिलाहट और पराजय का भाव

देखने लायक था। लगता था भीतर ही भीतर क्रोध से दहक रहे हों और उनका बस चले तो रामधन को भस्म करके रख दें।

अब सहदेव ने कहा, “देखो भाई, तुमको तुम्हारी आमदनी मिल जाए, तुमको और क्या चाहिए फिर?”

“अरे आमदनी की ऐसी की तैसी! मेरा तो मुद्दस नहीं निकलता मेरे बाप।” रामधन भी चिल्ला उठा।

“भुलऊ महाराज को इस बीच जैसे फिर मौका मिल गया। अपना क्रोध निगलकर बोले, “ले यार, मैं नगद दे रहा हूं तीन हज़ार तीन सौ! एक सौ और ले लो। ले चल। तुम्हीं खुश रहो। चल अब क़िस्सा ख़तम कर...”। भुलऊ महाराज अपनी रो में रस्सी पकड़कर बैलों को खींचने लगे, जबरदस्ती...

महाराज की इस हरकत पर जमा लोग हँस पड़े। सहदेव तो ठठाकर हँस पड़ा, “महाराज, ये दान-पुन्न का काम नहीं। मैं इनके भाव जानता हूं। जितना तुम कह रहे हो उतने में तो कभी नहीं देगा! अरे घंटा तक इसके कुला में लेवना (मक्खन) लगाया। मुझको नहीं दिया तो तुमको कैसे दे देगा हज़ार तीन सौ में?”

जमा लोग फिर हँस पड़े। भुलऊ महाराज अपमानित महसूस करके क्षण भर घूरते रहे। फिर गुस्से से अपना गड़ा हुआ छाता उठाया और चलते बने।

महाराज के खिसकते ही भीड़ के कुछ लोगों को लगा, अब मज़ा नहीं आएगा। सो कुछ सरकने को हुए। लेकिन अधिकांश अभी डटे हुए थे, किसी एक ग्राहक और तमाशे की उम्मीद में, उन तगड़े सफेद और भूरे बैलों को मुग्ध होकर निहारते हुए।

तभी भीड़ तो चीरता हुआ चइता प्रकट हो गया। चइता इधर का जाना-माना दलाल है। विकट ज़िद्दी और सनकहा। अपने इस ज़िद्दी स्वभाव के भरोसे ही वह जीतता आया है। ऐसे सौदे कराने की कला में वह माहिर माना जाता है। सौदेबाजी में सफलता के लिए वह साम-दाम-दंड-भेद, हर विधि अपना

सकता है। पैर पड़ने से लेकर गाली बकने तक की क्रिया वह उसी सहज भाव से निपटाता है।

उसके आते ही ठर्रे का तीखा भभका आसपास भर गया। वह सिर में लाल गमछा बांधे हुए था। अधेड़, काला किंतु गठीले शरीर का मालिक चइता।

आते ही दाऊ को देखकर कहेगा, “राम-राम दाऊ, का बात है?” वह अपनी आदत के मुताबिक़ जल्दी-जल्दी बात कहता है।

दाऊ ने अपनी शिकायत चइता के सामने रखी, “अरे देख ना चइता, साढ़े तीन हज़ार दे रहा हूं, तब भी नहीं मान रहा है।”

“तुम हटो तो सहदेव, मैं देखता हूं।” सहदेव को एक किनारे करता हुआ चइता आगे बढ़ गया। उसने बैलों को देखा और उनके माथे को छूकर प्रणाम किया। और बोल, “ठीक है दाऊ। मैं पटा देता हूं सौदा। अब चिंता की कोई बात नहीं है, मैं आ गया हूं।”

रामधन ने कहना चाहा कि इतने में नहीं पोसाएगा। लेकिन चइता इससे बेखबर था। उसे जैसे रामधन के हां अथवा ना की कोई परवाह ही नहीं थी। वह अपनी रौ में इस समय सिर्फ़ दाऊ से मुखातिब था, “दाऊ... तुम दस रुपया दो... बयाना... मैं सब बना लूंगा, तुम देखते भर रहो।”

दाऊ ने दूसरे ही पल अपने पर्स से सौ का एक नोट निकाल लिया, “अरे दस क्या लेते हो, सौ रखो।”

रुपए लेकर चइता अब रामधन की तरफ़ बढ़ा। उसे ज़बरदस्ती रुपया पकड़ाने लगा, “अच्छा भाई, चल जा। बैलों के पैर छू ले। ये बयाना रख और सौदा मंजूर कर...”

“कितने में?” रामधन ने गहरे संशय से पूछा।

“साढ़े तीन हज़ार में”

“ऊं हूं... नहीं जमेगा।” रामधन ने स्पष्ट कहा।

अब चइता अपने वास्तविक फ़ार्म में उतर आया, ज़िद करने लगा, "अरे, रख मेरे भाई और मान जा।"

रामधन ने विनम्र होने की कोशिश की, "नहीं भाई, नहीं पोसाता। देख, मेरी बात मान और ज़िद छोड़... मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूं।"

लेकिन चइता भभक गया, "अरे ले ले साले! कितने ही देखे हैं तेरे जैसे! चल रख और बात खतम कर!"

"नहीं नहीं। चार हज़ार से एक पाई कम नहीं।" रामधन अपनी बात पर अटल था।

रामधन को परेशानी में फंसा देखकर सहदेव बचाव के लिए आया और चइता को समझाने लगा, "चइता, जब उसको नहीं पोसाता तो कैसे दे देगा, कुछ समझाकर!"

"देगा! ये देगा और तेरे सामने देगा! तुम देखते तो रहो।" चइता ने जमी हुई नज़रों से सहदेव को देखा। वह फिर अपनी ज़िद पर उतर आया, "ले रख यार और मान जा! जा बैलों के पैर छू ले।" कोई प्रतिक्रिया रामधन के चेहरे पर नहीं देखकर वह फिर शुरू हो गया, "अच्छा, चल ठीक है! तुम मुझको एक पैसा भी दलाली मत देना। ये लो! तेरे बैलों की कसम! बस्स! एक पैसा मत देना मेरे को! और कोई तेरे से पैसा मांगेगा उसकी महतारी के संग सोना! मंजूर? चल..."

अब रामधन को भी गुस्सा आ गया, "मैं तुम्हारे को कितने बार समझाऊंगा, स्साले! तुमको समझ नहीं आता क्या? नहीं माने नहीं। तू जा यार यहां से... जा...!"

लेकिन चइता भी पूरा बेशरम आदमी ठहरा। वह इतनी जल्दी हार मानने वाला नहीं था, "अच्छा, आखिर मुझको सौ-दो सौ रुपया देगा कि नहीं? ऑय? मत देना मेरे को! मैं समझूंगा जुए में हार गया या दारू में फूंक दिया। अरे, मैं

पिया हुआ हूं इसका ये मतलब थोड़ी है कि गलत-सलत भाव करने लगूंगा। मेरी बात मान, इससे बढ़िया रेट तेरे को और कोई नहीं देगा, मां कसम!" उसने ज़मीन की मुट्ठी भर धूल उठाकर माथे पर लगा ली।

लेकिन चइता के इतने हथियार आज़माने के बावजूद वह बेअसर रहा। अपनी जिद पर कायम रहा, चार हज़ार बस्स....

अब चइता ने हार मान ली। वह गुस्से में फुंफकारता और रामधन को अंड-बंड बकता हुआ चला गया। और भीड़ में खो गया।

चइता के जाते ही भीड़ छंटने लगी। अब वहां किसी दूसरे तमाशे की उम्मीद नहीं रही, क्योंकि शाम धीरे-धीरे उतर रही थी। इस समय पश्चिम का सारा आकाश लालिमा से भर उठा था और सूरज दूर पेड़ों के झुरमुट के पीछे छुपने की तैयारी में था।

बाज़ार की चहल-पहल धीरे-धीरे कम हो रही थी।

रामधन ने अपनी बंडी की जेब से बीड़ी निकालकर सुलगा ली। वह आराम से गहरे-गहरे कश लेने लगा। तभी सहदेव उसके पास आ गया। उसकी बीड़ी से अपनी बीड़ी सुलगाई। फिर धीरे-धीरे कहने लगा, "ठीक किए रामधन। बिल्कुल ठीक किए। इन साले दाऊ लोगों को गाय-बैल की क्या क़दर? साला दाऊ रहे चाहे कुछु रहे - अपने घर में होगा। हम आख़िर बैल बेचने आए हैं, किसी बाम्हन को बछिया दान करने नहीं आए हैं। ठीक किया तुमने।"

सुनकर अच्छा लगा रामधन को। उसने सहदेव से विदा मांगी, "अब जाता हूं भइया, दूर का सफ़र है। गांव पहुंचते तक रात-सांझ हो जाएगी। चलता हूं।" और अपने बैलों को लेकर चल पड़ा।

यह लगातार तीसरा मौका है जब रामधन हाट से अपने बैलों के साथ आपस लौट रहा है- उन्हें बिना बेचे। रामधन जानता है, गांव वाले उसके इस

उजबकपने पर फिर हँसेंगे। घर में पत्नी अलग चिड़चिड़ाएगी और मुन्ना फिर गुस्साएगा।

गांव के लोगों को अब इसका पता चला है, वे अक्सर उससे पूछ लेते हैं, "कैसे जी रामधन, तुम तो कल बैल लेकर हाट गए थे, क्या हुआ? बैल बिके के नहीं?"

वे रामधन पर हँसते हैं, "अच्छा आदमी हो भाई तुम भी। इतने बड़े बाज़ार में तुमको एक भी मन का ग्राहक नहीं मिला!" कुछेक अनुमान लगाते हैं, शायद रामधन को बाज़ार की चाल-ढाल नहीं मालूम। उसे मोल-भाव करना नहीं आता। उसे अपना माल बेचना नहीं आता। या फिर साफ़ बात है रामधन को अपने बैल बेचने नहीं हैं।

प्रिय पाठकों, अब आप यह दृश्य देखिए और सुनिए भी!

रामधन अपने बैलों की रस्सी थामे, बीड़ी पीते हुए चुपचाप लौट रहा है। पैदल, सांझ ख़ूब गहरा चुकी है और अंधेरा चारों और घिर आया है। वह किसी गांव के धूल अटे कच्चे रास्ते से गुज़र रहा है। अब आप ध्यान से देखेंगे तो पाएंगे, वे दो बैल और रामधन नहीं, बल्कि आपस के तीन गहरे साथी आ रहे हैं। हां, तीन गहरे साथी। बैलों के गले की घंटियां आस-पास की ख़ामोशी को तोड़ती हुई, उनके चलने की लय में आराम से बज रही हैं - टुन-टुन-टुन-टुन... क्या आप सिर्फ़ यही सुन रहे हैं? तो फिर ग़लत सुन रहे हैं। आप ध्यान से सुनिए, वे आपस में बातें कर रहे हैं... जी नहीं, मैं कोई कविता या क़िस्सा नहीं गढ़ रहा हूं। आपको विश्वास नहीं हो रहा होगा। लेकिन आप मानिए, इस समय सचमुच यही हो रहा है। यह तो समय-समय की बात है कि आपको यह कोई चमत्कार मालूम हो रहा है।

उसके बैल पूछ रहे हैं, "मान लो अगर दाऊ या महाराज तुम्हें चार हजार दे देते होते तो तुम क्या हमें बेच दिए होते?"

रामधन ने जवाब दिया, "शायद नहीं। फिर भी नहीं बेचता उनके हाथ तुमको।"

"बेचना तो पड़ेगा एक दिन!" बैल कह रहे हैं, "आखिर तुम हमें कब तक बचाओगे, रामधन? कब तक?"

जवाब में रामधन मुस्करा दिया- एक बहुत फीकी और उदास मुस्कान... अनिश्चितता से भरी हुई। रामधन अपने बैलों से कह रहा है, "देखो... हो सकता है अगली हाट में मुन्ना तुम्हें लेकर आए।"

बीड़ी का यह आख़िरी कश था और वह बुझने लगी।

(वसुधा कहानी विशेषांक, 1996)

कैलाश बनवासी

महत्वपूर्ण कथाकार। 10 मार्च 1965 को दुर्ग में जन्म। अपनी कहानियों में गांव के यथार्थ को चित्रित करने में सिद्धहस्त कैलाश बनवासी के अब तक तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'लक्ष्य तथा अन्य कहानियाँ', 'बाजार में रामधन' के अतिरिक्त इनका तीसरा कहानी संग्रह 'पीले कागज की उजली इबारत' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

सम्पर्क :- 41, मुखर्जी नगर, निकोला भाठा,
दुर्ग, छत्तीसगढ़
मो. - 9827993920

पिंटी का साबुन

संजय खाती

हमारे गाँव में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। साबुन का नाम हमने और दूसरे लोगों ने सुना जरूर था, लेकिन दो-चार ही लोग ऐसे मिलेंगे जिन्होंने उसे सचमुच देखा हो। 'साबण' का नाम भी लोगों को मालूम था तो सिर्फ फौजियों की बदौलत और थोड़ा इसलिए भी कि जब एक बार डिप्टी साहब की बिटिया पिंटी गाँव आयी थी तो उसके पास कुछ औरतों ने यह चीज देखी थी। कहते हैं, पिंटी जहाँ खड़ी हो उससे एक कोस दूर तक फूलों की-सी बास महकती थी। दस-पन्द्रह साल बाद भी लोगों को वह पिंटी याद रही तो इसी वजह से। लोग साबुन का जिक्र इत्र और फुलेल के बाद करते थे।

पिंटी तो खैर जैसे दूसरी दुनिया से आई जीव थी। गाँव के किसी आदमी के पास कभी साबुन नहीं देखा गया। सच्चे अर्थों में गाँव में पहले साबुन आया मेरे पास और वह भी अचानक, अप्रत्याशित रूप से।

उस दिन पंद्रह अगस्त या ऐसा ही कुछ खास दिन रहा होगा, क्योंकि स्कूल बंद था। मैं और काका आलू बेचने के लिए कई कोस चलकर कसबे में आये थे। काका मुझसे पाँच-सात साल ही बड़ा होगा। हम दोनों लगभग दोस्त जैसे ही थे। हालाँकि कभी-कभी वह बड़प्पन जताने को उत्सुक हो जाता था, लेकिन उसका कोई दबादबा मुझ पर नहीं बन पाया।

तो, कसबे की रौनक से हम लोग लेमनचूस चाटते भटक रहे थे कि एक

भीड़ भरे मैदान में जा पहुँचे, जहाँ बिल्कुल मेला-सा लगा था। खूब शोर हो रहा था। सीटियाँ बज रही थीं। एक भोंपे से किसी आदमी की जोरदार आवाज आ रही थी, जैसे डाँट रहा हो।

हम अचकचाये-से और बिल्कुल बेध्यानी में उस भीड़ में घुसे जा रहे थे कि अचानक मैंने पाया, मैं अपने जैसे लड़कों की एक कतार में खड़ा हूँ। किसी ने बाँह पकड़कर जल्दी से मुझे वहाँ खड़ा कर दिया था। एक आदमी सबको सफेद लाइन पर खड़ा कर रहा था। मेरे दोनों ओर लड़के चिल्ला रहे थे, झपटने की मुद्रा में बार-बार एक टाँग पर झुके जा रहे थे। लगा, जैसे कोई दौड़ होने जा रही हो।

पहले तो मैं घबरा गया। इधर-उधर देखा तो काका का कहीं पता ही नहीं। लाठी वालों ने बाकी भीड़ के साथ उसे भी धकिया दिया होगा। अब भोंपू पर गिनती गिनी जा रही थी, एक...दो...

और तीन! भूखे जानवरों की तरह सब भागे। साथ में मैं भी। पहले तो कुछ सूझा ही नहीं, पर जब देखा कि बगल वाला छोकरा अपनी सींकियाँ टाँगें पटकता आगे निकला जा रहा है तो मैं भी भाग लिया दम तोड़कर। ऐसा कि मैदान के दूसरे छोर पर बँधी रस्सी में उलझकर गिर पड़ा। घुटने में लगी सो अलग। झाड़कर खड़ा हुआ तो तालियाँ। चमचमाती डिबिया थमा दी।

भीड़ में जाने कहाँ से काका हँसता हुआ प्रकट हो गया। अब हम दोनों साथ-साथ हँसे जा रहे थे। मेरा मन हो रहा था कि अभी खूब दौडूँ, दौड़ता ही जाऊँ, आगे-आगे कुलाँचें भरता मैं भागा तो काका भी हाँफता हुआ आया पीछे-पीछे। कसबा पीछे छूट गया। मैं गाँव की ओर सरपट भागा जा रहा था। काका आवाज देने लगा। आखिर में नदी के पास मैं रुका तो उसने मुझे पकड़ लिया।

काका ने कहा, "क्या है रे?"

तब जाकर मुझे खयाल आया कि वह लाल चमकती डिबिया मेरे हाथ में है। काका ने झट से उसे छीन लिया और उलट-पलटकर देखने लगा। उसी को सबसे पहले सूझा कि ये तो साबण है। उसका चेहरा उत्तेजना से चमकने लगा। वह बार-बार उसे सूँघता। माँगने पर भी नहीं देता। चिढ़कर बोलता, "खा नहीं रहा हूँ।" उसकी नीयत में खोट लगता था।

मैं भड़क गया, आखिर वह मेरी चीज थी। मैंने काका से उसे छीनने की कोशिश की। उसे गिराने के लिए संघर्ष किया, लेकिन लम्बे खडूस से जीतना मेरे लिए नामुमकिन ही था। अब तक उसने बाहर की चमकीली पन्नी भी खोल दी थी और अंदर की गुलाबी नाजुक टिकिया निकाल ली थी।

अंतिम हथियार के तौर पर मैं धप से नदी के पत्थरों पर गिर गया और धाड़ मारकर सचमुच रोने लगा, "मैं इजा से कह दूँगा, हाँ!"

हमेशा की तरह इस बार भी मेरी चाल कामयाब हुई। काका कुछ देर मुझे लाल आँखों से घूरता रहा, फिर "जा मर" कहकर टिकिया फेंक दी। मैंने उसे लपक लिया। "पन्नी भी दे।" काका ने पन्नी भी फेंक दी। मैंने नाजुक टिकिया को फिर पन्नी में जतन से लपेटा और उसे सूँघता, हँसता हुआ घर की ओर चला।

काका से पहली बार गहरी दुश्मनी की यह शुरूआत थी। उस वक्त तो मैं साबुन की उस भीनी खुशबू में इतना मगन था कि काका की ओर ध्यान देने का वक्त नहीं था मेरे पास, लेकिन आगे चलकर हम दोनों की दुश्मनी स्थायी बात हो गयी।

बहरहाल, उस शाम काका पीछे-पीछे, पत्थरों को ठोकर मारता हुआ चला। घर पहुँचते ही मुँह टेढ़ा कर उसने ऐलानिया अंदाज में कहा, "गोपिए को एक साबण क्या मिल गया, नीचे ही नहीं देख रहा आज।"

इजा गोबर समेट रही थी, खड़ी होकर बोली, "साबण! कहाँ से लाया रे? कैसा है? दिखा तो।"

"मेरा है।" मैंने तुनककर कहा।

इजा हाथ खूब साफ से धोकर आयी। "दिखा तो, मैं भी देखूँ कैसा साबण है।"

मुझे अब तक किसी पर एतबार नहीं रह गया था। बहुत नखरे के साथ उँगलियाँ खोलीं। इजा ने बड़े शौक के साथ साबुन लिया। ढिबरी के पास जाकर गौर से देखा। दो-तीन बार सूँघा, बोली, "मैं नहाऊँगी इससे।"

मैं चील की तरह झपटा। साबुन झपटकर अंदर की जेब में ढूँसा। भागकर खड़ा हुआ बीस कदम दूर। इजा देखती रह गयी। "मर तू! आग लगे तेरे साबण को!" उसने चिचियाकर कहा और आँखें तरेरती हुई वहाँ से चली गई।

इस तरह माँ मेरी दूसरी दुश्मन बनी। असल में साबुन की इस महत्ता को मैं पहले समझ ही नहीं पाया। शायद समझने की उम्र थी भी नहीं, लेकिन जल्द ही मुझे लगने लगा मानो मैं चारों ओर से दुश्मनों से घिर गया हूँ। मुझे मालूम था, काका मेरी हर चीज को उलट-पलटकर देखता हैं घर में जितने भी कनस्तर-डिब्बे हैं, सबको उसने टटोला है, यहाँ तक कि गोशाला की घास-पुआल को भी वह छान आया है, लेकिन साबुन कहाँ है, यह मेरे अलावा कोई नहीं जान सका था।

हारकर काका ने मेरी चापलूसी करने की भी कोशिश की, लेकिन अब मैं उतना भोला नहीं रह गया था।

बापू को तो साबुन देखना नसीब ही नहीं हुआ। इजा और काका ने हर वक्त साबुन का जिक्र करके उनको इतना उकसा दिया था कि वे मारपीट पर उतर आए। पर अब तक मैंने जान लिया था कि जो भी साबुन देख लेगा, उसकी नीयत में खोट आ जायेगी। सो मैं भी टस से मस नहीं हुआ। हारकर बापू ने

यह कहते हुए कि बहुत इतर-फुलेल का शौक चढ़ा है, भेज दो साले को गाय चराने, मुझे कसकर दो लातें मारीं।

मैं रोया नहीं और इस अपमान को पी लिया। लेकिन इस घड़ी से मुझे संदेह होने लगा कि मैं उनका असली बेटा हूँ भी या नहीं।

कुंती को अलबत्ता एक दिन मेरी सख्त पहरेदारी में साबुन को छू-सूँघकर देखने का मौका मिला। कुंती तब से आँखें बड़ी-बड़ी किये पीछे-पीछे डोलती रहती है। उसे भगाने के लिए झापड़ों के अलावा कोई रास्ता नहीं होता।

इतने लोगों के बीच साबुन को बार-बार देख पाना मेरे लिए भी मुश्किल हो रहा था। मेरी बेचैनी लगातार बढ़ रही थी। हर दिन पहाड़-सा लगता। आखिरकार इतवार को जी कड़ा कर मैंने साबुन निकाल ही लिया और गर्म पानी लेकर नहाने बैठा।

यह साबुन से मेरा पहला स्नान होने जा रहा था। मैंने बड़े प्यार से पन्नी अलग की। एहतियात से धूप में रखे साबुन को नरमी से दाएँ हाथ में पकड़ा और भीगे बालों को हौले-हौले छुआ।

गुलाबी टिकिया पर उभरे हुए अक्षर बने थे। मुझे अंग्रेजी पढ़नी नहीं आती थी, लेकिन यह जो कुछ भी लिखा था, इससे साबुन की खूबसूरती बढ़ रही थी। वे मिटें नहीं, इसका खयाल रखना था।

काका कहने को तो चाख में बैठा पढ़ाई कर रहा था, लेकिन बार-बार उसका सिर खिड़की से दिखाई दे जाता। फिर जोर-जोर से किताब पढ़ने की आवाज आती। इजा घास को जाती बीच आँगन में रुक गयी। कुछ देर देखती रही। फिर मुँह बिचकाकर चली गयी। कुंती दो कदम दूर आकर खड़ी हो गयी और मेरे बालों पर फिसलते साबुन को, उससे बनते सफेद झाग को और धूप में चमकते कई रंगों के बुलबुलों को एकटक देखती रही। "भाग, भाग!" मैं चिल्लाया।

कुंती चिरौरी करने लगी, "दादा, मुझे भी दे दे थोड़ा-सा।"

कुंती को मैं अच्छी तरह जानता था। बिल्ली की तरह धूर्त। उसे भगाने में ही भलाई थी। पहले तो मैंने उस पर पानी फेंका। नहीं हटी तो भीगे हाथ से दिया एक झापड़। इधर चिल्लाती हुई कुंती भागी, उधर सीढ़ियों पर धड़धड़ाता हुआ आया काका। "उस पर हाथ चलाया तूने? आज तो तेरी खैर नहीं!" पर मुँडेर से आगे नहीं बढ़ा। वहीं रुककर घूरने लगा। मैं बहुत दूर था। मजे से हँसता झाग उठाता रहा। काका गालियाँ देता रहा, लेकिन वहाँ से हटा भी नहीं।

बडी देर लगाकर पानी डाला बदन पर। साबुन को सुखाया। नामालूम-सा घिसा था। पन्नी में सँभालकर रखा। इतराता हुआ काका के बगल से निकला। काका ने हवा को सूँघा।

कैसी तो ताजगी आ गयी थी बदन में! कैसे खूशबू! और बाल कैसे नरम! खुशबू कहीं उड़ न जाय यह सोचकर फटाफट कपड़े पहने।

अपने आँगन की मुँडेर से मैं छलाँग लगाता और कई बार ऐसा होता कि मैं उड़ने लगता। ऊँचे और ऊँचे पहाड़ों के ऊपर मैं कबूतरों की तरह तैरता जाता। दूर-दूर तक जाने कितने देश, कितने गाँव एक साथ मेरे नीचे सरकते जाते। बदन में सनसनी सी होने लगती। नीचे देखता तो अपना घर छोटा-सा दिखाई देता-खिलौने जैसा। और इजा, बापू, काका, कुंती, सारे लोग कैसे दिखाई देते? जैसे चींटी जितने को गए हों। मैं सारी दुनिया के ऊपर तैरता। सब कुछ मेरे नीचे। कोई मुझ तक नहीं पहुँच सकता था।

यह सपनों की बात थी। कहते हैं कि बढ़वार के दिनों में बच्चों को उड़ने के सपने दिखाई देते हैं लेकिन, सपने सच नहीं होते, यह किसने कहा!

साबुन से नहाकर उस दिन मुझे लगा था, किसी भी क्षण मैं उड़ने लगूँगा।

स्कूल का दिन था। सुबह-सुबह खूब झाग उठाकर खुद को चमकाया। महकते बदन पर सबसे अच्छे कपड़े डाले। टेढ़ी करके माँग निकाली और

रास्ते-भर कुहनी उठाकर सूँघता रहा कि कहीं खुशबू उड़ तो नहीं गयी। नहीं, खुशबू उड़ती नहीं थी। घंटों बनी रहती। अगर धूप नहीं होती, पसीना नहीं होता, धूल नहीं उड़ती और हवा नहीं चलती तो शायद बदन हमेशा महकता रहता।

क्लास में तो सनसनी ही फैल गई। थोड़ी ही देर में सब लड़के नाक उठाये बौराये-से हवा को सूँघ रहे थे। मैं कुछ देर मंद-मंद मुस्कराता इसका आनंद लेता रहा फिर पास वाले लड़के के मुँह पर अपनी बाँह अड़ा दी।

"ओ बबा हो! क्या लगा के आया है?" लड़का तो उछल ही पड़ा। क्लास में ऐसी रेलपेल मची कि तौबा! लड़के एक-दूसरे को धकियाते लपके और जहाँ-तहाँ नाक गड़ाकर लगा सूँघने। जो सूँघ चुके थे वे आँखें कपाल पर चढ़ाकर कहने लगे, "बता तो, बता तो!"

और जब मैंने मजे ले-लेकर सारी कहानी सुनायी तो क्लास में शोर मच गया। सच? कैसा है? साथ में पन्नी भी है? एक दिन तो खत्म हो जाएगा, फिर? फिर क्या, और दौड़ेगा तो नया जीत लाएगा। एक साल तो चलेगा ही, दिखा यार, दिखा ना!

मास्साब आये तो हंगामा थमा, लेकिन किसी का ध्यान पढ़ाई की ओर नहीं था। सब कनखियों से मुझे देख रहे थे। मैं तो आकाश में खूब ऊँचा उड़ रहा था। उस पल अगर मैं कह देता कि आज से मानीटर मैं हुआ तो वे सब कहते-हाँ, हुआ। उन्होंने अपने बाप-दादों से इतना कुछ सुना था पिंटी के बारे में, उसके साबुन के बारे में। आज वे सब सपने जैसी कथाएँ सच होती देख वे लगभग पागल-से हो उठे थे।

हाफ टाइम की घंटी बजी। हमेशा की तरह भाग पड़ने को लड़के उठे। अचानक सबके सब ठिठक गये। मैं वहीं बैठा जो था अपनी जगह। "चल रे, चल।" आज सब मेरे करीब आना चाहते थे। वे भी जो मेरे दुश्मन थे और दुबले-पतलेपन की वजह से मुझे पीटा करते थे।

मैं उठा तो, लेकिन एक अनजानी झिझक ने मुझे घेर लिया। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। पहले तो सबसे पहले भाग छूटने वालों में मैं अव्वल रहता था, लेकिन पहले कभी सारे लड़कों ने मुझे घेरकर ऐसे 'चल, चल' भी नहीं कहा था।

"तू हमारी तरफ हुआ।" - "नहीं, हमारी तरफ" कबड्डी में मैं किस टीम के साथ खेलूँ, इसे लेकर भारी झगड़ा चल पड़ा था।

मैं तो संकोच से मरा जा रहा था। कबड्डी में रगेदे जाने का, मिट्टी में लिपटने का डर मुझ पर हावी हो गया। "नहीं, मेरा मन नहीं है खेलने का।" मैंने कहा।

"क्यों? क्यों?" हर तरफ से पुकार मच गयी। फिर अपने आप जैसे सब लड़के समझ गये। "अच्छा तू रेफरी हुआ। तू बैठकर देख।" वे एक-एक कर खिसकने लगे, खिसियाये हुए।

हर कोई साबुन देखने को बेकल था। सारे गाँव में जंगल की आग की तरह यह बात फैल गयी थी। लोग मुझे रोक लेते, कोई बहाना खोजकर घर चले आते। वे चाहते कि मैं उनको साबुन दिखा दूँ। जब मैं इनकार कर देता तो वे नाराज हो जाते। डाँट-डपट करते। अलबत्ता वे मुझे सूँघ जरूर लेते। साबुन न दिखाने की मेरी इस जिद से घरवालों को शर्मिंदगी का सामना करना पड़ता होगा। बाद में मुझे वे अपनी गालियों का निशाना बनाते। काका जब भी सामने आता धमकी-भरे इशारे करता। दो-एक बार तो उसके अकेले में मेरा गला भी दबाया। कुंती हमेशा मुँह फुलाये रहती। उससे मेरी झड़प हो जाये तो बापू मुझे अपने ढाई किलो के हाथ से झापड़ मारने में जरा देर नहीं करते। इजा मुझसे हमेशा चिड़चिड़ाते हुए बात करती।

सारी दुनिया गिद्धों की तरह मेरे उस छोटे-से सुख को नोचने के लिए बेताब थी। मैंने देखा कि पहले तो लोग मेरी इज्जत करने लगते, लेकिन जब मैं उनको साबुन नहीं दिखाता तो वे फौरन मेरे खिलाफ लामबंदी कर लेते। लगभग सभी मेरे दुश्मन हो चुके थे।

लोगों ने मेरा नाम ही पिंटी रख दिया था। यह सिर्फ मजाक नहीं था। इस तरह वे अपनी नफरत जता रहे होते। लड़के मुझे 'पिंटी-पिंटी' कहकर पुकारते। और हैरानी की बात तो यह कि इस बात से मुझे तकलीफ होने के बावजूद मैं अकसर उस पिंटी के बारे में सोचने लगा था। मैं सोचता कि वह कैसी और कहाँ होगी। मैंने मन में उसका एक खाका भी खींच लिया था, जिस पर मैं अपनी खाली वक्त में रंग भरा करता था। मेरे खयाल से वह हमारे कैलेंडर की लक्ष्मी जैसी थी। वह इतनी गोरी थी और उसके कपड़े इतने चमकीले थे कि रात में भी उसके आसपास उजाला रहता था। उस पर धूल का एक कण भी नहीं बैठ सकता था। वह इतनी हल्की थी मानो उसे सफ़ेद कोरे कागज से बनाया गया हो।

और खेलना तो मैंने छोड़ ही दिया था। कुछ लड़के मेरे करीब होना चाहते, लेकिन जल्दी ही धमाचौकड़ी का आकर्षण उनको खींच ले जाता। जब लड़के हुड़दंग मचा रहे होते, तब मैं दीवार पर बैठा टाँगे हिलाता रहता। वे कबड्डी में एक-दूसरे को रगेदते, गीले खेतों में घुसकर ककड़ियाँ खोजते, चोरी से नीबू तोड़ लाते, नदी में नंगे होकर नहाते, पिरूल में फिसलते। वे हमेशा की तरह चीखते-चिल्लाते, गुत्थमगुत्था होते, कपड़े फाड़ लेते या बदन छिला लेते। मैं बैठे-बैठे उनको देखता और उँगलियाँ चटखाता।

सच कहूँ तो कई बार मेरी इच्छा हुई कि मैं उनके बीच कूद पड़ूँ, लेकिन जब भी ऐसा करने को हुआ, जाने किस बात ने मेरे शरीर को जड़ कर दिया। तब मैंने चाहा कि कोई लड़का मुझे जबरन घसीटकर कबड्डी के मैदान में धकेल दे, लेकिन शायद यह नहीं हो सकता था। वे तो अब मुझसे खेलने को कहते भी नहीं थे। उन्होंने मान लिया था कि पिंटी का काम बैठकर उनको देखते रहना है। वे मेरा अस्तित्व ही भूलने लगे थे।

अब फिर काका बाजार जा रहा था। सामान लाने के लिए थैले-झोले समेट रहा था। मुझसे रहा नहीं गया, कहा, "मैं भी चलूँगा।"

काका एकदम भड़क गया, "तू नहीं जायेगा मेरे साथ।"

"मैं जाऊंगा।"

"भाभी!" काका ने ऐलान किया, "इसी से मँगा ले अपना सामान, मैं नहीं जा रहा।"

इजा बाघिन की तरह झपटती आयी। मेरा कान पकड़कर पटक दिया जमीन पर। "आज करती हूँ मैं इसका इलाज। ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है, त्यों-त्यों सड़ रहा है।" मेरी पीठ पर दो लातें मारीं और घसीटती हुई ले चली बाहर।

पीछे से काका उल्लास से चिल्लाया, "जरा अच्छी तरह से कर दो मरम्मत पिंटी की।"

इजा मुझे मरे चूहे की तरह घसीटती मुँडेर पर ले गयी और धकेल दिया बिच्छू के झाड़ पर।

"ओऽइऽऽजाऽऽवेऽ!"

मोह का एक पतला सा धागा भर बचा था। टूट गया वह उस क्षण। हाफ टाइम में दीवार पर बैठे मेरी आँखें बार-बार भर आतीं। कूदते-फाँदते लड़के नजर में काँपते लगते। बिच्छू के काँटों से बदन अभी भी चिलचिला रहा था। कोहनियाँ छिली हुई। बालों में धूल। नहाया था उस सुबह भी, लेकिन बदन में कोई खुशबू बाकी नहीं।

मन खुलकर रो पड़ने को कर रहा था। जाऊँ, चला जाऊँ यहाँ से। हमेशा के लिए वहाँ, जहाँ पिंटी रहती है। वहाँ लोग ऐसे नहीं हैं। वहाँ नफरत नहीं है। बिना बात के ऐसा जुल्म नहीं है।

और मैंने फैसला किया कि एक दिन मौका मिलते ही बाजार भाग जाऊँगा। कहते हैं, वहाँ से दूर-दूर को बसें जाती हैं। किसी में बैठ जाऊँगा, फिर कभी नहीं लौटूँगा यहाँ। कभी नहीं।

उस वक्त से यह इरादा मेरे मन में हर पल पक्का होता गया। मैंने कपड़े चुन लिए जो साथ ले जाने थे। एक झोला भी उनके लिए छिपा लिया। कुछ अखरोट भी रख लिए और देख लिया कि रुपये कहाँ से निकाले जा सकते हैं। मुझे बस मौके का इंतजार था।

और ऐसे में वह कांड हो गया।

मैं नहा रहा था। कैसी भी ठंड हो, मैं नहाये बिना नहीं रहता। मुझे मालूम नहीं था कि काका घात में हैं। मैंने साबुन अलग रखा कि वह बिल्ली की तरह झपटा। मैं सकते में। काका का हाथ साबुन पर पड़ा। उठा भी लेता कि साबुन फिसलकर दूर जा गिरा और तब तक मैंने आँखें भींचकर पीतल का भारी लोटा दे मारा।

काका 'हाय' कहता चकराकर बैठक गया और सिर पकड़े वैसे ही रह गया।

तब तक मैंने साबुन उठा लिया और लोटा पकड़कर फिर से तैयार हो गया। पर काका तो उठा ही नहीं। तब मेरी टाँगें काँपने लगीं। काका को हिलाकर पुकारा, "काका, काका!"

कराहकर काका ने सिर उठाया तो देखा, माथे से एकदम लाल-लाल खून बह रहा था। "मार दी साले!" काका जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगा। फिर हाथों से माथा दबाये लड़खड़ाता हुआ बाहर को चला। देहरी के पास रुककर मुड़ा। रुआँसा चेहरा। गालों पर खून और आँसूओं के धारे। सिसकता हुआ बोला, "साले, एक दिन तो खतम हो जायेगा तेरा साबण।"

काका चला गया। मैं सन्न खड़ा रहा। हथेली खोलकर देखा। गुलाबी खूबसूरत टिकिया। पर अब कितनी पतली लग रही थी। और खुशबू भी तो शायद उड़ गयी थी।

मेरा मन डूब गया।

रोने का वक्त नहीं था। फटाफट कपड़े पहन भागता हुआ गया ऊपर। झोला

निकाला, कुछ कपड़े ठूँसे। अखरोट रखने का वक्त नहीं। बस्ता? नहीं, बस्ते का क्या काम? पैसे?

तभी सुना, बाहर काका घबराई हुई इजा को बता रहा था कि कैसे वह गोठ में गोबर पर फिसल गया और कैसे उसका सिर देहरी से टकराया।

मुझे फिर खड़ा नहीं रहा गया। औंधे मुँह चारपाई पर गिर पड़ा। बड़ी देर बाद इस काबिल हुआ कि जाकर साबुन को उसकी जगह छिपा आऊँ। लौटकर एक अँधेरे कोने में सो रहा। शाम हो गयी। तो भी नहीं उठा। कहा कि पेट में दर्द है।

सुबह उठा तो देखा, अजीब-सा उजाला सब ओर फैला है। रातोंरात बर्फ गिर गयी थी। पता ही नहीं चला। आशंका से मेरा दिल बैठ गया।

ताजी बर्फ पर नंगे पाँव भागता गया। ठंड की परवाह किसे थी! पुआल के ढेर पर चार-चार अंगुल बर्फ जमी थी। यहीं कहीं थी वह सेंध। हाथों से बर्फ खोदी तो नीचे कीचड़ ही कीचड़। हाथ सन गये। यहाँ नहीं, यहाँ नहीं! यहाँ भी नहीं!

कोई लिसलिसी-सी चीज उँगलियों में आयी। गुलाबी कीचड़ का एक लोंदा, खुशबूदार। उस लोंगे को हथेली में भरे मैं वहीं बर्फ पर धप से बैठ गया। शीत से काँपता हुआ।

"गोपिया!" यह इजा थी। दूध लगाने आयी थी। मैंने सिर उठाकर देखा। उसी उपहास के लिए सिकड़ते हुए उसके होंठ। मेरे हाथ में लोंदा गिर गया। माँ के होंठों से एक सिसकी-सी निकली, "गोपिया!"

पाँवों से सिर तक एक थरथराहट के साथ मैं बिखर गया। पूरे प्राण से अपने को फूट पड़ने की छूट देता हुआ। कीचड़-सनी उँगलियों से माँ को जकड़ता हुआ जोर से रो पड़ा।

माँ भी वहीं मेरे पास बैठ गयी। मुझे कौली में भरकर। और मैं कोख की गरमाहट में मुँह छिपाकर रोता रहा। बहुत दिनों बाद पहले की तरह।

और सहसा मुझे लगा, बर्फ का एक विशाल ढेर पिघल रहा है। मेरा मन रुई की तरह हल्का और हल्का होने लगा। उस क्षण हवा का कोई झोंका आता तो मैं सचमुच ही उड़ने लगा होता।

(हंस, अप्रैल 1990)

संजय खाती

कथाकार संजय खाती का जन्म 1962 ई. में अल्मोड़ा में हुआ। कथा लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता में निरंतर सक्रिय हैं। अभी हिन्दी के एक प्रमुख दैनिक के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत हैं। दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'पिंटी का साबुन' और 'बाहर कुछ नहीं था'। भारत में उदारीकरण की शुरूआत होने से पहले ही बाजारवाद और उसके कारण भावी संकट को आभासित कर 'पिंटी का साबुन' जैसी उल्लेखनीय कहानी की रचना की।

सम्पर्क :- ए-136 ए, लाजपत नगर,
साहिबाबाद, गाजियाबाद
मो. - 9910041006

बिल्लियां बतियाती हैं

एस.आर. हरनोट

अम्मा का झगड़ा शुरू हो गया है अपने आप से। दियासलाई की डिब्बिया से। ढिबरी से। चूल्हे में उपलों के बीच ठूंसी आग से और बाहर-भीतर दौड़ती बिल्लियों से। यही सब होता है जब अम्मा उठती है। वह चार बजे के आसपास जागती है। ओबरे में पशु भी अम्मा के साथ ही उठ जाते हैं। आंगन में चिड़िया को भी इसी समय चहकते सुना जा सकता है और बिल्लियों की भगदड़ भी अम्मा के साथ शुरू हो जाती है। यह नहीं मालूम कि अम्मा पहले जागती है या कि अम्मा की गायें याकि चिड़िया या फिर बिल्लियां।

कई बार अम्मा उठते ही अंधेरे से लड़ पड़ती है। हाथ अंधेरे की परतों पर तैरते रहते हैं। हाथ सिरहाने के नीचे जाता है पर दियासलाई नहीं मिलती। कई बार रात को जब अम्मी बीड़ी सुलगाती है तो दियासलाई नीचे गिर जाती है। ऊंघ में वह बीड़ी तो पी जाती है पर दियासलाई को ऊपर उठाने की हिम्मत नहीं हो पाती और आंख लग जाती है। इस समय याद नहीं आती। अम्मा खूब गालियां बकती है। ढिबरी उसी से जलनी है। काफी देर बाद याद आता है। बिस्तर से आधी चारपाई के नीचे झुक कर उंगलियों से फर्श सहलाती अम्मा के हाथ देर बाद लगती है दियासलाई। अपने को सहेजती है। एक तिल्ली निकाल मसाले पर रगड़ती है पर वह नहीं जलती। चिढ़ जाती है अम्मा।

अंधेरे में धोखा जा जाती है। तिल्ली उलटी रगड़ती है। वह टूट जाती है तो दूसरी निकालकर जलाने लगती है। फिर वैसा ही होता है। तीसरी बार अम्मा गलती नहीं करती। उंगलियों से मसाले वाले सिरे को छू लेती है। जलती है तो कमरा जगमगा जाता है। एक तिल्ली से दो काम होते हैं। रात का पीये बीड़ी के बचे टुकड़ों में से एक को जलाने के बाद उसी से ढिबरी भी जलाती है।

उठने लगती है तो कई बार बिस्तर में पसरी बिल्लियां कुरते और सलवारों में पंजों के नाखून गड़ाए रखती है। गुस्से से छुड़ाती है और झटके से उन्हें नीचे फेंक देती है। अम्मा कितने ही जोर से क्यों न फेंके वे सीधी गिरती हैं। अम्मा जानती है बिल्लियों को यह वरदान भगवान ने दिया है। उनकी पीठ नहीं लगती। ....फिर दो-चार गालियां....

"सालियों, तुम दूसरी बार आणा बिस्तर में। जान न निकाल दी तो बोलणा। सारी-सारी रात चूहे सिर पर दौड़े रहते हैं और तुम चुपचाप बिस्तर की गर्मी में खर्राटे मारती रहती हो। छि... छि.... ठहरो तुम...।"

- और बिल्लियां वहीं वहीं अंधेरे की ओट में छिप जाती हैं।

मां बेटी हैं बिल्लियां। सफेद और काले रंग की। कई बार धोखा लग जाता है कि छोटी कौन-सी है। एक का नाम काली और दूसरी का नाम निक्की। पुकारो तो नाम सुनती हैं।

कई बार अम्मा उन दोनों को पौड़े की छत पर ओडू से ऊपर धकेल देती है और नीचे से ढक्कन बंद। बहुत देर तक उसमें बैठी म्याऊं-म्याऊं करती रहती हैं। पर मजाल कि अम्मा ढक्कन खोले। छत पर अम्मा ने खोलकर मक्कियां रखी हैं। इसके अम्मा को दो फायदे हैं। एक तो वह सूख जाती हैं और दूसरी सड़ने से बची रहती हैं। अम्मा के लिए आंगन में सुखाना उन्हें वारा नहीं खाता। भगवान का क्या पता कब बरस जाए। कब आंधी-तूफान आ जाए। अकेले बाहर-भीतर लाना-छोड़ना अम्मा के बस के बाहर है। जब अम्मा को

पिसाने के लिए दाने चाहिए हों तो दस-बीस मक्कियां निकालकर बोरी में भर देती हैं। बोरी के मुंह में रसी बांधे उन्हें एक मोटे डंडे से तब तक पीटती रहेगी जब तक दाने और गुल्ले अलग-अलग न हो जाएं। छत पर काफी आगे अम्मा बीज के लिए भी मोटी और दानेदार मक्कियों का ढेर लगाए रहती है।

छत पर अम्मा रात को नहीं जाती। डरती है। वैसे बिल्लियों की छेड़ और उनकी बास से सांप या दूसरे किसी काटने वाले कीड़े का भय नहीं रहता, पर अम्मा का बहम कौन टाले। दूध का जला छांछ को फूंक-फूंककर पीता है। आज भी अम्मा सुनाती है कि एक बार खपरैल की छान से भीतर काला सांप कैसे घुस आया था। जैसे ही अम्मा छत पर चढ़ी कि उसने फुंकार भर दी और अम्मा उल्टे पांव पौड़े पर। कई पल सांस ही नहीं निकली। बड़ी मुश्किल से भगाया था।

मक्कियों के अलावा अम्मा कई-कुछ छत पर रखे रहती है। पीछे की तरफ पुरानी ऊन, गांठे, दो-तीन टूटी हुई लालटेनें, एक-दो टूटे छाते, खाली बोतलें, प्लास्टिक और रबड़ के पुराने जूते तथा दूसरी तरफ आठ-दस पुल्लियां शेल, उसे बाटने का कुटुआ, बटे हुए पशुओं के गलांवे और रस्सियां, जोच और छिकड़िया। बीऊल के छट्टों के नहीं जलाती। इसलिए गर्मियों में ही हरे छट्टों को बांधकर सूखने के बाद उन्हें दूर खड्ड में दबा देती है तथा गांव की एक-दो औरतों की ब्वारी से उन्हें तैयार होने पर फान लेती है। अम्मा के दो काम निपट जाते हैं। पहला छट्टे जलाने के लिए तैयार हो जाते हैं और दूसरा काफी पुल्लियां शेल निकल जाता है।

अम्मा के बिस्तर पर बड़बड़ाते ही ओबरे में गाय बोल पड़ती है। हालांकि गोशाला काफी दूर है लेकिन इन दोनों के बीच की करीबियां कितनी हैं यह उनकी बातों से पता चलता है। गाय क्या कह रही है, क्या चाहती है, यह अम्मा बखूबी समझती है। बिस्तर से ही उसे समझाती रहती है। कई

बार डांट भी देती है, "हल्ला मत मचा न चाम्बी। उठने तो दे। पहले तेरा ही सोचूंगी।

दुधारु गाय है। जानती है अम्मा तड़के उसी को दुहेगी। रसोई में जाते ही अम्मा उसके लिए चोकर तैयार करती है। कई बार दुकान से चोकर न मिले तो आटे के खोरड़ से ही काम चलता है। कुछ छलीरा लेकर उसमें बासी रोटियां डालकर लस्सी छिड़क देती है। फिर एक मुट्ठी नमक और हाथ से उसे खूब घोल देती है। रात की बची एक-आधी रोटी भी साथ ले जाती है ताकि दूसरे पशुओं को भी टुकड़ा दे दे। गाय को चोकर या खोरड़ खाते देख भला दूसरे कहां मानेंगे।

अम्मा के ओबरे में एक जोड़ी बैल, एक बच्छिया और दो भेड़ें हैं। गाय का खूंटा दरवाजे के भीतर जाते दाईं ओर हैं उसके साथ ऊपर बच्छिया बंधी रहती है। थोड़ा इधर भेड़ें और दरवाजे के बाईं और दोनों बैल। दीवार के साथ पीछे बांस की सीढ़ियां रखी हैं जिसमें अम्मा चांगड़ में जाती हैं अम्मा ओबरे के चांगड़ को हमेशा घास से भरा रखती है ताकि हारी-बीमारी या मौसम खराब होने पर पशु भूखे न रहें। घास के साथ एक और दो-चार किल्टे और एक-दो डालें भी रखी रहती हैं।

दूध दुहने के बाद अम्मी सीधी रसोई में चली आती है। अब बिल्लियों और अम्मा का झगड़ा जमकर होता है। दोनों बिल्लियां घर की स्पील पर बैठी अम्मी की बाट निहारती रहती हैं। जैसे ही आंगन में अम्मा उतरेगी, वे दोनों आगे-पीछे, टांगों के बीच से भागती रहेंगी। अम्मा खूब चिढ़ती है। गालियां देती है। पर वह कहां मानने वाली। जानती हैं पहले दूध उन्हें ही मिलेगा। म्याऊं-म्याऊं से सारा घर ही जगा देती हैं। अम्मा रसोई में जाते ही पहले उन्हीं के बर्तन में बाल्टी से दूध उड़ेल देती है।

अब अम्मा को आग जलानी है। मौसम अच्छा हो या गर्मियों के दिन, तो अम्मा ओबरे के पास से ही हाथ में सूखी घास ले आती है। और सर्दी या बरसात में बीऊल की लकड़ी की एक-दो पांखें चूल्हे में पिछली रात दबाई आग के बीच

ठूंस देती हैं अम्मा सोने से पहले चूल्हे की आग को चाव से दबा देती है ताकि बुझ न जाए। अंगारे कम हों या फिर बुझने का अंदेसा हो तो अम्मा सूखे उपले को उनमें ठूंस देती है ताकि आग न बुझे। शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि अम्मा के चूल्हे में आग बुझ गई हो। अम्मा कहती है घर में आग बुझना बुरा होता है।

अम्मा चिमटे से आग के अंगारों को खरोड़ती है। फिर उस पर घास या लकड़ी डालकर उनके जलने का इंतजार करती है। अम्मा को फूंक मारकर आग जलाना नहीं सुहाता। खांसी लगती है। भीतर इस तरह कई-कई मिनटों तक धुएं का साम्राज्य छा जाता है। धुएं ने दीवारें खूब काली कर दी हैं। बरसों से ऊपर और आर-पार जाले पड़े हैं। इनमें और अम्मा में कोई अंतर नहीं दिखता। अम्मा भी धुंए-जैसी हो गई है। कोई देखे-सुने तो कई भ्रम होने लगते हैं। जैसे यह धुआं लकड़ियों का न होकर अम्मा के भीतर जल रही किसी चीज से उठ रहा हो।

बिना घड़ी समय आंकना अम्मा को बखूबी आता है। घर में न घड़ी है और न मुर्गा, जैसे अम्मा को अंधेरे की आहटों का पूरा ज्ञान हो। चांद और तारों की छांव से समय की परख कोई अम्मा से सीखे। सूरज की चाल पर समय बताना अम्मा के दाएं हाथ का खेल है। सुबह एक ही समय उठना अम्मा की आदत है इसलिए चिड़ियां भी धोखा खा जाती हैं कि पहले वे उठती हैं कि अम्मा। चिड़ियों से अम्मा की खूब पटती हैं जैसे उनकी भोर अम्मा के ही आंगन में होती हो। ओबरे और रसोई का काम निपटाने के बाद अम्मा उन्हें दाना डालना नहीं भूलती। अम्मा ने चावल का चूरा, बथ्थू, कोदा इत्यादि अलग से ही रखा होता है। घर के दोनों तरफ पेड़ की टहनियों में बहुत नीचे चिड़ियों को पौ लगाती है अम्मा। विशेषकर गर्मियों में, ताकि चिड़ियों को पानी मिलता रहे। इसके लिए कुम्हार से हर वर्ष मिट्टी की डिबड़िया अम्मा मंगवा रखती है।

गांव तक चिड़ियों को बुलाने की आवाज सुनाई देती है। भले ही वे आसपास चहक रही हों, अम्मा दाना फेंकते उन्हें जोर-जोर से बुलाया करती है, "चिड़ू आओ, चिड़िया ओऽऽओ।"

दाना खाती चिड़ियों को बिल्लियां न झपटें, इसका अम्मा विशेष ध्यान रखती है। जब तक उनका दाना खत्म न हो जाए, वह दरवाजे की दहलीज पर बैठी बीड़ी पिया करती है या फिर रसोई में उन्हें दूध दे देती है ताकि बाहर न आएं।

अम्मा के अकेलेपन का विचित्र संसार हैं सुबह से शाम तक अम्मा कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी के साथ व्यस्त रहती है। अकेलेपन के अनेक सहारे पाल लिए हैं अम्मा ने। ऐसा कोई बच्चा गांव का न होगा जो अम्मा के यहां गुड़ की डली या मक्खन-रोटी न खा जाता हो, ऐसी औरत न होगी जो पानी-पनिहार, घास-लकड़ी को आते-जाते अम्मा के आंगन बैठ बीड़ी का कश न मार जाती होगी, ऐसा कुत्ता न होगा जो अम्मा के दरवाजे टुकड़ा न खा जाता होगा और ऐसी चिड़िया न बची होगी जो अम्मा का दाना न चुग जाती होगी। पशु भी आते-जाते उसका आंगन झांक ही लेते हैं।

अम्मा कभी बीमार होती है तो गांव की लड़कियां या औरतें अम्मा का काम निपटा जाती हैं। पानी-पनिहार से लेकर घास-पत्ती तक। बीमारी में अम्मा को न गाय तंग करती है, न बिल्लियां और न ही चिड़ियां। न अम्मा किसी से झगड़ती है। अम्मा को जुकाम अक्सर होता रहता है। ऊपर से सिरदर्द। गाय ही अम्मा के बालों को और माथे को चाटकर सहलाती है। बिल्लियां आसपास ही चुपचाप या तो बैठ जाती हैं या फिर अम्मा के पाँव या हाथ चाटती रहती हैं। चिड़ियों का दल पौ लगे पेड़ों पर चहचहाते हुए फुदकता रहता है, जैसे वह भी बेबस अम्मा के आसपास आकर रहें, पर बिल्लियों के डर से वह नहीं आतीं। ...इन सभी की दुआओं से ठीक होती होगी अम्मा।

पिता को मरे चार बरस हो गए हैं। उन दोनों के एक बेटा था और एक

बेटी। बेटी की छोटी उम्र में ब्याह कर दिया। बेटे को खूब पढ़ाया-लिखाया। उसके पिता की जिद्द रहती कि एक ही बेटा है, इसे अफसर नहीं बनाया तो हमारा कमाना व्यर्थ है। उसे खूब पढ़ाया-लिखाया। हजारों कर्जा सर पर ले लिया। एक-दो खेत रेहन रख लिए। कालेज पूरा हुआ तो नौकरी भी लग गई। लेकिन उन बूढ़ों को यह भनक भी न लगी कि शहर के तौर तरीकों और चटक ने उसे उन दोनों से बहुत दूर कर दिया हैं उसका रिश्ता अपनी माटी से कटता गया। फासले बढ़ते चले गए और एक दिन जब उन दोनों को यह खबर मिली कि उसने शहर की किसी लड़की से ब्याह कर लिया तो बेचारे गांव में किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहे।

कई दिनों बाद बेटा बहू को लेकर गांव आया तो दो-चार दिनों बाद वापिस शहर लौट गया। बहू क्या जाने गांव का रहना होता कैसा है। उसे तो यहां कैदखाना हो गया। मिट्टी-गोबर की बास और बूढ़ों का रहन-सहन उसे नहीं भाया। अम्मा-पिता के अरमान थे, बहू आएगी तो उनकी टहल-फाजत करेगी। अम्मा के खोये दिन लौटेंगे। खूब खेती-बाड़ी होगी। पशुओं से फिर ओबरा भर जाएगा। गांव के सरीकों के बीच इज्जत-परतीत बढ़ेगी। उनका दुख-दर्द भी देखेगी। पोतू-पोतियों को अम्मा दिनभर खिलाती रहेगी। घर-आंगन में खुशियां-ही-खुशियां। पिता ने तो बेटे की शादी के लिए कई जगह रिश्तों की बात भी चला दी थी। सोचा करते कि एक ही एक बेटा हैं ऐसी शादी रचाऊंगा कि सरीक देखते रह जाएंगे। ....और यह देखते ही रहे।

अम्मा ठीक भी जल्दी हो जाती है। फिर वही दिनचर्या। वही काम-काज। सुबह से शाम तक कहीं-न-कहीं व्यस्त होती है अम्मा। कई बार गांव की कोई औरत या मर्द भी टोक देता है।

"देवरु काकी, क्यों अपने अंग-प्राण तुड़वा रही हो। बेटा हर महीने पांच सौ भेजता है। आराम कर।"

और अम्मा तड़ाक से जवाब दे देती है, "काम से कोई नहीं मरता रे। जब तक शरीर में प्राण है चलणा तो है ही। फिर इतणी जगह-जमीन, गाय-बैल बरबाद तो नहीं किए जाते।"

कभी परधान या कोई ठाकुर ताना कस देता, "देवरु! बेच दे जगह-जमीन। दे दे इन गाय-बैलों को। बहू-बेटा तो गांव आएंगे नहीं। इन्हें रखकर क्या करेगी। तेरे चला तो नहीं जाता अब।"

अम्मा इनकी चाल समझती है। जगह-जमीन पर इनकी नजरें हमेशा से लगी रही हैं। पर अम्मा के आगे टिकना मुश्किल है। कह देती है, "परधान जी, इतने तो अभी और पाल सकती हूं। नौकरी-चाकरी तो चार दिनों की है। बेटे ने कमा के घर ही आना है। इसकी चिंता मैं करूंगी तुम अपना काम निभाओं।

अम्मा समझती है, उनके मरने के बाद इन्हीं गिद्धों के काम आएगी यह खेती। नोच लेंगे टुकड़ा-टुकड़ा। बेटे को तो कोई परवाह है नहीं। गांव-गांव ही होता है। अपना-अपना ही। नौकरी चार दिनों की है। आदमी की इज्जत-परतीत तो घर से होती है।

डाकिया कई बार अम्मा को बेटे का मनीऑर्डर थमाते शहर के किस्से सुना जाता है। पिता के मरने के बाद हर माह बेटा अम्मा को पांच सौ भेजता है। पर अम्मा के अकेलेपन को वह रुपए कितना बांट पाए हैं, यह कोई अम्मा से पूछे। अम्मा का मन नहीं करता किसी से कुछ लेने का, पर गांव-बेड़ में इज्जत रहे, इसलिए ही पकड़ लेती है पैसे। अम्मा का खर्चा तो उसकी खेती और गाय ही दे देती है।

अम्मा को डाकिये की बातें कई बार अकेले में याद आ जाया करती हैं। वह डर जाती है। शहर में कितनी बेचैनी बढ़ गई है। रोज कुछ-न-कुछ घटता ही है। दंगे-फसाद होते हैं, लाठियां-गोलियां चलती हैं। इन सभी के बीच उसके बेटे-बहू कैसे रहते होंगे। पोतू स्कूल कैसे जाता होगा। इसलिए अम्मा को अपना गांव बहुत भला लगता है। कहीं कुछ नहीं घटता। शांति है। चैन है। न

दंगे-न-फसाद। न लाठियां न गोलियां... पर कोई क्या समझे कि अपने आप में कितनी आतंकित रहती हैं। मां का दिल है न... बेटा दूर ही क्यों न हो, बहू नफरत ही क्यों न करे, अम्मा अक्सर उन्हें याद किया करती है।

अम्मा साठ के करीब हो गई हैं अपने शरीर की कभी परवाह नहीं की। फटे-पुराने कपड़े जब तक चिथड़े-चिथड़े न हो जाएं, उतरेंगे नहीं। बाल अनधोये बिखरे रहते हैं जिन्हें अम्मा एक फटे हुए दुपट्टे से पीछे की तरफ बांधे रखती है। कई बार सोचती भी है कि सिर नहा ले, पर समय ही कहां मिलता है। कभी-कभार गांव की कोई औरत या ससुराल से बेटी आकर धुला जाती है तो अम्मा को कई दिनों चैन रहता है।

साल-फसल के दिन तो अम्मा के लिए खूब व्यस्तता के होते हैं। अम्मा की बुवाई-गुड़ाई ब्वारी से ही चलती हैं अम्मा की मदद के लिए पूरा गांव ही उमड़ पड़ता है। सभी जानते हैं कि अम्मा आदर-खातिर में कसर नहीं छोड़ती। कई बार छोकरे-दल्ले अम्मा से मजाक कर लेते हैं, "देख काकी। हम तो तेरी गुड़ाई या गोबराई में तभी आएंगे जब तू पौवा-शौवा पीने को देगी।

अम्मा झट से झाड़ देती है, "मुए शर्म करो। मुंह से तो दूध की बास नहीं गई, बोतल पूरी चाहिए। पौवा-शौवा कुछ नहीं मिलेगा।"

सभी जानते हैं आज के जमाने घी कहां मिलता है। पर अम्मा की गुड़ाई-गोबराई में यह परंपरा टूटी नहीं। खूब घी-शक्कर मिलता है।

अम्मा को याद है जब मक्की बड़ी होती तो खूब गुड़ाई लगती है। घर में बेटा होता, उसके पिता होते और ब्याही हुई बेटी। ऐसी गुड़ाई कभी न लगी हो जब तीस-चालीस ब्वारे न आए हों। अम्मा की गुड़ाई बिना ढोल-शहनाई के कभी नहीं हुई। पिता शहनाई के माहिर थे। गांव-परगने में तकरीबन सभी ब्याह शादियां, जातरें और गुड़ाईयां उन्हीं की शहनाई से निपटती थीं। गुड़ाई में तो अम्मा भी साथ रहती। उन्हें पिता के साथ विशेष तौर से गुड़ाई में बुलाया जाता। झूरी गाने में मजाल कि उनका मुकाबला कोई कर सके।

अपनी गुड़ाई का तो आनंद ही कुछ और रहता। पिता शहनाई पकड़ते। उनका जोड़ीदार ढोल और अम्मा कभी 'झूरी' तो कभी 'जुल्फिया' गाती।

अम्मा की आवाज मक्कियों के खेतों को चीरकर दूर घाटियों में टकरा जाती। खेत मानो जवान हो गए हों। बरसात के बादल उमड़ते-घुमड़ते हुए मस्ती में झूम रहे हों। रिमझिम बरखा और लोगों का अनूठा जोश, वातावरण को नया रंग दे गया हो। झूरी के बोल खत्म होते ही पिता की दूर से आवाज आती, "शाबाशे ऽऽऽऽऽऽऽ।"

आज भी अम्मा को गांव की औरतें अपनी गुड़ाई में मजबूर कर देती हैं कि वह एक-आध बोल झूरी के गा दे, पर अब वह पहले जैसा जोश कहां। हिम्मत कहां। वह मना कर देतीं। कहती, "अरे अब तो सांस तक नहीं लिया जाता, गाना तो दूर।"

सांस अम्मा ले भी कैसे। पर यह बात भला दूसरा कैसे जान सकता है कि अम्मा भीतर ही भीतर कितनी जल रही है। पर औरतें मानेगी कहां। फिर अम्मा मान भी जाती है, पर गाया नहीं जाता। दबी हुई आवाज में बोल ऐसे निकलते हैं जैसे किसी अनजान आदमी ने कोई राग गुनगुनाना शुरू कर दिया हो। गाते-गाते खांसी के आठ-दस चक्कर, आंखें लाल जैसे अम्मा के प्राण ही निकलने लगे हों।... पर अम्मा के जख्म तो हरे हो गए हैं। खांसते-खांसते उनकी आंखें पूर्व स्मृतियों से भर आती हैं। वह मुड़कर देखती हैं, जैसे पिता हाथ में शहनाई लिए दूर से कहने लगे हों, "लाड़ी। हो जाए एक झूरी।"

पर पिता है कहां... चार बरसों का अंतराल, जैसे कल ही की बात हो। विश्वास ही नहीं होता। पिता नहीं रहे हैं। अम्मा को उनकी यादें अक्सर सताती हैं। रुलाती हैं।... वही तो एक आसरा था अम्मा के लिए।

रात को कई बार अम्मा को लगता है, पिता दूसरी चारपाई पर हैं। जिस कमरे में अम्मा सोया करती है, पिता की चारपाई उसी में थी। अब भी चारपाई

वहीं है। अम्मा ने बदली नहीं। जैसे वह चारपाई भी उनके अकेलेपन को बांटती है। अम्मा कई-कई बार रात को पिता के लिए तंबाखू भरकर लाया करती। पिता का हुक्का आज तक चारपाई के सिरहाने वैसा ही है। दूसरे-तीसरे दिन अम्मा राख से उसे अवश्य मांज लेती है। उसका पानी बदल देती है। कोई गांव का बुजुर्ग आ जाए तो उसी में तंबाखू पिलाती है। कांसा इतना नया जैसे रेत पर चांदनी खनक रही हो।

कभी रात को अम्मा आधी नींद में उठकर धोखा ख़ा जाती है। पिता सोये हुए अक्सर ऊपर ओढ़ी रजाई नीचे फेंक दिया करते थे। अंधेरे में अम्मा को पिता की सांसें सुन पड़ती हैं। चारपाई पर हरकतें होती दिखती हैं। वह डठकर अंधेरे में हाथ से छूती है तो वहां बिल्लियां सोई रहती हैं। अम्मा उन्हें नहीं छेड़ती। चुपचाप लौटकर बिस्तर में घुस जाया करती हैं बिल्लियां कई बार ऐसा ही करती हैं। वह जब अम्मा के बिस्तर में नहीं जातीं तो पिताजी की चारपाई के बीच सोई रहती हैं।

अम्मा का विश्वास है पिता की अल्पमृत्यु हुई है। उन्होंने अचानक प्राण छोड़ दिए थे। कई बार सपने में आते हैं। कहते हैं, "लाड़ी! हरिद्वार-पोहा करवा ले। मेरे प्राण बीच में अटके हैं।"

अम्मा क्या करे। कैसे करवाए। घर से बाहर परदेस हैं सोचती है, पित्तर बिगड़े तो कभी सुख-शान्ति नहीं होती। यह बात अम्मा को बराबर कचोटती है। भीतर-ही-भीतर सालती हैं बेटे को 'पित्तरदोष' लगा हैं अम्मा एक बार 'मशाण' जगाने वाले के पास गई थी। उस आदमी को पित्तरों को बुलाने में महारत हासिल थी। इतना गुणी कि सात पीढ़ियों के पित्तर बुला देता।

अम्मा ने भी पूछा तो पिता आए थे। अम्मा सुनाती है, उनकी वही जुबान, वही बोलचाल, जैसे काली चदर के नीचे मशाण जगाने वाला नहीं बल्कि ख़ुद पिता बैठे हों। कहने लगे, "लाड़ी! तुम्हारे से कोई गिला-शिकवा नहीं। बेटे के पास मन अटका है। उसे ही भेजना।"

पर कैसे भिजवाए बेटे को। शहर ही का होकर रह गया है। उसकी बला से कुछ हो। भुगतेगा, जब पानी सर से चढ़ जाएगा।

आंगन में बांधे बैल चौथे-पांचवें दिन खूंटा जरूर उखाड़ देते हैं। एक दिन ऐसा ही हुआ। धूप में सोई अम्मा को भेड़ का मिमियाना सुनाई दिया तो उठ गई। भेड़ अम्मा की अच्छी इनफौरमर है। अम्मा को उसी से पता लगता है कि भीतर या बाहर किसी पशु ने खूंटा उखाड़ दिया हैं जब भी कोई खुलता है तो वह डर का मिमियाने लग जाती है।

अम्मा के बैल बहुत शरीफ हैं पर कई दिनों से आपस में लड़ने लगे हैं। एक-दूसरे से दोनों को इरख हो गई है। अम्मा ने उठते ही भेड़ की तरफ देखा। वह खूंटे के चारों ओर डर के मारे घूम रही थी। रस्सी का फंदा लग गया। अम्मा के नजदीक पहुंचते ही धड़ाम से गिर पड़ी। अब बैल संभाले या भेड़। बैल को जोर से झाड़ दी तो उल्टा सींग मारने दौड़ आया। अम्मा के हाथ एक मोटा डंडा न लगता तो खेत में फेंक दी होती। अनर्थ। अपशकुन। जरूर किसी ने कुछ कर दिया है। वरना अम्मा के पशु मजाल कि उसकी न सुने। पहले जैसे-कैसे डरते हुए उसे ओबरे में भगाकर बंद कर दिया। फिर भेड़ की रस्सी दरांती से काट दी। कई बूंदे पानी उसके मुंह में डालीं तो जान-में-जान आई।

अम्मा के लिए खूंटों की परेशानी हमेशा रहती है। खूंटा नहीं गाड़ा जाता। ओबरे के आंगन की बीड़ पर तब तक बैठी रहती है जब तक कि कोई गांव का मर्द या छोकरा-छल्ला दिख न जाए। इस बार देवता का पुजारी दिखा। जोर से हांक दी तो वह खेती से ही ऊपर चढ़ आया। नजदीक पहुंचा तो अम्मा ने माथा टेककर सुख-सांद पूछी। बैठने को पटड़ा दिया और साथ एक बीड़ी भी दे दी। पुजारी ने जितनी देर में बीड़ी सुलगाई, अम्मा भीतर से घण लेकर पहुंच गई।

"पंडजी सबसे पहले तो खूंटा गाड़ दो। इस बैल ने तो आज जान से ही मार दी थी।"

उसने कंधे से पट्टू पटड़े पर फेंक दिया और घण खूंठा ठोंकने लग गया। खूंटा लगा तो अम्मा को चैन आ गई। पुजारी ने आंगन में दूसरे खूंटों पर एक-एक ठोंक दी ताकि पक्के हो जाएं।" ऐसा कभी नहीं हुआ था पंडजी। आप जरा कुछ खोट-दोष देख दो," अम्मा कहने लगी।

यह कहते अम्मा भीतर गई और उल्टे पांव लौट आई। कांसे की थाली में कुछ कणक के दाने पुजारी को थमा दिए। वह पटड़े पर चौकड़ी मारकर बैठक गया। कांसे की थाली उलटी जमीन पर रख दी। उस पर दाने ढेरी में एक तरफ रखे। फिर उठाए और अम्मा को कहा कि फूंक मार दे। अम्मा ने वैसा ही किया। पुजारी ने दानों को कुछ देर मुट्ठी में बंद रखा। मुंह के पास ले जाकर मंत्र का जाप किया। देवी-देवताओं का नाम लिया और फिर थाली की पीठ पर डाल दिए। बारी-बारी दानों की गिनती शुरू हो गई। अम्मा सामने उकडूं बैठी एकटक देखती रही। मन-ही-मन देवता का नाम भी जपती रही।

पुजारी का चेहरा लाल हो गया। जैसे देवता आ रहा हो। नीचे से तीन बार दाने उठाकर अम्मा को दिए। तीनों बार पांच-पांच आए। अम्मा जानती है चार और पांच दाने रक्षा के होते हैं जबकि छः दाने दोष-खोट के। दाने पकड़ाते पुजारी ने समझाया, "देख देवरु! कुछ गल जरूर है। कल जेठी सक्रांत है। तू कोठी के पास अवश्य आना। देवता लाभ देगा। तू हाथ-पांव धोकर आज कुलदेवी को धूप जलाना। गौंच-गंगाजल छिड़क देना। कुछ दाने बाहर-भीतर फेंकना और कुछ आटे की पिन्नी में बैल को खिला देना।" पुजारी यह कहते-कहते उठकर चला गया।

अम्मा ने वैसा ही किया। दूसरे दिन का इंतजार मन में बैठ गया। सोचती रही जरूर कुछ बात है। देवता की कोठी में वह अवश्य जाएगी। पंची करवाएगी। अपने साथ बहू-बेटे के लिए भी पूछेगी कि उनका घर से मुंह किसने फिरवा दिया। किस दुश्मन ने भूत फेंक दिया।

दूसरे दिन अम्मा ने जल्दी-जल्दी घर का काम निपटाया। देवता की कोठी अम्मा के मकान से एक फलांग भी नहीं है। बिलकुल दरवाजे के सामने। बाहर निकले तो सीधी नजर देवता पर जाए। इसलिए अम्मा कभी आंगन में जूठ-परीठ नहीं फेंकती। हमेशा गंगाजल या गौंच छिड़क दिया करती है। घर-गृहा पवित्र रहे तो मन को शांति रहती है। पर अम्मा के मन को शांति मिली ही कब?

तीन बजे अम्मा रोट-धूप लिए कोठी के पास चली गई। पहुंची तो दीवाल के बाहर जूते उतार दिए और जहां औरतों के बैठने की जगह थी वहां चुपचाप बैठ गई। पहले देवता को माथा टेका। फिर रोट की ठाकरी एक कारदार के पास थमा दी। कारदार ने रोट बाहर भैरों के लघु मंदिर के पास उल्टा दिया। तीन उंगली रोट उठा चारों तरफ अम्मा के नाम से देवता को फेंक दिया और पीछे से गौंच के दो-चार छींटे। फिर कुछ चावल और एक फूल ठाकरी में डाल वह अम्मा को लौटा दी। अम्मा ने फिर हाथ जोड़े।

चुपचाप बैठी अम्मा की नजरें कोठी के आंगन में थीं। कारदार इकट्ठे होने लगे थे। देवता का बजंतर बाहर निकाल दिया था। नगारची ने नगाड़ा, ढोलिये ने ढोल, चांबी ढ़ोल वालों ने एक-एक चांबी, नरसिंगे वाले ने नरसिंगा और करनालची ने करनाल थाम ली थी। शहनाइयां अब नहीं था। अम्मा को वह खालीपन भीतर तक काट गया। पति याद आ गए। वही देवता की हर रस्म अपने परिवार से कारदार के रूप में निभाते थे। पति ही देवता के शहनाइये थे। हर सक्रांत को, हर जातर में और हर देवता के काम में उनकी हाजरी रहती। अम्मा को लगा कि जैसे वह अभी कहीं से आएंगे। बजंतरियों के बीच बैठने से पहले दोनों हाथों से देवता को प्रणाम करेंगे और फिर थैली से शहनाई निकालकर पत्ता ठीक करने लग जाएंगे। फिर चिंचियाएंगे और उनके स्वर के साथ ढोलिया भी अपना स्वर ठीक करने लग जाएगा।

अब पति नहीं है तो कोई देवता का शहनाइयां भी नहीं। अम्मा की आंखें भर गई हैं।

पंची शुरू होने लगी हैं। अम्मा आगे खिसक गई। पुजारी कोठी से बाहर आया तो अपने आसन पर बैठने से पहले इधर-उधर नजरें दौड़ाईं। अम्मा ने दूर से ही प्रणाम कर दिया। कोठी के आंगन में पूरब की तरफ बैठता है। पुजारी। दाएं -बाएं दो कारदार यानि पंच। सामने तीन अलग-अलग देवता के गूर। पंचों ने एक थाली में, धूप, चावल, सिंदूर और दो-तीन डलियां गुड़ की अपने पास रख लीं।

जंग शुरू हुआ। ढोल-नगाड़ा और दूसरे बाजे खनके। लोगों की नजरें केंद्रित हो गईं। अम्मा को ऐसा ही होता है जब देवता का जंग शुरू हो जाता है। सारे वाद्य यंत्र जब एक साथ बजते हैं तो वातावरण में जैसे एक अजीब-सा जोश भर जाता है। बीच-बीच में एक कारदार रोट यानि आटे की चुटखियां उठाकर चारों तरफ फेंक देता है और पीछे से गौमूत्र के छींटे।

पुजारी में कंपकंपी होने लगी। मुख्य गूर भी पुजारी ही हैं। देवता आने लगा। बजंतर और भी तेज को गया। हाथ श्रद्धा से जुड़ गए, सिर झुक गया और देवता पूरी तरह आ गया।

देवता आता है तो पुजारी जोर से जमीन पर हाथ मार देता है, "रख्खे...।"

सभी ऐसा ही कहते हैं। पंच चावल या कणक के मुट्ठी भर दाने पुजारी के कंपकंपाते हाथ में डाल देता है। पुजारी कई बार हवा में रक्षा के दाने उछालता है।

पंची शुरू हो गई। अम्मा का कलेजा फटा जा रहा है। हाथ रखती तो झटक जाता। कितनी बेचैनी। कितना भय। देवता ने खुद अम्मा को हांक लगाई तो वह चौंककर खड़ी हो गई, "आगे आ जा देवरु।"

एक कारदार झटपट अम्मा को नजदीक लाया। देवता जोर से खेला। खूब किल्कें दीं। शंगल कूटा। अम्मा इस बीच चुपचाप खड़ी रही। पर भीतर एक तूफान था। आज सबकुछ कह देगी देवता से। सबकुछ मांगेगी...

कितना कुछ है अम्मा के मन में मांगने को। एक बात होती तो पूछे, अम्मा के पास तो प्रश्न-ही-प्रश्न हैं। दुख-ही-दुख हैं। सभी प्रश्न आंखों में तैर आए। छलछला गईं आंखे... देवता ने पढ़ ली होंगी। वह तो मन की बूझता हैं उसके पास भला क्या छुपाना?

"बैल ठीक है न?"

"तेरी रक्षा है देवा।"

"ये लो तेरे रक्षा के चावल। आंगन के चारों तरफ फेंकना। जा...आज के बाद तेरा बाल बांका भी न हो। कांटा भी न टूटे।"

अम्मा ने सिर झुका लिया। आंखों में तैरते हजारों प्रश्न दो बूंदों में धरती पर आ गिरे।..... शायद देवता ने सहेज लिए हों। देवता अम्मा को देखता रहा. .. अपार श्रद्धा की देवी थी अम्मा। बे-जुबान पशु, और देवता ही तो सहारे हैं। कोठी से बाहर निकली तो कुछ औरतें दीवाल पर बैठी दिखीं। टोक दिया, "माल़ नजदीक है देवरु, रोज माल़ गाने आया करियो।"

कुछ नहीं बोली अम्मा। चुपचाप चली आई।

घर पहुंची तो औरतों का बुलाना याद आ गया। माल़ याद आ गई। इस पशुओं के त्योहार को कैसे-कैसे नहीं मनाती थी अम्मा।

पर मन नहीं करता कहीं आने-जाने को। वरना पहले कोई माल़ अम्मा के बिना नहीं गाई जाती। आठ दिनों पहले शुरू हो जाती। कोठी के पास कई घंटों देर रात तक औरतें गाती रहतीं। चांदनी रात में दूर-दूर तक गीतों की आवाज जाती। अम्मा उन्हीं के बीच रहती। माल़ गाती। तरह-तरह के हंसी-मजाक करती। ठठेलियां करती। और आठवें दिन अम्मा के पशु सजे-संवरे पानी के पास सबसे पहले पहुंचे होते। अम्मा ने भुनी मक्कियों और अखरोटों की चन्नियों की झोली भरी होती। जो भी मिलता, उसे ही मुट्ठी भर दिए जाती।

कल और आ रही है माल़। अम्मा की माल़ तो पिछले बरस जैसी होगी। निपट अकेली। कोई नहीं गाएगा। कोई नहीं आएगा। बिल्लियां होंगी। एक गाय, दो बैल और दो भेड़ें। इन्हीं के बीच मनेगा अम्मा का यह त्योहार। अम्मा गाएगी तो आवाजें मन ही दहलीज से बाहर न निकलेंगी, चारदीवारी से टकराकर रह जाएंगी।

मनानी तो है ही। कोई दूसरा त्योहार होता तो अम्मा टाल देती। पशुओं का त्योहार बरस बाद आया है, इसे तो मनाना ही है। अम्मा भूल गई थी कि हार के लिए बुंगड़ी और सरतवाज के फूल भी लाने हैं। सरतवाज तो आंगन में खूब हैं पर बुंगड़ी के फूल दूर घासनी से लाने होंगे। यही तो फूल हैं जो माल़ को पशुओं में सजता है।

हल्के अंधेरे में ही गई थीं अम्मा। सफेद फूल को चुनने में देरी ही कितनी लगी होगी। झटपट लौट आई। चांगड़ से एक पुल्ली शेल निकाले। सरतवाज के फूल तोड़े और चार-पांच हार ढिबरी की रोशनी में गूंथ दिए।

सुबह वहीं दिनचर्या थी। अम्मा उठी। आज का दिन तो पशुओं के नाम हैं कामकाज निपटाया। पहले छोटी बच्छिया खोली। उसे खूब हरा घास खिलाया। आंगन में गोबर से लिपाई की। उसके मध्य आटे और हल्दी से छोटा-सा मंडप बनाया। फूल रखे, जूभ लाई। पिन्नियां तड़के ही बना दी थीं। एक कड़छी में आग के अंगारे भरे और उस पर थोड़ा घी डाल दिया। धूप तैयार। बच्छिया को खड़ा किया। उसके पांव धोये और धूप से पूजा की।

फिर ओबरे में चली गई। हार बैलों और गाय के गले में पहना दिये। हल्दी और चावल का हल्का पीला रंग गिलास के गुंह पर लगा सभी की पीठ पर छपे लगा दिए। सजेधजे सुंदर लग रहे थे सभी। भेड़ों को जरूर ईर्ष्या हुई होगी। वह कनखियों से गाय-बैलों को निहार रही थीं। अम्मा ने बहुत सारी आटे की पिन्नियां बनाई हुई थीं। उन्हें भी एक-एक खिला दी। अनायास ही गीत के बोल मुंह से फूट पड़े...., "माल़ लगी गाईए... होऽऽमालो।"

गांव से भी माल़ गाने की आवाजें आ रही थी।

याद आ गई, जब सभी साथ होते। पिता सबसे पहले गाय पूजते। गोशाला में बारी-बारी सबके पांव धोते। पिन्नियां खिलाते जाते। और गांव के पशुओं के लिए भी पिन्नियां ले जाते। शाम को खूब खाना-पीना होता। कई-कुछ पकता। आज न पति है न बेटा। बहू के लिए माल़ काला अक्षर भैंस बराबर। यादों ने रुला दिया अम्मा को। अब अम्मा ऐसे ही रोया करती है उठते-बैठते, काम करते। रोटियां पकाते। सोते और जागते।

डाकिये ने आवाज दी तो अम्मा चौकस हो गई। बोला, “काकी चिट्ठी है।”

गोशाला से उल्टे पांव दौड़ गई।

अम्मा को भला कौन लिखेगा। चिट्ठी। बेटे ने तो कभी दी नहीं। बेटी ऐसे ही किसी आने-जाने वाले के पास राजीबंदा भेज देती है। जरूर डाकिये को धोखा लगा है।

फिर भी पूछ ही लिया, “मेरी....?”

“हां काकी, तेरी ही है। देख तेरा ही नाम लिखा है, पर अम्मा कैसे पढे। डाकिए को ही कहती है कि पढ़कर सुना दे।

डाकिए ने ही बताया था कि, “काकी तुम्हारा बेटा आ रहा है...।”

चौंकी थी अम्मा, “मेरा बेटा....?”

विश्वास नहीं हो रहा था कि डाकिया सच बोल गया। हाथ में खुली चिट्ठी भगवान हो गई अम्मा के लिए। जाते डाकिये को आवाज देना चाहती थी कि बहू नहीं आ रही है उसके साथ। पर वह निकल गया।

कुछ मायूस हो गई। वह आएगी भी क्यों। उसकी क्या लगती हूं मैं। वह तो शहरी मेम है। गांव नहीं भाता। गोबर-मिट्टी से बास आती है। रसोई में धुंआ काटता है। लस्सी, खैरू नहीं खा सकती। घास-पत्ती नहीं काट सकती। बैठने को कुर्सी नहीं है। घूमने को बाजार। खुले में पाखाना नहीं कर सकती... बेटे को भी मेम ही ब्याहणी थी। किसी शरीफ खानदान की लड़की लाता तो सुख से रहता।.

... मत आए कोई। ज्यादा कटी, थोड़ी रही। कितने दिन जीऊंगी। फिर मर्जी करें। जमीन-जगह रखें चाहे बेचें। मेरी बला से। पर जब तक प्राण हैं चलाए रखूंगी। सह लूंगी सबकुछ।

शनीचर को देर रात आया था बेटा

सड़क गांव से बहुत दूर है। पैदल कोई सात मील चला पड़ता है। बड़ी आस लिए थी अम्मा। बरसों बाद मां-बेटा एक साथ खाएंगे।

बेटा आया तो पहले सीधा अपने कमरे में चला गया। घर में एक कमरा उन्हीं के लिए बंद रहता है। अम्मा ने कभी नहीं खोला। कपड़े बदलकर काफी देर बाद आया। अम्मा ने ढिबरी की लौ और ज्यादा कर ली थी। देखेगी कितना जवान हो गया है। कैसा लगता है। कमजोर तो नहीं हो गया होगा?

कहीं पीछे चली गई है अम्मा। छोटा-सा था। स्कूल से आता... बाहर बस्ता फेंकता... पीठ पर चढ़ जाता। हाथ भी नहीं धोता... रोटी खाने की जल्दी लगी रहती... अम्मा आधी रोटी और मक्खन देती... खाकर गोद में सो जाया करता...।

अब वह बड़ा हो गया है। साहब है... आया तो पैरापावणा करके चुपचाप चूल्हे के पास बैठ गया। अम्मा चाहती थी वह खूब गले लगे... भरी आंखों से पूछे-क्या इतने दिनों मां याद नहीं आई...। कुछ नहीं हुआ। ऐसा नहीं मां रोई नहीं-भीतर-ही-भीतर....।

अम्मा ने चाय दे दी। फिर हाथ धोने को पानी। वह मुकर गया। बोला, रोटी शहर से ही बांध रखी थी। बस से उतरते ही खा ली।

उसके लिए इतना कहना सीधा था। अम्मा पर क्या गुजरी होगी, कौन जाने। घुटकर रह गई। मानो बिजली टूट गई हो। ऊपर कोई पहाड़ गिर गया हो। एक तूफान उठ गया भीतर। पर अम्मा आदी हो गई हैं मन आंधियों और तूफानों का ही तो घर है।

फिर बेटे ने ही चुप्पी तोड़ी थी।

"मां सुबह चले जाना है। बहुत काम हैं। नन्हें तो अंग्रेजी स्कूल में दाखिल करवाना है। सिफारिश करवाई थी कुछ नहीं हुआ। अब पूरे तीस हजार डोनेशन मांगते हैं।"

अम्मा की समझ में अधिक कुछ नहीं आया। पर वह भांप गई कि बेटा पैसे को आया है।

फिर बोला, "मां इस महीने पैसे नहीं दे सकूंगा।"

अम्मा ने विश्वास दिलाया, "तू फिक्र क्यों करता है। भगवान का दिया मेरे पास बहुत है बेटा। तू अपना काम कर। अब के बाद भेजना ही मत। मेरा खर्चा ही क्या होता है।"

सांत्वना दे गई अम्मा। लेकिन बेटे के मन में बात कहीं चुभ गई। कुछ नहीं बोला। चुपचाप बैठा रहा। अम्मा भी कई पल चुप रही। बस चिमटे से चूल्हे में यूं ही आग खरोड़ती रही। इस चुप्पी में कई सवाल छुपे थे। तरह-तरह के। फर्क इतना था अम्मा के पास जवाब हो सकते हैं पर बेटा तो हर तरफ से खाली है। अम्मा ने जैसे उसका चेहरा पढ़ लिया हो।

"नींद लगी होगी बेटा तुझे। बिस्तर बिछा आती हूं।"

कुछ नहीं कह पाया वह। अम्मा उठकर चली गई। बिस्तर झाड़ा, चादर बदली और पेटी से नई रजाई निकाल रख दी। कमरे को काफी देर तक निहारती रही... आश्चर्य हुआ। अपने ही घर का यह कमरा कितना अजनबी-सा लगा था अम्मा को। मानो किसी अनजाने घर में पसर आई हो।

वह भी उठ गया। थका हुआ सा। कितना मुरझाया हुआ चेहरा है उसका। जैसे हजारों गम मन में घर कर गए हों। चुपचाप कमरे में चला आया... हारा हुआ-सा। मन की बात भी न अम्मा से कह पाया। पास रहते हुए भी कितना दूर हो गया है वह। सोचता रहा, कैसे जाएगा शहर। खाली हाथ लौटेगा तो पत्नी

टोक देगी। मां से पैसे नहीं लाए। कैसे फीस भरेगी। वह चालाक है। जानती है बुढ़िया का खर्च कितना है। बेटा जो भेजता है उसे ऐसे ही रखती होगी। चार-पांच सालों की रकम कम नहीं होती। मिल जाए तो क्या कर्ज है।

कमरे में बहुत देर बैठा रहा। बेचैन। खामोश।

अम्मा ने कुछ भी नहीं खाया। कैसे खाती। बेटा इतने दिनों बाद आया भी तो शहर से रोटियां लेकर। पकाई रोटियां उसी तरह ढंक दीं। बीड़ी भी नहीं सुलगाई। अम्मी की चुप्पी फिर बिल्लियां ताड़ गईं।

काली चुपचाप चूल्हे के सेंक में घुर्राने लगी और निक्की अम्मा की गोदी में चढ़कर गला चाटने लग गई। अम्मा जानती है जब उन्हें शिकार नही मिलता, दूध के लिए यह दुलार ऐसे ही चलता है। अम्मा ने उसे दाएं हाथ से पकड़े रखा और दूसरे हाथ से बाल्टी से दूध उनके बर्तन में उड़ेल दिया। खूब सारा। दोनों छप्प-छप्प पीने लग गईं। पहले से ज्यादा दूध उड़ेल गई अम्मा।

आज हर तरफ अजीब-सा सन्नाटा है। अम्मा का किसी के साथ कोई झगड़ा नहीं है। बिल्लियां फिर पास आ जाती हैं। दोनों ही गोदी में चढ़ गई हैं। उन्हें अम्मा का स्नेह और चूल्हें का सेंक अपूर्व आनंद देता है। अम्मा उन्हें खूब प्यार करती है। खूब सहलाती है। आज तो जैसे स्नेह के अंबार लग गए हैं। बच्चों की तरह उन्हें अपनी छाती में भींच लिया हैं तुतलाती जुबान में पता नहीं उन्हें क्या-क्या कहती जा रही है.... बिल्लियां समझती होंगी अम्मा की जुबान। वह जितना बड़बड़ाती हैं, बिल्लियां उतना ही प्यार अम्मा से करती जाती है। अम्मा से बतियाने लगती हैं। म्याऊं....म्याऊं....घुर्ड..... घुर्ड.....घुर्ड।

उधर बेटे से कमरे में रहा नहीं गया तो हिम्मत बटोरकर रसोई तक चला आया। दरवाजा बंद था। अम्मा रसोई का दरवाजा बंद कर लिया करती है। बेटे को भ्रम हुआ अम्मा के साथ कोई दूसरा आदमी बातें कर रहा है। ऐसा रात कौन हो सकता हैं आगे बढ़ा और थोड़ा झुककर दरवाजें के पोरों में से भीतर झांका। सभी कुछ देख गया। भूल गया कि वह अम्मा से पैसे लेने आया है। उसे

लगा वह यहीं गांव में रहता है। जैसे अम्मा की गोदी में बिल्लियां नहीं, वह स्वयं है। अम्मा उसे दुलार रही है। बालों को सहला रही है। उसका संपूर्ण वात्सल्य उमड़ आया। वह बचपन के क्षणों को फिर जीना चाहता है। अम्मा के पास बैठकर। अम्मा की गोदी में सिर रखकर। चाहता है पहले जैसा अम्मा उसे डांटे। झगड़ा करे। वह अपना यह अधिकार इन जानवारों को कभी नहीं देगा... कभी नहीं।

दरवाजा खोलना चाहता था पर रुक गया। मन में एकाएक प्रश्न उठा, "कि क्या वह इस योग्य है। इस स्नेह के काबिल है?"

तभी अम्मा ने भीतर से टोका।

"सो जा बेटा... सुबह जाना है न।"

अम्मा ने आहटें पढ़ लीं। कैसे देखा इस घुप्प अंधेरे में उसे। वह तो दबे पांव आया था। वह अचंभित रह गया। कुछ कहता, उससे पहले ही अम्मा ने फिर कहा, "तेरे सिरहाने पैसे रख दिए हैं बेटा। लेते जाना। तेरे काम आएंगे।"

"पैसे...?"

अम्मा को किसने बताया कि मैं शहर से पैसे के लिए आया हूं। कैसे पढ़ ली मन की बात। पर इस समय इसका तो ख्याल भी न रहा था उसे?

मन किया जोर से चीखे। रोए। चिल्लाए। कहे कि मुझे अम्मा तुम्हारा प्यार चाहिए पैसे नहीं...। मन की चीख-पुकार मन ही में घुटकर रह गई। जुबान ही जैसे बंद हो गई हो। वह न कुछ सुन सकता है और न कुछ बोल सकता है। अंधेरे की परतों ने जैसे उसे पूरी तरह से जकड़ लिया हो। पांव जमीन में घुस गए हों। उसे नहीं पता वह ऊपर है या कि नीचे। धरती पर है या आसमान पर। खड़ा है या कि बैठा हुआ।

अम्मा फिर बिल्लियों के साथ बतियाने लगी है। जैसे उसे कुछ पता ही नहीं कि उसका बेटा दरवाजे के बाहर खड़ा है।

उल्टे पांव लौट आया। सिरहाने देखा एक पुराने रुमाल में चार सालों के पैसे बंधे हैं।... आंखें बरस आईं। आज हिसाब पूरा हो गया।

अम्मा की बिल्लियों से बतियाने की आवाजें अभी भी उसके कानों में पड़ रही थीं।

(पहल, 1995)

एस.आर.हरनोट

22 जनवरी 1955 को शिमला के छोटे से गांव चनावग में कथाकार एस. आर. हरनोट का जन्म हुआ। हरनोट ने कथा लेखन की शुरूआत नवें दशक में की और निरंतर लेखन किया। अंतिम दशक में इनकी कई कहानियाँ बहुत उल्लेखनीय रहीं। 'पंजा', 'अकाशबेल', 'पीठ पर पहाड़,' 'दारोश तथा अन्य कहानियां', 'जीनकाठी तथा अन्य कहानियां' नाम से कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। 'मिट्टी के लोग' (कहानी संग्रह) प्रकाशनाधीन है। हरनोट ने 'हिडिम्ब' नामक उपन्यास की भी रचना की जिसका प्रकाशन 2004 में हुआ ओर जो खासा चर्चित रहा। 'दारोश तथा अन्य कहानियां' पुस्तक के लिए वर्ष 2003 का 'अन्तर्राष्ट्रीय इन्दु शर्मा कथा सम्मान' के अतिरिक्त 2007 में हिमाचल राज्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त किया। 'जीनकाठी तथा अन्य कहानियां' संग्रह के लिए वर्ष 2009 का जे.सी. जोशी साधक जनप्रिय लेखक सम्मान प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त भी उन्हें कई सम्मानों से नवाजा जा चुका है। कहानी 'दारोश' पर दिल्ली दूरदर्शन द्वारा इंडियन कलासिक्स सीरीज के तहत फिल्म का निर्माण हुआ है।

सम्पर्क :- ओम भवन, मोरले बैंक इस्टेट, निगम विहार,
शिमला-2, हिमाचल प्रदेश
फोन - 0177-2625062

भविष्यद्रष्टा

ओमा शर्मा

विद्यात्र लिखिता याऽसो ललाटेऽक्षरमालिका।
देवज्ञस्तां पठेदव्यक्तं होशनिर्मल चक्षुषा...

(सर्वल्ली)

(सृष्टि रचियता ब्रह्मा ने सब जीवों का नसीब उनके ललाट पर खोद दिया है, कोई पारखी निगाह ज्योतिषी ही उसे पढ़ सकता है)

जिला भंडारा से खत? वहाँ मेरा कौन है? कहीं वैष्णो देवी या भभूति बाबा के नाम पर चलाये जा रहे गुमराह अभियान की लम्पट पकड़ से निजात पाने के लिए किसी 'एक और' मासूम शिकार ने तो नहीं लिखा। दाम और दंड की कनफोड़ डुगडुगी बजाती हुई एक चिट्ठी तो हर महीने आ ही जाती है। फलाँ ने बाबा के नाम पर इतने पर्चे छपवाये तो कैसे उसे विदेश यात्रा का योग मिला. ... फलाँ ने माँ के प्रचार की चिट्ठी रद्दी में सरका दी तो कैसे स्कूटर हादसे में उसकी टाँग चली गयी। आजिज आ गया हूँ। और सच कहूँ अपनी तमाम विवेकशीलता और दृष्टिकोण के बावजूद इन खतरों से अभी भी कहीं कोई कम्पन करवट ले उठता है। असफलताओं और हताशाओं ने कितना पिदाया है मुझे। कहीं इसकी वजह.... वो तो भला हो लोक सेवा आयोग का जिसने छब्बीस की उम्र खिसकने से पहले, यकीनन कुछ रहम खाकर, डूबते को तिनके का सहारा दे दिया। कितने ही दिन-महीने अखबार मेरे लिए, अखबार न होकर रोजगार समाचार बना रहा है और डाकिया कोई सम्भाव्य देवदूत।

और एक दिन जब वह नियुक्ति पत्र लाया था तो मंटो की 'खोल दो' कहानी अंदर कैसे भभक पड़ी थी।

अपरिचित चिट्ठियों से डर मुझे यों ही नहीं लगता है।

लेकिन 'कंसल' के स्थान पर 'अंकल' का संबोधन!

जो डर किसी सुनसान अँधेरे की तरह आतंकित कर रहा था, किसी सुनहली-गुनगुनी धूप-सा बिखर गया। तो यह आदित्य है। यानी आदित्य नारायण सतपती। एम.ए. के दिनों का मेरा उड़िया दोस्त। लेकिन सम्भलपुर के बजाय वह भंडारा में क्या कर रहा है। चार साल से भी ऊपर हो आया मुझे एम.ए. किये हुए।

इतना ही वक्त सतपती को हो गया होगा दिल्ली छोड़े।

खैर चिट्ठी पढ़ता हूँ। अभी पता लग जायेगा।

"न कुल्ला, न दातुन, न टट्टी, न पेशाब, बस आते ही चिट्ठियों में लग गया। गिका कहीं उड़ी जा रही हैं, हमतेऊ ज्यादा जरूली है", माँ ने पानी का गिलास थमाते हुए कहा।

ठीक बात थी। अभी मैंने अपने फीते भी नहीं खोले थे। अपना लम्बोदर बैग खाने की मेज पर पटककर फ्रिज की तरफ बढ़ गया था जो घर में पत्रों का ऐतिहासिक दड़बा था। नागपुर की अकादमी में चल रही राजकीय ट्रेनिंग से सप्ताहान्त पलायन का यह एक और उत्सव था। अचरज की बात थी कि ऐच्छिक अवकाश जैसी चीज भी प्रशिक्षार्थियों को स्वेच्छा या सुविधा से नहीं मिल सकती थी। आन्ध्रप्रदेशी सोमा शेखर रेड्डी को नक्सली धमकियों का सहारा था तो पंजाब के गुरमीत सिंह को उग्रवादियों से राहत मिलती थी। मुझे सहारा दिया 'लड़की देखने' ने।

"अरे मम्मी, नागपुर से आ रहे हैं तो अपनी गर्लफ्रैंड से तार करवाकर चले होंगे", ये मणि भाभी थीं। सुबह-सुबह अपने बैंक जाने की तैयारी में।

अपनी ज्यादती का अहसास होते ही मैं सहजता ओढ़ते हुए सबकी तरफ देखकर खिल उठा, "माँ जरा चाय बनाओ।"

माँ जब तक चाय लाती, मैं सतपती का खत पढ़ चुका था। रेलवे में पीडब्लूआई सरीखे काम कर रहा था। तीन बरस से। शादी कर ली थी और ढाई साल की बेटी चन्द्रिका का पिता बन चुका था। सरकारी क्वार्टर मिला हुआ था। ससुर मध्य रेलवे में उच्च अधिकारी हैं। आजकल डैपूटेशन पर। पत्नी कम ही पढ़ी-लिखी है और घर पर ही रहती है। मुझे पत्र लिखने की सोच ही रहा था काफी दिनों से। लेकिन टलता चला जा रहा था। कुछ रोज के लिए पत्नी मैके चली गयी थी। पत्र पुराने पते पर ही लिखा क्योंकि मैं कहीं भी हूँ, मुझ तक तो वह पहुँच ही जायेगा। प्रशान्त भाई का रिजर्व बैंक में प्रमोशन आ गया है। एकाध वर्ष यहीं और कट जाये तो फिर उड़ीसा की सोची जाय। लिखा था अपने बारे में काफी लिख चुका है। अब मैं खत मिलने पर उसे अपनी ताजा स्थिति से अवगत कराऊँ। शादी वगैर हो गयी क्या? डी-स्कूल जाना होता है क्या....

डी-स्कूल यानी दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स। बहुत कुछ अविस्मरणीय जुड़ा है इस स्कूल से। सर्वोत्तम क्लब का जैसे पासपोर्ट हमारे हाथ लग गया था। ये वही तो जगह थी जिसमें जगदीश भगवती, अमर्त्य सेन, राजकृष्णा, सुखमय चक्रवर्ती जैसे दिग्गजों की परछाइयाँ अभी भी नजर आती हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय ही नहीं, पूरे भारतवर्ष का एक गौरवशाली प्रतीक। लन्दन स्कूल की तर्ज पर वी के आर वी राव द्वारा स्थापित यकीनन अंतर्राष्ट्रीय संस्थान।

लेकिन शुरू में कितना खिंचा-खिंचा, अलगाव-सा रहा था। कितनी मुश्किल पढ़ाई और कितना बेगाना माहौल। जिसे देखो वहीं अँग्रेजी बघार रहा है। उसे चाहे जाने दो लेकिन यह गिरोह प्रवृत्ति क्यों? कोई बाहर से अकेला आया हो तो वो क्या करे। शुरू के दिनों में डी-स्कूल के फाटक में घुसते ही जो उत्कृष्टता-बोध घर करने लगता था, वहीं, क्लास में तलछट पर दरका दिये जाने पर, एक दुर्गम हीनता-बोध में रूपान्तरित हो जाता था। हिन्दू, स्टीफन, श्रीराम

और हंसराज कॉलेजों की ऐसी दमक थी कि अन्य सभी दोयम और रबूद घोषित कर दिये जाते थे। लेडी श्रीराम भी शायद उन्हीं में था।

उसी मानसिकता में जब आदित्य को भी पाया तो एक नैसर्गिक मैत्रीभाव उगते ही पुख्ता हो उठा था।

"मैं रविंशा कालेज कटक से", उसने कहा।

"मैं श्यामलाल कालेज दिल्ली से", मैंने जोड़ा।

यह उन्हीं दिनों की बात है जब हिन्दू कालेज से आये राकेश गोस्वामी ने स्टीफन के मयंक रतूड़ी को अपने परिचय में सगर्व कहा था, "मेरे पिता सोशियॉलॉजी के प्रोफेसर हैं।"

"कौन"

"तुम नहीं जानते"

"नहीं"

"प्रोफेसर दिनेश गोस्वामी।"

"अबे प्रोफेसर है तो क्या मेरी झांट कूटेगा।"

मैं और आदित्य ठीक पीछे की सीट पर थे। आदित्य और राकेश बस इतना ही जान पाये कि राकेश को 'स्नब' कर दिया है। पंचलाइन के निकलते ही मेरी हँसी छूट भागी। इसी बाबत मयंक से दोस्ती की पूरी गुंजाइश दिखी जो साकार भी हुई। उस दिन यह भी लग गया कि डी-स्कूल की जिन दीवारों को हमने पवित्रता से परे की पवित्रता का दर्जा दिया हुआ है उस पर भी किसी भदेस रंगरेज ने कूचियाँ फिरायी हुई हैं।

अपने डगमगाते मनोबल को इस वाकये ने बड़ी नाजुकी से संभाल दिया था।

मयंक को तो इसी दिन से 'पहाड़ी' का सर्वनाम नवाज दिया गया था।

पूरे हींग-कुलीन माहौल में अपने जैसे 'देसियों' को अलग जगह बनने लगी थी।

एक पखवाड़े के बाद मेरा नामकरण 'अंकल' कर दिया गया था। संदर्भ था उसी दिन रिलीज हुई 'खलनायक' फिल्म के प्लाजा में प्रथम शो का समूह दर्शन।

बस स्टॉप पर ही, आते हुए वाहन को देखकर एक कमसिन ने मुझसे पूछा था, "अंकल, ये बस कनॉट प्लेस जायेगी।"

दूससे पहले कि मैं उसके प्रश्न के आपत्तिजनक भाग पर सोच पाता, मुँह से निकल गया "हाँ"।

उस दिन के बाद से विनय कुमार कंसल को 'अंकल' के सर्टिफिकेटों के सिवाय सभी जगहों से धकिया दिया गया था। शुरू में जरूर कुछ असुविधा लगी। मन में खयाल भी आया कि मैं भी औरों को 'चिलम', 'ढक्कन', 'घन्टू' या 'आडू' जैसे 'सम्मान' परोसूँगा, लेकिन बात कुछ बन नहीं पायी। एक-दो महीने में ही मैं 'अंकल' के साथ कम्फर्टेबल हो गया था। कोई कहता, "साले अंकल कल क्यों नहीं आया" या "अंकल ज्यादा चुतियापा मत कर, चल" तो मुझे कुछ भी अटपटा नहीं लगा।

वैसे भी मेरे टकलू होने की शुरूआत तो हो ही चुकी थी।

हाँ, सतपती ने मुझे विनय कहना बहुत देर बाद छोड़ा। वह भी मेरे कहने पर क्योंकि घर पर 'विन्नी' तथा डी-स्कूल में 'अंकल' मेरे अवचेतन से इस कदर चस्पां हो गये थे कि 'विनय' के लिए जगह ही नहीं बचती थी। बस टीचर्स अपवाद थे।

हम दोनों प्रगति मैदान एक प्रदर्शनी देखने जा रहे थे। माल रोड से ही 'मुद्रिका' पकड़नी थी।

"बाइसाब ये बस प्रगति मैदान जायेगा", पायदान से आगे चढ़कर, खाली-सी बस में, अपनी टूटी-फूटी हिन्दी के सहारे सतपती ने कंडक्टर से पूछा।

"किसी को बतइयो नई" अपने कागज पर कुछ काट-पीट करते कंडक्टर ने बिना नजरें उठाये कहा।

मैंने उसे दो रुपये थमा दिये और लोट-पोट हँसने लगा। सतपती भौंचक और ठका-सा था। उतरते ही जब मैंने उसे सूत्र समझाया तो पूरी भड़ास के साथ बोला, "साला बहुत चूतिया था" हमारे साथ रहकर उसे इस शब्द की सार्वभौमिकता का ज्ञान हो चुका था। बेवकूफ, ठुस्स या गँवार से भी ऊपर की चीज होता है...

"चूतिया नहीं जाट था.... वह भी हरियाणवी" मैंने समझाया।

हम अपनी बस के इन्तजार में ही थे कि तभी कुछ झिझकते हुए वह बोला, "विनय एक कॉइन..."

मैं दहल उठा। महीने से भी ऊपर हुए परिचय के दौरान उसे वहीं आधी बाजू की हरी कमीज और भदमैली चप्पलें पहनते देख मुझे उसकी तंगहाली का अहसास तो हो रहा था पर यह ज्ञान कदाचित नहीं था कि वह इस कदर फफ्फस है।

बांय बांय करती असहजता के बावजूद मैंने पाँच का एक नोट उसकी हथेली से चिपका दिया "नो नो ए कॉइन विल डू" प्रतिरोध में कहीं आत्मसम्मान भी घुला हुआ था, लेकिन जरूरत उस पर भारी पड़ रही थी।

"कीप इट" कहकर मैं बिना देखे ही आयी हुई एक बस में घुसड़ गया।

उसके बाद एक-दो रोज सतपती मिलने पर असहज-सा हो जाता। उसे लग रहा था वह बहुत जल्द ही मेरे समक्ष निर्वस्त्र हो गया था।

कक्षाएँ सुबह 9.20 से प्रारंभ होकर दोपहर 1.10 तक चलती थीं। तीन बजे के बाद रतन टाटा लायब्रेरी (जिसे सभी लोग आर टी एल कहते थे) में जमने वालों को पोटुओं पर गिना जा सकता था। सतपती हमेशा दिखता था।

ऐसे ही एक रोज हम कैन्टीन के बजाय पानसिंह की गुमटी पर चाय पी रहे थे। तभी उसने खुलासा किया था।

उसके परिवार में माँ के अलावा एक छोटी बहन और हैं गाँव में। दोनों घर-बाहर में मजूरी करके, बाँस के छबड़े-डलिया बनाकर गुजारा करते हैं। पिता

भी मजदूर थे-भूमिहीन मजदूर, लेकिन उसके दो बरस का होते ही वे चल बसे। कोई नहीं जान पाया उन्हें क्या हुआ था। माँ का कहना है उन्हें पीलिया था। सम्पत्ति के नाम पर गाँव के सिमाने पर बनी चालीस-पचास झोंपड़ियों में एक उसकी भी है। शुरू में वह भी गाँव में मजूरी करता था लेकिन कुछ दिनों बाद वह पड़ोसी बड़े गाँव में भी जाने लगा। यहाँ पर एक स्कूल भी था। वहीं से उसने पढ़ना शुरू किया।

दूर के रिश्तेदारों में एक प्रशान्त भाई थे जो उसे पढ़ने के लिए खूब उकसाते थे। माँ ने कह दिया था, "बेटा रोटी के लिए मैं तुझसे आसरा नहीं रखती, पर पढ़ाई के लिए तू मुझे उम्मीद मत रखना।" इसका नतीजा यह हुआ कि प्रारम्भिक दौर में ही उसे कई मर्तबा एक ही क्लास में कई प्रयास करने पड़े गये। स्कूल की फीस दस या बारह पैसा हुआ करती थी, लेकिन उसे भी भरना किसी विपत्ति से कम नहीं लगता था।

दस रोज भूखा रहकर भी लगता था महीना कितनी जल्दी आ जाता है। किसी गाँव वाले की शादी-बरात में भरपेट भोजन होता था। एक-दो अध्यापक सहृदय थे, लेकिन जहाँ अधिसंख्य छात्र उसकी जैसी ही स्थिति के हों तो कौन अध्यापक किस-किसकी मदद करता।

आठवीं तक की पढ़ाई उसे सबसे मुश्किल लगी क्योंकि उसके बाद एक तो वह शारीरिक रूप से अधिक श्रम करने लायक हो गया था, दूसरे प्रशान्त भाई के प्रयासों से उसकी फीस माफ की जाने लगी थी। नौवीं के बाद प्रशान्त भाई ने उसे सम्भलपुर के स्कूल में डलवा दिया था। अपने से छोटी कक्षाओं के बच्चों को ट्यूशन देकर वह तभी से अपना खर्चा निकालने लगा था। 12वीं में साइन्स स्ट्रीम में रहने का कारण ट्यूशन्स ही थे। प्रशान्त भाई उससे तीन-चार साल बड़े थे और स्कूल ही नहीं जिले में भी प्रथम आते थे। पिछले साल ही रिजर्व बैंक ज्वॉयन किया है उन्होंने। जे.एन.यू. से एम फिल करने के बाद। उन्होंने ही जैसे उसके कैरियर की लकीर अपने कदमों से खींची है। बारहवीं में राज्य में रेंक

होल्डर होने के बावजूद उन्होंने ही बी एस सी के बजाय बी ए आनर्स करने का सुझाव दिया था। कटक के रविंशा कॉलिज में दाखिला मिल गया तो फिर उन्होंने ही डी-स्कूल के शौर्य से उसे परिचित करवाया था। अर्थशास्त्र का शयद ही कोई नोबेल लौरियेट हो जो कभी न कभी वहाँ भाषण देने न आया हो, उन्होंने बताया था।

प्रशान्त भाई की अपनी स्थिति भी कोई ठीक नहीं थी मगर वह बहुत हिम्मती आदमी हैं और दूसरों को भी हिम्मत देते हैं। रविंशा कॉलिज में न सिर्फ उसकी फीस माफ रही बल्कि वजीफा भी मिलता था जिसकी बचत से वह दिल्ली आ पाया।

यहाँ भी प्रशान्त भाई ने ही ग्वॉयर हॉल (हॉस्टल) के अपने एक उड़िया मित्र का उसे गेस्ट बनवा दिया है। लेकिन आज स्थिति यह है कि सिर छुपाने को छत तो उसे मिल गयी है मगर हर शाम, खाने के लिए, उसे कुछ 'जुगाड़' करना पड़ता है। इसमें शामिल है अपने पुराने और हमदम पेशे-ट्यूशन्स की खोज....

इतना कहकर वह एकदम उठ खड़ा हुआ "विनय, मैंने तुम्हें सब कुछ बता दिया है। पर तुम किसी को नहीं बताओगे, मुझे उम्मीद है। ये ठीक है कि मैं अपने समय और जीवन से युद्ध कर रहा हूँ, पता नहीं क्या अंजाम हो, लेकिन मैं सफल होकर ही रहूँगा। यह मेरा कठिन समय है, लेकिन हर स्याह रात सूर्योदय तक ही तो रहती है।"

उसके हौसले और साफगोई का मैं उसी वक्त कायल हो गया था। गाँव से चलकर डी-स्कूल आने का मेरा ग्राफ मुझे बेहद संघर्षपूर्ण लगता था, लेकिन सतपती के जीवन के सम्मुख वह बहुत ही बौना और आरामदायक लगने लगा था।

मणि भाभी को विश्वास में लेकर मैंने उनसे सतपती के लिए सौ रुपये माँगे थे, जो उन्होंने सतही तकल्लुफ के बिना ही दे दिये थे। इधर पहाड़ी और अरुण

नागपाल ने मिलकर उसके लिए किसी से ढाई सौ रुपये मासिक का इंतजाम करवा दिया था। वह उसके लिए मैसादि के खर्चे का पोत पूरा करा देता था।

हाँ यह सब होते-होते कोई छएक महीने तो निकल ही गये थे।

दिसम्बर के आखिर तक दिल्ली में सर्दी अपने यौवन तक आ चढ़ती है। आर टी एल के तमाम खिड़की-दरवाजे बन्द रखने पर भी अध्ययन कक्ष इतना विराट तो था ही कि अपने मेहमानों को दो-दो स्वेटर पहनवा दे। सतपती के पास था एक घिसा हुआ मैरून रंग का आधा स्वैटर और वही आधी बाजू की हरी धारीदार कमीज।

मगर सतपती डटा रहता।

नववर्ष के रोज भी मैंने उसे अपनी 'उसी' सीट पर जमा पाया जो अब तक उसकी 'पैट' हो चुकी थी। उसी दिन मैंने ज्योति भटनागर को उसकी सीट पर, झुककर, बातें करते देखा था।

अपने गैंग की व्याकरण के हिसाब से ज्योति क्लास की सबसे 'तरमाल' थी। 36-24-36 की लुभावनी आकृति। सेक्सी साँवला रंग। ठीक-ठाक नैन नक्श। ऊपर से अमीर। सतपती बेटा तरमाल खाओ और तर जाओ।

सतपती ने लेकिन हर बार जिरह करने पर बताया कि ऐसा-वैसा कुछ भी नहीं है। "लेकिन हमारे गुट में पाँचों में क्या तू ही सबसे स्मार्ट है," पंकज जैसे तराजू लेकर बैठा था।

"नहीं तो"

"तो बता फिर क्या है तुझमें जो....."

"मैं क्या कह सकता हूँ.... वैसे जब कुछ है ही नहीं तो....," कहकर वह जान छुड़ाने की कोशिश करता।

हम सब जानते थे कि दोनों के बीच कुछ भी नहीं था-शायद कुछ हो भी नहीं सकता था, लेकिन इसी बहाने मितभाषी सतपती की टाँग खींचने में कोई

बुराई नहीं लगती थी। ज्योति के गुदगुदे कोणों-त्रिकोणों से मसखरी करने का शायद सतपती एक नायाब माध्यम था।

पूरे वर्ष न तो उसने कभी क्लास में कोई प्रश्न पूछा था और भागती-सी हैलो से ज्यादा किसी लड़की से बात की थी। इसके बावजूद भी वह हमारे जैसे लुक्का-छिनाल गैंग का हिस्सा था, यही बात सभी को चकित करती थी। लेकिन यह सच था।

एम.ए. प्रीवियस का रिजल्ट काफी चौंकाने वाला था। स्टीफन हिन्दू समेत बी.ए. के कई धुरन्धर तीसरे खाने में पड़े थे। हम लोग ठीक-ठाक पास थे।

पहाड़ी की प्रथम श्रेणी थी। बस सतपती लुढ़क गया था।

ज्योति ने टॉप किया था।

"कितना ही टॉप कर ले, आयेगी तो नीचे ही" भड़ास तहेदिल से अरुण के मुँह से निकली थी।

"यार ये तो एक नीच ट्रेजडी हो गयी"

यह पहाड़ी था।

"डोंट वरी, आई विल फाइट बैक।"

हमारे सामूहिक अफसोस पर सतपती ने दिलेरी दिखायी थी।

और मैं तो अच्छी तरह मानने लगा था कि सतपती भरपूर दिलेर है। एक वर्ष रहकर वह डी-स्कूल की संस्कृति से एक्लैमिटाइज्ड हो ही गया था। अंतिम वर्ष वाले भी बहुत लोग प्रीवियस के कई परचों को अमूनन ही दोहराते थे-बेहतर प्राप्तांकों के लिए। कोई एक तो कोई दो। क्या हुआ सतपती चारों परचे दे देगा। पहाड़ी और अरुण का किया हुआ इंतजाम भी एक वर्ष खींचा जा सकता था। गोपनीयता की शर्त पर उसने मुझे यह भी बता दिया था कि नतीजों से पहले ही उसे नजदीक मुखर्जी नगर में ही एक ट्यूशन मिल गयी थी। बी.ए. की। अतः अब वह ज्यादा दतचित्त होकर पढ़ सकेगा। हाँ यह जरूर है कि कुछ चीजें बिना

वजह स्थगित हो जायेंगी। जब आपकी लड़ाई ही समय के खिलाफ हो तो समय खोना उन जरूरी मोहरों को खोना हो सकता है जो अंततः उसके अंजाम को ही बेमानी सिद्ध कर दें।

सतपती पर इसका असर साफ था। वही लैक्चर हाल, वहीं कुर्सियाँ, वही परचे और वहीं अध्यापक। जो चीज पहले एक मीठी घुट्टी लगती थी, इस बार एक कड़वी दवा से भी बदतर दिखती थी। लेकिन मकसद भी तो सामने था। सनद थी कि डी-स्कूल से पढ़ा प्रशासन शोध और शिक्षा-किसी भी जगत की आखिरी हदों तक पहुँचने का माद्दा रखता है। उसके लिए सब कुछ जैसे पकी पकायी खीर की तरह आता है। और वह सब जब जब वह उच्च शिक्षा के लिए विदेश नहीं जा रहा है। हाँ, उसे डी-स्कूल की रगड़ाई तो बर्दाश्त करनी पड़ेगी। सोना आग से गुजरकर ही तो गहना बनता है।

यह सब बातें जितना हर कोई जानता था उतना ही सतपती भी। इसलिए सत्र खुलते ही उसने आरटीएल में फिर से चौकड़ी जमानी चालू कर दी। उससे वहीं खुसर-पुसर बतियाते पता लगा था कि ज्योति ने अपने पिछले साल के नोट्स उसे दे दिये हैं। और अपनी तरफ से पूरे सहयोग का आश्वासन भी।

"पूरे सहयोग का?" अरुण ने शब्दों को खींचकर कहा।

"ओ कम आन," कहकर वह ब्लश कर गया।

"तेरी इसी अदा पर तो वह मरती होगी।" यह मैं था।

बगल में बैठे एक खडूस पाठक ने 'एक्सक्यूज मी' कहकर हमारी बातों पर वहीं पूर्ण विराम लगा दिया।

इन दिनों आरटीएल ही सतपती से मिलने का विश्वसनीय स्थाल बन गयी थी क्योंकि इधर वह अपनी कक्षाओं में रहता और हम लोग अपनी में। किसी भी प्रोफेसर के लेक्चर को 'बंक करने की हमारी सामर्थ्य नहीं थी। क्योंकि वही चीज किसी पुस्तक या जर्नल से पढ़ने का अर्थ था पूरे दर्शन का सफाया और फिर भी बात 'उतनी' नहीं बन पाती थी।

लेकिन तमाम मेहनत और एकाग्रता के साथ-साथ हमें यह बहुत साफ दिख रहा था कि हम सही जगह पर हैं। इसलिए हौसले शायद ही कभी नाबुलंद हुए हों।

सतपती अवश्य कुछ मुर्झाया-मुर्झाया दिखता था।

"इस बैच के छात्र अपने जैसे नहीं हैं।" उसने महीने भर बाद नतीजन कहा था। पीछे छूट जाने के बाद भी वह अपने को हमारे साथ तादात्म्य करता।

"सभी बैचिज एक से होते हैं आदित्य, द लॉ आफ एवरेजिज इज देयर एवरी व्हेयर। उन्नीस-बीस का कोई फर्क हो तो हो...."

"उन्नीस-बीस का नहीं, बहुत ज्यादा का फर्क है" वह अडिग था।

"हाँ एक फर्क तो यही है कि.... ज्योति या उसके 'टक्कर' का माल इसमें नहीं है" पहाड़ी ने चुस्की ली।

"तुम लोग हमेशा गलत समझते हो", वह खिन्न हो उठा।

"नहीं यार मैं तो मजाक...." पहाड़ी ने तुरन्त पल्टी खायी।

"अब यार तुझे पूरे बैच से क्या लेना, तुझे तो पढ़ना है ना ...और फिर हम लोग तो यहीं हैं ना...." अरुण ने हौले-से हस्तक्षेप किया। 'देट आई नो' उसके शब्द कुछ अनकहे-से थे।

बाद में अरुण ने पहाड़ी को समझाया था कि वह उसे ज्योति को लेकर 'टीज' न किया करे क्योंकि उसे लगता है कि सतपती ज्योति को लेकर बहुत 'टची' हो उठता है।

वैसे भी कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली।

दशहरे की पाक्षिक छुट्टियाँ चल रही थीं। आरटीएल जाने के लिए मैं डी-स्कूल प्रवेश करने वाला ही था कि पानसिंह की गुमटी से झटका खाकर एक आवाज मुझ तक पहुँची, "अंकल", यह सतपती था। मेरे पूरे होशो-हवास में वह पहली बार अंकल बोला था। दो रोज पहले ही इस मामले में हमारी बात हुई थी।

"चाय पीनी है", मैं मुड़ा तो हाथ का अँगूठा अपने मुँह की तरफ इंगित कर उसने पूछा।

"पी लेते हैं।"

चाय खत्म होने को थी।

मैंने देखा वह कुछ कहना चाहते हुए भी नहीं बोल रहा है।

"कोई खास बात," मैंने दो टूक पूछा।

"खास तो है पर सोचता हूँ पूछूँ कि नहीं...."

इस सस्पैन्स पर मुझे कहना ही पड़ा, "क्या बात है? बोल ना।"

कुछ क्षणों के लिए उसके चेहरे पर एक मातमी संगीनियत पसर गयी। या जो पहले से बैठी थी और भभक गयी।

मैं भी निःशब्द रहा। कुछ प्रतीक्षारत-सा। पता नहीं क्या हुआ इसे?

"गाँव से लैटर आया है, बमुश्किल कुछ शब्द निकले।"

"क्या?"

"गाँव में आग लगने से कई घर नष्ट हो गये हैं... हमारा भी... माँ ने कहलवाया है कि या तो मैं वापस आ जाऊँ या कुछ इंतजाम करवा दूँ।"

"........"

"......."

"अंकल क्या कुछ हैल्प हो सकती है," आवाज में निरीह भाव रिस रहा था। पाँव का अँगूठा जबरन जमीन से कुछ मिट्टी खुरचने में लगा था। आँखें, न मिलने के प्रयास में, इधर-उधर भटक रही थीं।

"क्यों नहीं यार" ....लेकिन यार मेरी हालत भी तू जानता ही है... सौ पचास से ज्यादा..." मैंने पूरे सहयोग और स्पष्ट भाव से कहा।

"इससे ही काफी हो जायेगा," कहकर उसने अपनी जेब से एक कागज निकालकर मेरे आगे कर दिया। कोई 20-25 नाम थे।

"द लिस्ट बीगिंस विद यू," शब्दों में अनचीन्हा सुकून सना था। पहाड़ी, अरुण और पंकज के भी नाम थे। ज्योति भी थी, हालाँकि काफी नीचे।

देर रात तक कशमकश कर लिस्ट बनायी गयी लगती थी।

कुछ रोज बाद, मौका मिलने पर, उसकी अनुपस्थिति में जब मैंने अपनी चौकड़ी में बात चलायी तो पहाड़ी मुझ पर बिफर पड़ा।

"अंकल, तुझे जो हेल्प करनी है कर दे.... वी आर नॉट गोइंग टू डिश आउट ए सिंगल पैनी..." पहाड़ी का इतना क्रूर और निर्णायक रुख।

"गाँव में उसका घर जलकर राख हो गया है..." मैंने पहाड़ी को ठंडा कर, अपनी संवेदनाएं अधिक प्रकट करते हुए कहा।

"सो व्हाट?"

"सो व्हाट का क्या मतलब यार...सतपती अपना याड़ी तो रहा ही है।"

"याड़ी है अंकल तभी तो हमने हमेशा उसके लिए सोचा है। तूने मुझे कभी नहीं बताया, लेकिन मुझे पता है तूभी उसकी मदद करता रहा है। दैट इस सो गुड ऑफ यू। बट नाउ ही इज टेकिंग अस फॉर ए राइड... वी हैव ऑवर लिमिटेशन्स...." वह जैसे कुछ कहते-कहते झल्लाहट में रुक गया।

मैं जैसे किसी दलदल में फँस गया था। मेरी नीयत तो साफ थी मगर पहाड़ी की बात भी कुछ-कुछ जँच रही थी। पहाड़ी का यह वाक्य कि 'पता नहीं इस आग वाली बात में कितना सच कितना झूठ है' मुझे खराब नहीं लगी।

हमने तय किया कि इस बाबत आगे कोई बात नहीं होगी। कुछ दिनों सतपती डी-स्कूल में नहीं दिखा, लेकिन जब मिला तब विषय सम्बन्धी छुटपुट स्पष्टीकरणों के अलावों हमारे बीच कोई बात नहीं हुई।

आखिरी दशक के पूर्वांश की फरवरी की एक शाम थी। अमरीकी अर्थशास्त्री गॉलब्रैथ का अभिभाषण हुआ था। तब हम सभी ने खूब मस्त होकर ठहाके लगाये थे। एक कोने में आठ-दस लोग घेरा बनाकर चाय के साथ गपिया रहे थे।

"गॉलब्रैथ को तो अब गाल बजाना बन्द कर देना चाहिए।"

"क्यों भई क्यों"

"बुड्ढा कोई नयी बात तो करता नहीं है....एफ्ल्यूएंट सोसाइटी के बाद बताओ इसने कोई ढंग का आर्टिकल भी लिखा हो...."

"अब देखो पहले बात करता था पूँजीवाद और समाजवाद के एकीकरण की. .. द ग्रेट थ्योरी ऑफ कनवरजैन्स... देख लो आज क्या हो रहा है..."

"भई थ्योरी इज थ्योरी... इट कैन गो रांग"

"यही तो आपत्ति है कि हमारा अर्थशास्त्र गेम थ्योरी और फलाँ थ्योरी बनकर रह गया है... जीवन से जुड़ना तो इसे प्रागैतिहासिक लगता है...हर, किसी स्थापना की नींव में ही हमेशा हवाई मान्यताएँ"

"उस हिसाब से तो गॉलब्रेथ ही क्यों और भी भुतेरे गिन लो..."

"कुछ हद तक अपने महलॉनोबिस भी...."

"कहाँ महलॉनोबिस जैसा थियौरिस्ट और कहाँ खाली गपड़चौथ करने वाला गॉलब्रेथ...."

"हाँ, महलॉनोबिस भी... लेकिन उसकी स्थापनाएँ गलत नहीं थीं... नेहरू ने उनके क्रियान्वयन के लिए जो ढाँचा चुना, वो ही उन पर भारी पड़ गया..."

"यह तुम्हारी स्थापना नहीं, मान्यता है..."

"तुम कुछ भी समझो....वैसे भी आज के अर्थशास्त्र ने दोनों के बीच कोई फर्क कहाँ छोड़ा है...जो आप स्थापित करना चाहते हैं उसे पहले ही मान लो.

..और फिर एक खूबसूरत मॉडल के जरिए उसे सांख्यिकी के अंजर-पंजर से ढाँप दो..."

किसी भी नामी-गिरामी हस्ती के अभिभाषण के बाद इस तरह की खट्टी-मीठी डकारें अकसर ही ली जाती थी। सतपती ऐसी किसी भी बहस का भागीदार न होते हुए भी पूरा रस लेता था।

शायद इन्हीं क्षणों में वह डी-स्कूल द्वारा उसे टिपायी गयी घिनौनी नाकामी के दंश को झेलने की शक्ति तलाशता था। यही उसका जीवट था।

लेकिन इस वर्ष के नतीजों ने फिर से हमें स्तब्ध और झकझोर दिया। सतपती किसी भी परचे में पास नहीं था। उधर पहाड़ी ने खूब नम्बर खींचे थे। अरुण के डॉट चालीस फीसदी थे, लेकिन इससे पहले ही वह प्रशासनिक सेवा का नियुक्ति पत्र ले चुका थां मेरा नतीजा भी खराब ही था क्योंकि कॉलिज प्रवक्ता बनने का मेरा सपना एक प्रतिशत नम्बर कम होने की वजह से पूरा नहीं हो सकता। हाँ, रिसर्च वगैरा में जरूर कहीं खप सकता था।

लेकिन सतपती। वह अब क्या करेगा। होशियार भी है। मेहनती भी इतना। फिर भी ये हश्र। पूरा तफ्सरा करने के बाद हमें यही कहकर सब्र करना पड़ा कि हर साल डी-स्कूल जिन दो-चार अच्छे-अच्छों को ठिकाने लगाता है, तो सतपती को भी लगा दिया।

पुअर फैलो, और क्या।

उन दिनों के बाद से जिन्दगी रुकी हो यह कौन कहेगा। बल्कि उसके बाद तो उसकी रफ्तार और फांय-फांय हो गयी थी। पहाड़ी उच्चतर शिक्षा के लिए इंडियाना विश्वविद्यालय चला गया था। अरुण को मणिपुर कैडर मिला था और पंकज ने एक ही झटके में तीन-तीन बैंकों को क्वालीफाई करने के बाद स्टेट बैंक ज्वॉइन कर लिया था। मुझे एक बड़े संस्थान में शोध-सहायक की नौकरी मिल गयी थी, जिसकी मेज-कुर्सी-पुस्तकालय का

पुर-उपयोग मैंने सिविल सेवा परीक्षा के लिए किया था और घिस-घिसकर उस मकाम तक पहुँच भी गया।

प्रारम्भिक प्रशिक्षण के लिए जगह मिली थी नागपुर।

सतपती का उन दिनों के बाद से ही कुछ पता नहीं था।

अजब संयोग। यानी सतपती से बाकायदा मुलाकात हो सकेगी। भंडारा तो वहाँ से नजदीक ही है। खत बंद करते करते एक पुलकित भाव मुझमें प्रवेश कर चुका था। मैंने दिल्ली से ही उसे जवाब दे मारा। नागपुर अकादमी का अपना पता भी। सख्त हिदायत दी थी कि अपने रेलवे में होने का फायदा उठाकर यथाशीघ्र मिल ले। मजा आयेगा। खूब बातें करेंगे।

और सच, मेरी अपेक्षाओं पर वह एकदम खरा उतरा। नागपुर वापसी के दूसरे रोज ही पट्ठा सामने था। वैसी ही गर्मजोशी और 'सतपती' खिलखिलाहट (दो-चार और उड़िया मित्रों से मिलने के बाद आज कह सकता हूँ, जरूर इसका स्रोत वहाँ की जमीन ही होगी)। वैसा ही साँवला रंग। चेहरा पहले की बजाय भरा हुआ। पेट थुलथुल होने की अदृश्य तैयारी में। जूतों के चमड़े को देखकर भी लग गया था कि या तो सरकारी हैं या सस्ते स्थानीय।

समाचारों और सूचनाओं के अलमस्त बदला-बदली के बाद हम फिर-फिर कर डी-स्कूल और उससे जुड़े हर शै पर अपनी चोंच चिकनाते रहे।

"अरे मिलना तो दूर अब तो चिट्ठी-पत्री भी नहीं होती है। मेरा तो तुम जानते हो वही स्थायी पता है, लेकिन जब साले दूसरे ही नहीं लिखते तो और क्या हो सकता है? लगता है सब अपनी बीवियों में मस्त हो गये।"

"वक्त हमारा सब कुछ बदल डालता है और कैसे बदल डालता है इसका भी आभास नहीं लगने देता है...अब मुझे ही लो..."

"हाँ यार डी-स्कूल के बाद तुमने क्या-क्या किया, ये मैं पहले ही पूछना चाह रहा था..."

मेरे पूछने पर, बताने के पहले, उसने बहुत दूर अंतरिक्ष को देखने जैसा भाव किया। मन ही मन एक दो बार-शायद 'कहाँ से शुरू करूं' जैसा प्रयत्न किया। मुझे उकसाना पड़ा। "बताओ-बताओ"

"डी-स्कूल ने जितना मुझे दिया शायद उतना ले भी लिया। प्रशान्त भाई ने वहाँ का अद्भुत सपना मेरे अंदर जगा दिया था और जब वहाँ मेरा एडमिशन हो गया तो एवरेस्ट शिखर पर चढ़ने पर तेनसिंह को हुई खुशी को मैंने जज्ब किया था।

रविंशा कॉलिज के प्रिंसिपल छोटराय साहब ने मेरी पीठ पर हाथ फिराकर शाबाशी दी थी। पिछले पाँच वर्षों में डी-स्कूल जाने वाला मैं पहला छात्र था। पहाड़ी, अरुण, पंकज और तुम्हारे जैसे दोस्त मिले.... एक से एक महान और सादगी पूर्ण अध्यापक.... कितना निश्छल और कम्पटीटिव माहौल....."

"ज्योति भटनागर जैसी दोस्त।" उसकी संगीन होती फेहरिश्त को मैंने कतर के हल्का किया।

"हाँ ज्योति भटनागर भी। उसने बिना संतुलन खोये स्वीकार किया।"

यह मेरे लिए 'न्यूज' थी।

मैं सोच रहा था कि वह मेरी मसखरी को हर बार की तरह अपनी टाँग खिंचाई के रूप में ही लेकर एक तरफ छिटक देगा।

"तो क्या तुम दोनों बीच वाकई कुछ था?" मेरे अन्तस के ठहरे हुए आशंकित डर में जैसे कुछ हलचल हुई। ज्योति अपन से हरफनमौला बेहतर थी लेकिन कोई अपने से दोयम उसे उड़ा ले जाय वह भी तो सर्वथा अनुचित था।

"था भी और नहीं भी," अपनी हँसी को थोड़ा रिलीज करके उसने वापस खींच लिया। फिर बोला, "लेकिन आज सोचता हूँ, बहुत कुछ हो सकता था।"

"कैसे?" मैं मुद्दे तक पहुँचना चाह रहा था, उत्सुक और एकटक सुन रहा था।

“वह बहुत ही समझदार लड़की थी... बहुत ही समझदार।”

“अब असली बात पर भी आयेगा...”

“प्रथम वर्ष में फ्लन्क होने के बाद एक दिन उसने मुझे रोककर कहा था कि अपने टॉप करने की उसे उतनी खुशी नहीं हुई है जितना मेरे फेल होने का दुःख। मैं हैरत में आ गया कि जिस लड़की से ‘हलो हाय’ के अलावा एक शब्द का आदान-प्रदान न हुआ हो, वह कैसे इतनी तरल भावना से सोच सकती है। लेकिन उसी ने बताया कि वह हमारे गुट में मेरी मौजूदगी को बहुत चुपचापी से लक्ष्य करती रही है। वह इसी बात की कायल थी कि एक नम्बर के भदेसों के साथ रहकर भी मेरे मुँह से कभी टुच्ची बात नहीं निकली। दूसरे क्लासमेट्स भी, जिक्र आने पर, मेरे बारे में अच्छी राय ही देते थे। तुम्हें मालूम नहीं होगा, अपने क्लास नोट्स भी उसने अपने घर यानी ग्रेटर कैलाश बुलाकर दिये थे। उसका घर, बाप रे, क्या आलीशान था। उसे देखकर मैंने सोचा था कि पाँच सितारा भी शायद और क्या होते होंगे। उसके पिता फौज से ब्रिगेडियर रिटायर होकर दो-चार बड़ी कंपनियों के सलाहकार हो गये थे। माँ एक कपड़ों की निर्यात फर्म चला रही थी। एकमात्र भाई-बड़ा, अमरीका में कानून की पढ़ाई करने के बाद किसी मशहूर फर्म के लिए काम कर रहा था। डी-स्कूल में वह जितनी मितभाषी थी, अपने घर पर उतनी की गर्मजोश और बातून। उसकी पहल को देखकर कई बार मैंने अपनी किस्मत को धन्यवाद दिया। डी-स्कूल आना भी जैसे उसके सानिध्य में ही सार्थक हो गया। पता नहीं क्या सोचकर उसने मुझे दिलासा दी थी कि डी-स्कूल ही दुनिया में सब कुछ नहीं है। मैं विश्वविद्यालय से लॉ कर सकता हूँ जिसके बाद किसी भी सीनियर वकील के साथ काम मिल जायेगा।

”मैं उसके स्नेह से विवश होकर ‘उस तरफ’ जाने न जाने की ऊहापोह में ही था कि तभी गाँव में आग लगने का हादसा हो गया। तुम लोग तो किसी कारणवश कुछ नहीं कर पाये थे पर मैं इतना मजबूर था कि ज्योति का ही

सहारा...उसने बिना कोई सवाल किये तीन हजार मुझे थमा दिये थे, जो उस विपदा से निबटने के लिए पर्याप्त थे।

“उसके बाद, अंकल, मुझे अर्थशास्त्र जैसे विषय में रुचि कम संशय अधिक होने लगा। मुझे पता नहीं क्यों और कैसे लगने लगा कि उपभोक्ता-विक्रेता और अर्थव्यवस्था के जिन मॉडल्स और समीकरणों को इकॉनॉमैट्रिक्स के जरिये डी-स्कूल हमें सिखा रहा था उनमें कितनी मूलभूत गड़बड़ है, झूठ है। जिन समीकरणों की ओट में मुझे गाँव में अपनी जली हुई झोंपड़ी दिखती थी, हो सकता है, ज्योति या पहाड़ी को उसमें, उसी समय योजना आयोग दिखता हो....और हो सकता है दोनों ही अपनी जगह ठीक हो....तो फिर ये माजरा क्या है...

“मैं मानता भी था कि इस मानसिक बुनावट में एक घातक कच्चापन है लेकिन अपनी हालत को जब मैं ज्योति के साथ रखकर देखता तो यही लगता कि तकदीर या किस्मत नाम भी कोई चीज होती है जो हम सबकी जिन्दगी ही नहीं जिन्दगी के आगे-पीछे को भी तय कर देती है....

“तुमने देखा होगा, मैं कितनी निष्ठा और लगन के साथ पढ़ता था। दूसरे वर्ष में तो डी-स्कूल की कार्य-पद्धति की भी काफी कुछ खबर हो गयी थी (कम लिखो, समीकरणों में बात करो) लेकिन उस ढलान की रपटन ने न मुझे साँस लेने दी, न सीधा होने दिया... नतीजा तो वही होना ही था जो हुआ....”

“फिर क्या हुआ?” मैंने ऐसे पूछा जैसे कोई परी-कथा सुन रहा था।

“प्रशान्त भाई को जब पता लगा तो बहुत दुखी हुए थे। उन्हीं दिनों मध्य रेलवे में तरह-तरह की रिक्तताओं का बड़ा विज्ञापन उन्होंने देखा था। अर्हता थी बारहवीं में विज्ञान विषयों में कम-से-कम 50 प्रतिशत अंक। बस भरवा दिया। हाँ, साक्षात्कार के समय मध्य रेलवे में ही उच्चासीन उड़िया अफसर से परिचय निकाला गया। फॉर योर इन्फॉरमेशन, वही मेरे ससुर हैं। मानसी नाम है पत्नी का। शादी का सारा खर्चा उन्होंने ही उठाया था....”

इतना कुछ बोलने के बाद भी मुझे लगा सतपती कुछ कहते-कहते रुक गया है। मैं भी कुछ नहीं बोला, मुँह लटकाये देखता भर रहा।

कुछ सोचकर वह फिर बोला।

“आई थिंक आई शुड नॉट हैल यू दिस।”

पता नहीं क्या पहेली बुझा रहा है। नहीं ही बताना है तो भूमिका क्यों बाँध रहा है।

“आई विल नॉट प्रैस... ऑल अपटू यू,” मैंने सहज होकर उसे सहज करने के लिए कहा। होस्टल बॉय दोपहर बाद वाली चाय ले आया था। कमरे में कप एक ही था। अपनी चाय मैंने गिलास में भरवा ली। मैं तो चुप था ही पर उसने भी मौन साध लिया। चाय की सुड़क-सुड़क बहुत भारी होकर कमरे की निःशब्दता बींध रही थी।

“चलो तुम्हें अपना कैम्पस दिखाता हूँ।”

मेरे सुझाव ने जैसे बहुत सुलहपूर्ण मार्ग निकाल लिया था।

सीढ़ियों से उतरकर हम लायब्रेरी की तरफ मुड़े ही थे कि चुप्पी तोड़ते हुए उसी ने पूछा, “अंकल तुम्हारी जन्म-तिथि क्या है?”

“क्यों?”

“बताओ तो।”

“ग्यारह जून...तुम्हारी?”

“बीस जनवरी।”

यहाँ तक की अदला-बदली में तो कोई बुराई नहीं थी। दोस्तों को यह पता रहे तो अच्छा ही है।

“तुम अपना आयडोल किसे मानते हो?”

“वैसे तो कई हो जायेंगे, लेकिन किसी एक का नाम लूँ तो वह होंगे महात्मा

गांधी।” मैंने उत्तर तो दिया लेकिन समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या सूत्र भिड़ा रहा है।

“होंगे ही।” उसने किसी दिव्य ज्ञान के विश्वास से कहा।”

“अबे बस कर, बहुत हो गया,” दरअसल उसके उत्तर में मुझे किसी फूहड़ टोटके की बू से अधिक कुछ नहीं लगा था।

“ग्यारह जून ही बताया था न....एक और एक कितने होते हैं, दो ना और गांधी जी का जन्म-दिवस क्या है... दो अक्तूबर....” मेरी खीज पर उसने तर्क कसा।

उससे भिड़ने की यहाँ काफी गुंजाइश थी लेकिन मेरा कतई मूड नहीं था। “तेरी जन्म-तिथि के अंकों का योग भी तो दो ही बनता है....गांधी जी तेरे आदर्श नहीं हैं क्या....?”

उसी के शस्त्र से खेलने पर मुझे अपनी प्रगल्भता पर गुमान हो आया।

“योग तो दो ही बनता है लेकिन साथ में जीरो आने से सारी गड़बड़ हो रही है...”

जो अब कुछ नहीं तो यही शगूफा। खैर बचकर कहाँ जायेगा?

लायब्रेरी से पहले एक सूखी हुई नाली थी जिस पर एक पुलिया बनी थी। साफ सपील देखकर हम वही बैठ गये।

“क्या गड़बड़ हो रही है भाई....तेरा जितना कठिन वक्त था, गुजर गया। नौकरी मिल गयी। घर है, परिवार है... और यों देखो तो कुछ न कुछ तो जिन्दगी भर लगा ही रहता है।” मुझे लगा मैंने अपने अनुभव से पार जाकर कुछ कहा है। मेरे जवाब पर प्रतिक्रिया के बजाय वह बोला, “वो बाद में....पहले तुम अपनी जन्म-तिथि के अंकों का योग करो। 11 जून 1972 ही है ना। कितना हुआ 27 यानी नौ। अब गांधी जी की जन्म-तिथि लो, 2 अक्टूबर 1869 ही है ना। कितना हुआ 27 यानी नौ।”

मैं यकीन नहीं करना चाहता था, लेकिन उसके तर्क ने फिर भी मुझे निष्कवच-सा कर दिया। बिना किसी पूर्व सूचना के मेरे और गांधी जी के बीच उसने जो सूत्र बाँधा था वह कितना ही बीरबल की खीर हो, उतना बे-सिर पैर नहीं था जितना मैं सोच सकता था।

मेरे मुँह से बस यही निकला।

"तो तुम क्या ज्योतिष वगैरा को मानते हो?"

"मानता नहीं, जानता भी हूँ। अपने हिसाब से कुछ-कुछ, दूसरों के हिसाब से ठीक-ठीक।"

"तुम इसके चक्कर में कैसे आ गये यार... कहाँ डी-स्कूल का पढ़ा अर्थशास्त्र और कहाँ ज्योतिष। ...व्हॉट इज द कनैक्शन मैन..." मैंने सरसरी चुटकी ली।

"कनैक्शन भी शायद डी-स्कूल ही रहा है। मैं तुम्हें बता रहा था ना कि दूसरे वर्ष में खुद और दुनिया के अर्थशास्त्र को लेकर मैं एक निश्चित मोहभंग की गिरफ्त में आ गया था... मैंने बताया था कि नई...मुखर्जी नगर में मैं एक ट्यूशन पढ़ाने जाता था ताकि डी-स्कूल के लिए अपना इन्तजाम सुदृढ़ बना रहे। लड़की का नाम दिव्या था। पिता का नाम दुष्यन्त कुमार। पढ़ाने में तो खैर मुझे बोरियत होती थी, लेकिन मैं कौन-सा शौकिया पढ़ा रहा था। दुष्यन्त कुमार ज्योतिष में गहन रुचि रखते थे। दिव्या को पढ़ाने के बाद हम लोग रोज ही ज्योतिष पर ढेर-सारी बातें करते। अब देखूँ तो ये लगता है कि आपकी ज्योतिष में रुचि होगी या नहीं यह भी आपकी कुंडली से निर्धारित होता है, लेकिन तुम ये मान सकते हो कि दुष्यन्त कुमार जी ने ही मेरे रुझान को इस तरफ किया और दुष्यन्त कुमार जी तक पहुँचने के लिए डी-स्कूल ही जिम्मेदार था....उन्होंने ही पहली बार मेरी जन्म-कुंडली बनायी थी और तभी भविष्यवाणी कर दी थी कि मेरी नौकरी और शादी लगभग साथ-साथ होंगे, सूर्य और शुक्र के एक ही

भाव में रहने के कारण....हल्के इशारे से ही उन्होंने बताया था कि तब तक शनि की अवस्था 'शुभ' नहीं चल रही थी...."

"तभी से प्री-ऑर्डेन्ड या भाग्य जैसी चीज पर मेरा भरोसा बढ़ने लगा। अब पिछले चार सालों में तो काफी कुछ पता चल गया है। ज्ञान, अनुभव और अंतर्बोध का ज्योतिष में बहुत महत्व है लेकिन आई टैल यू वन थिंग : एस्ट्रालॉजी इज ए मोर परफैक्ट साइन्स दैन इकॉनोमिक्स...."

अँग्रेजी में कहा अंतिम वाक्य किसी फलसफे की तरह नहीं एक साकार जीवन रस की तरह टपका थाः भाव भंगिमा की पिच का गीयर एकदम आगे बदलकर।

यह एक ऐसा मुद्दा था जिसमें अपनी नयी भदेस मंडली यानी मुझ समेत सोमा शेखर रेड्डी, गुरमीत सिंह, अरविंद जैन और अशोक दहिया की अगाध दिलचस्पी थी। थी या मला-मलाया ज्योतिषी होस्टल में उपलब्ध होने से हो गयी, नहीं कह सकता। सभी अभी तक परम्परागत अर्थ में कुँआरे थे और एक सम्मानित नौकरी के शेर पर सवार होकर 'सुन्दर, मेधावी, अमीर और पारिवारिक' के चौखटे में गढ़ी कोई कन्या बाजार में न मिल पाने के कारण एक 'आनरेबल एग्जिट' के लिए आमादा हो रहे थे। इसीलिए, ज्योतिष शरणम् गच्छामि....

और सचमुच, सतपती ने हमारी पूरी मंडली पर अपनी जादुई सामर्थ्य के झंडे गाड़ दिये। जन्म तिथि, जन्म समय और जन्म स्थान-बस इन्हीं तीन चीजों के सहारे पहले वह 'जो हो चुका है' पर टिप्पणी करता, हरेक की मनोवृत्ति और मनोदशा के बारे में विशिष्ट बातें कहता, उसके बाद 'आगे क्या होगा' पर हस्त-रेखाओं का पूरक सहारा बनाकर अपनी बेबाक राय देता। उसने यह भी स्वीकारोक्ति की कि उसकी भविष्यवाणी, हो सकता है, पूरी तरह सच न निकले क्योंकि ज्योतिष एक मुकम्मल विज्ञान होते हुए भी पूर्ण से कुछ कम जानकारी की खुराक पर ही चलता है जैसे किसी शहर के अक्षांश-रेखांश एक ही होते हैं, जबकि शहर का भूगोल काफी फैला होता है....वगैरा-वगैरा।

शाम बहुत पहले जा चुकी थी। अपने भंडारा लौटने का अल्टीमेटम वह बहुत पहले ही दे चुका था। हम दोनों ही होते तो वह कब का निकल चुका होता मगर यहाँ तो वह अफसरों की सेवा करने का 'पुण्य' कमा रहा था।

मैस में बचा-खुचा खाना था। अभी तक दरअसल उसने बातें भी बहुत सार्वजनिक तौर पर ही की थीं जबकि हर कोई चाह रहा था कि पारिवारिक और निजी सूचनाओं के आधार पर वह प्रत्येक से सिर्फ निजी बातें करे और यह सब रात देर रात को ही संभव था। दिन भर तो योगा-पीटी से लेकर कम्प्यूटर में जुटे रहना पड़ता था-बजरबट्टू कोर्स डायरेक्टर की तल्ख निगाहों की प्रतिछाया में।

इसीलिए 'रुको यार चले जाना' हो रहा था 'मैं किसी और दिन आ जाऊँगा. ...एंड वैरी शार्टली' कहकर उसने हमें आश्वस्त किया। लेकिन इस माहौल में मैंने यह भी लक्ष्य किया कि एक प्रतिष्ठित सेवा के इतने सारे अफसरों की संगत कहीं न कहीं उसके अहम को भी सहला रही थी। दोपहर जब आकर अभिनंदन से खुश होकर लिपटा था तब एक गूढ़ वाक्य बोला था, "यू हैव डन डी-स्कूल प्राउड," मैं चुप ही रहा था लेकिन उसके एक नाकामयाब डी-स्कूली होने के सन्त्रास को शिराओं ने महसूस कर लिया था।

स्टेशन के लिए मैं उसे ऑटो तक छोड़ने जा रहा था।

"रुक जाता यार एक रात यहाँ। क्या फर्क पड़ता। मस्ती करते। पता है, यार को हॉस्टल में बी.एफ. का भी इन्तजाम हो जाता है...." मैंने अन्यमनस्क चुटकी ली।

"नहीं अंकल, रात को मेरा घर पहुँचना जरूरी होता है।"

"इतने आदर्श पिता और निष्ठावान पति..."

"नहीं अंकल, वो बात नहीं है।" कहकर वह रुक गया। ऐसे ही जैसे हॉस्टल में कुछ कहते-कहते रुक गया था। लेकिन पल भर में ही मुझे उसकी आवाज सुनायी दे गयी।

"तुम ऐपीलैप्सी के बारे में जानते हो?" उसने, जैसे शब्दों को पकड़-पकड़कर कहा।

मैंने बस प्रश्नाकुल मुद्रा में चलते-चलते उसे देखा।

"ऐपीलैप्सी यानी मिरगी...मेरी वाइफ को वही है," कहते-कहते उसके गले में जैसे फाँस आ गयी।

मेरे कदम किसी झटके से रुक गये।

जैसे काठ मार गया हो उन्हें।

'स्टेशन' कहकर, बिना किसी पूर्वानुमान के मैं भी उसके साथ तभी आकर रुके ऑटो में दाखिल कर गया। मेरी जुबान जैसे तालू से चिपक गयी थी। मुझे पता नहीं क्यों खयाल आया कि इस शख्स को, जिसे मैं डी-स्कूल के दिनों से जानता हूँ, जो आज लगभग पूरा दिन मेरे साथ रहा है, मैं जानता ही नहीं हूँ।

लेकिन शीघ्र ही मैं उसकी मन:स्थिति की भयावहता अनुभव करने लगा। कुछ कहते ही नहीं बन रहा था। यारों द्वारा उसे देर करा दिये जाने पर जुगुप्सा उमड़ने लगी।

कुछ हिम्मत जुटाकर सामान्य-सा बनकर, मैंने दौड़ते ऑटो में ही उसकी तरफ गर्दन फेरी। वह एकटक बाहर ताक रहा था, साइड के दाँतों से निचले होंठ की परत उधेड़ता हुआ। यकीनन यही बात उसकी जुबान पर दोपहर भी आते-आते रह गयी थी। उसकी जन्मतिथि में आयी 'जीरो की गड़बड़' का रहस्य भी कहीं यही तो नहीं, सोचा।

भंडारा की तरफ की ट्रेन आने में थोड़ा टाइम था। मैं इतना विचलित था कि चुप था। कुछ उबरकर 'चाय पीओगे' निकाला तो उसके 'चलो' के साथ देने में ज्यादा हिचक नहीं की।

मेरे वजूद पर छाये बोझ से शायद वह इत्तफाक करने लगा था। तभी तो चुप्पी तोड़ते हुए बोला, "शादी से पहले से ही....बल्कि बचपन से ही उसे ये

शिकायत है। मुझे तब पता चला जब उसके पेट को तीन महीने हो गये थे। पहले महीने में ही हो गया था। मेरी नौकरी को चालू हुए छह-एक महीने हो आये थे। अप्रैल के आखिर दिन थे। मौसम में थोड़ी घुटन-सी थी। शाम का समय था। मैं ट्रैक से लौटा ही था कि किचिन में डब्बों की भड़म-भड़म के साथ एक धम्म-सी आवाज भी हुई। मैंने लपककर देखा....मानसी उल्टे मुँह पड़ी थी। पूरा शरीर लकड़ी की तरह खिंचा हुआ। मैंने सीधा करके पानी के छींटे मारे। लेकिन उसका चेहरा किसी मृतक-सा भावहीन बना रहा। ऊपर से आँखें खुली हुईं।

"मैंने सोचा जरूर हार्ट-अटैक पड़ा है। लेकिन नाड़ी में गति थी। थोड़ी दरे में ही उसके मुँह से थूक बाहर आने लगा। गर्दन एक तरफ खिंचने लगी। शरीर किसी अनियंत्रित शक्ति के प्रकोप तले अकड़ता और शिथिल होता गया। प्रैगनैन्सी के आरम्भिक दौर में हर स्त्री को उल्टी-मतली जैसी परेशानी ही है, यह मैं जानता था। आहिस्ते उसे उठाकर बिस्तर पर डाला और एक गीले कपड़े से चेहरे-माथे को सहलाने लगा...."

मैंने देखा सतपती उस दुश्य को उसकी एक-एक बारीकी से उजागर कर रहा था। जैसे वह फिर से उसके मुकाबिल हो। 'पूरा शरीर लकड़ी की तरह खिंचा हुआ' जब कहा तो उसकी सीधी भुजा झटके में अकड़ ही गयी थी।

"कोई आधा घंटे बाद जब वह सामान्य हुई और अपने को मेरी जाँधों पर पाकर कुछ सशंकित देखने लगी तो मैंने प्यार से मुस्कुराकर पूछा, "कण होइथिला (क्या हुआ था)"

"मोते बआुए (ये मुझे होता है)"

"कण हुए (क्या होता है)"

"मुं जाणि नीं (मुझे नहीं पता)"

उसने भी तब बात को आयी गयी कर दिया, लेकिन जब भंडारा रेलवे डिस्पैंसरी की डाक्टर को 'जो-जो देखा,' हुआ बताया तो उसने यही कहा "आप इनके पापा-मम्मी को बुला लाइए तभी कुछ पक्के तौर पर कहा जा सकता है।"

"लेकिन क्या हुआ है डॉक्टर साब?"

"....कि क्या प्राब्लम है"

"क्या प्राब्लम है"

"ये तो तभी कहा जा सकता है जब पूरी केस हिस्ट्री का पता लग जाये।"

"मुझे लगा मैंने डॉक्टर से फालतू में ही पूछा। केस को और जटिल बना रही थी। उस थोड़ी देर के हादसे के सिवाय मानसी का सब कुछ सामान्य ही था। लेकिन मैंने अपने ससुर साब से बात की तो उन्होंने यही कहा, 'मैं कल पहुँचता हूँ।"

डॉक्टर के पास जाने की नौबत ही नहीं आयी। उन्होंने साफ स्वीकार किया, 'बेटा, मानसी को बचपन से ही दो-चार महीने में ऐसा दौरा पड़ता है। ऐसे ऐपीलैप्सी या मिरगी कहते हैं। बहुत इलाज करवाया है। ऑल इंडिया से लेकर हरिद्वार के वैद्य-हकीमों तक का। कम हुआ है, लेकिन गया नहीं। बहुत-से डॉक्टरों ने हमें यही समझाया कि शादी होने के बाद, कई मर्तबा इसका स्वतः निदान हो जाता है....तुमको डार्क में रखा हो ऐसा नहीं है। हमारा जो फर्ज था, किया। बाकी किस्मत से कौन लड़ सकता है....'

"जब उन्होंने सब कुछ साफ-साफ बता दिया तो उसे जरा भी छलावे-भाव ने नहीं डसा। 'किस्मत' को लेकर वह ज्योतिष में बहुत समझ-समझा चुका था। अभी तक की पूरी जिन्दगी खुद गवाह थी। मानसी के पिता ने इंटरव्यू में मदद नहीं की होती तो, डी-स्कूल का छिका-पिटा वह, किसी भी लायक न रह गया था। प्रशान्त भाई ने खूब मार्गदर्शन किया, लेकिन शादी हो जाने के बाद वो भी काफी बेगाने-से हो गये थे। वैसे भी कब तक सहारा देते वो। माँ अभी भी घिसट-घिसटकर बहन का पेट पाल रही थी-मेरी चार पैसे की नौकरी लगने की मासूम उम्मीद में।"

मानसी के पिता को कभी दोषी नहीं मान सकता है सतपती।

ट्रेन आ चुकी थी, लेकिन नागपुर बड़ा हाल्ट था इसलिए उसने अपनी बातों को ट्रेन में चढ़ने की जल्दी के कारण नहीं समेटा। उल्टे मुझसे कहा कि अभी ट्रेन छूटने में दसेक मिनट हैं। मैं जा सकता हूँ। घंटे भर में तो भंडारा आ ही जाना है। स्टेशन पर ही क्वार्टर है, फिर आऊँगा।

भंडारा और नागपुर से नजदीक और क्या होगा। कितना अच्छा रहा जो आज मुलाकात हो गयी चलो।

सतपती के इस घटनापूर्ण आने-जाने को कई सप्ताह हो गये थे। रविंशा कॉलिज और श्यामलाल कॉलिज के 'उत्पादों' के रूप में हुए आपसी परिचय के समय से ही इन चार सालों के अनिश्चित अन्तराल के बावजूद, वह हमेशा अपना-सा लगा है। बीस बरस बाद मिलता तब भी संभवतः वही नैकट्य भाव रहता।

उसे छोड़कर जब हॉस्टल के अपने बिस्तर पर, एक तूफान के गुजर जाने की शान्ति से, खेस तानने लगा तो इसी भाव ने मुझे ओढ़ा-न बदकिस्मती ने इसका पल्लू छोड़ा है और न इसने अपने जीवट का।

कोई डेढ़ेक महीना हो चुका था। अपनी मंडली उसे फिर से बुलाने के लिए कई बार आग्रह कर चुकी थी। चारों उसके मुरीद थे। उसके बारे में जो ज्योतिष निष्कर्ष सतपती ने दिये थे और भी कई ज्ञानियों ने दिये थे। उन्हें यह बात भी कम अपील नहीं करती थी कि जहाँ व्यावसायिक ज्योतिषी अपनी 'पेट पूजा' के लिए सच्चा-झूठा बोलते हैं या बोल सकते हैं, सतपती के साथ वैसा कुछ भी नहीं है। वह एकदम निष्पकट है और ज्योतिष में तो यही दुष्प्राप्य होता है।

ऐसे ही एक शाम का वक्त था। बैडमिंटन खेलने जाने के लिए हम अपने जूते-जाँघिये तान चुके थे। तभी सतपती आ गया। उसकी तीन वर्षीय बेटी भी साथ थी। पिछली बार मैंने उससे कहा था कि कोई तीनेक महीने में नागपुर प्रशिक्षण पूरा हो जायेगा। 'पोस्टिंग' देखो कहाँ मिलती है।

लेकिन भविष्य में संपर्क बनाये रखने के लिए हम कटिबद्ध हो चुके थे।

उसकी बेटी चन्द्रिका सकुची, झेंपी होकर अपने पापा के दोस्त के 'घर' को बहुत अजनबी पा रही थी-न आंटी, न बच्चे, ना सोफा, न टी.वी.। "तुम यार इस समय...थोड़ी देर बाद भागने की बात करोगे," मैंने स्मृति के साक्ष्य कहा।

"नो नो डॉन्ट वरी...मैं रात को भी यहीं रुकूँगा....तभी तो बेटी को भी साथ लाया हूँ। आजकर भंडारा में घर से कुछ लोग आये हुए हैं। मुझे शहर से कुछ सामान-समून भी लेना था तो सोचा....."

मंडली खुश हो गयी। शाम की 'बैडी' भी मिस नहीं होगी।

मंडली चन्द्रिका को लेकर कोर्ट की तरफ जाने लगी तो सतपती ने गुहारा, "अंकलकु हइराण करिबु नाहिं (अंकल को तंग नहीं करना)"।

एक काम चलाऊ कैंटीन पास ही थी जिसमें शाम के वक्त ही कुछ रौनक होती थी।

"जरा ध्यान से...हम लोग अभी आते हैं," मैंने जैन को कहा।

"ओ डोंट यू वरी पार्टनर....सारे लोग इकट्ठे थोड़े खेलेंगे।"

उनके जाने के बाद सतपती ने अपने हाथों में संभाले भदमैले झोले से कुछ कागज पत्रक निकाले और थमाते हुए बोला, "तुम्हारी जन्मपत्री बनायी है, ये लो।"

"क्या कहता है तुम्हारा ज्योतिष मेरे बारे में?" मैंने ऊपर से हँसकर, अंतस से आशंकित होकर पूछा।

"तुम्हारे साथ जो चीजें देर से हो रही हैं, जैसे देर से सिविल सेवा में आना या विवाह, उसका कारण है तुम्हारी लग्न राशि में चन्द्रमा के साथ-साथ मंगल का बैठना...चन्द्रमा के कारण तुम्हारी इच्छाएँ या शुभकामनाएँ सिद्ध तो होती हैं। लेकिन मंगल इसमें अड़चन डाल देता है। लकीली, चन्द्रमा बली है इसलिए काम बिगड़ता नहीं है...."

"अच्छा।"

मैं और कहता भी क्या। बस सुनने को समर्पित हो रहा था....देखो क्या कहती है अपनी किस्मत...

"मंगल एक पापी पुरुष ग्रह है जबकि चन्द्रमा एक शुभ-स्त्री। चन्द्रमा मन का ग्रह होता है। अतः अंकल तुम्हारे अंदर मनोभावों, सम्वेदनाओं और कल्पनाशक्ति की कमी नहीं रहेगी। चन्द्रमा कर्क राशि का स्वामी है। जातक की कुंडली के विभिन्न स्थानों यानी घरों में होने से इसका असर भी अलग-अलग हो जाता है। कुंडली के पहले, चौथे, सातवें और दसमें ग्रह बहुत शक्तिशाली होते हैं। तुम्हारी कुंडली में, ये देखों तीन जगह तो वही ग्रह विराजमान हैं जो उनके स्वामी हैं और एक जगह बैठा है-दसवें में, राशि का समग्रह...इसलिए सब कुछ शुभ ही होता है..."

"पता नहीं यार, मुझे तो शायद ही कोई चीज बिना पापड़ बेले मिली हो," मैंने गहरी साँस खींचकर उसके प्रारूप से अपनी मामूली असहमति दिखायी।

"वह इसलिए है कि तुम्हारे बारहवें ग्रह यानी द्वादश में बुध के साथ-साथ शनि भी उपस्थित है जहाँ से वह चौथे और नौवें स्थान को द्विपाद दृष्टि से देख रहा है। अब चौथा ग्रह निर्धारित करता है शिक्षा और पारिवारिक सम्मिलन और नौवाँ ग्रह तय करता है धन-धान्य और पितृसुख...इस कारण, अब तुम इस केंद्रीय सेवा के लिए घर से बाहर आ गये हो, तो वापस परिवार के साथ रहने की कम संभावना है....अभी तुम्हें दिल्ली पोस्टिंग मिल भी गयी तो सरकारी क्वार्टर में रहने की प्रबल संभावना है...."

अपनी ज्योतिष की शब्दावली में वह पता नहीं क्या-क्या घोषणाएं और भविष्यवाणियाँ किये जा रहा था। कभी कुंडली वाले कागज को फिर से देख कुछ गिनने लगता और कभी हाथ की रेखाओं को गौर से देख अपने निष्कर्षों का तारतम्य बिछाता। अपने झोले से पंचांग भी एकाध बार निकाला जिसमें अगले-पिछले सौ-सौ सालों तक की समय सारणी बनी हुई थी। भारत के

छोटे-बड़े चार-पाँच सौ स्थलों के अंक्षाश-रेखांश भी दिये गये थे - वहाँ होने वाले सूर्योदय के समय के साथ।

"गुरु ये बताओ...शादी का क्या है," उम्र के गलत तरफ धकियाये जाने का भाव बहुत दिल से था।

"एक साल में हो जानी चाहिए।" उसने कुछ गणना करके बताया।

मेरे मन में आया कहूँ "महाराज, इसे थोड़ा जल्दी करने का कोई उपाय।"

लेकिन कहा, "और कुछ?"

"मैंने कहा न, तुम्हारे साथ अच्छी चीजों के विलंब से होने का योग है। तुम्हारी होने वाली पत्नी सुन्दर तो होगी ही, 99वें प्रतिशत संभावना है कि वर्किंग भी हो। उसके दो भाई होने चाहिए। वह साइन्स ग्रेजुएट होगी और...तुम्हारे बच्चे भी देर से होंगे.....लेकिन मेधावी होंगे..."

मुझे लगा उसने मेरे (और मेरी चिंताओं) बारे में काफी कुछ बता दिया है। उसकी किसी भी बात को असत्य मानने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। "और डी-स्कूल की याद आती है कभी" मुझे समझ नहीं आया कि खुली हुई कुंडली के समक्ष ही मैंने यह प्रश्न क्यों कर डाला। संभवतः ज्योतिष से भीगी हुई धुन्ध को छाँटने के लिए...या सतपती से उन गुनगुने दिनों की मीठी बातें करने के लिए-जिनसे मैं आज तक नहीं अधाया।

"ऑफ कोर्स ऑफ कोर्स....डी-स्कूल में हुई घोर असफलता के बावजूद मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि मेरी जिन्दगी का वही सबसे ऊँचा मकाम रहा है। वहीं मैंने जिन्दगी को एक विशाल पैमाने पर उसकी तमाम उत्कृष्टताओं के साथ देखा था...मेरे अंदर उस वक्त की सुनहली यादों का आवेग अकसर हिलोरें मारता है और मैं छटपटा जाता हूँ...इन फैक्ट, तुम्हें भी खत मैंने इसीलिए लिखा था कि..."

अपनी बात की दिशा को कुछ मोड़-सा देने की खातिर उसने अपना वाक्य

भी अधूरा लटका दिया। थोड़ा हिल-खिसककर दीवार पर लेट गया, बायें कान पर हथेली से टेक लगाकर।

"अंकल ईमानदारी से कहूँ तो डी-स्कूल आज भी मेरे सपनों में बसता है। ज्योतिष भी मेरा जीवन धर्म हो चुका है, लेकिन कुछ भी डी-स्कूल को मुझे नहीं छीन सकता है...और देखना...ये सपना जरूर साकार होगा....मुझे पूरा विश्वास है कि चन्द्रिका डी-स्कूल से पढ़कर निकलेगी। यह सब मैंने उसकी जन्म कुंडली में देखा है। तुम्हारी तरह उसका भी चन्द्र ग्रह बहुत बली है प्रथम भाव में। और वहाँ से चौथे घर में आश्रय मिला है बुध को। चौथे घर से शिक्षा तय होती है और बुध एक ऐसा ग्रह है जो शुभ के साथ शुभ और पापी ग्रह के साथ पापी हो जाता है। इसलिए चन्द्रमा के प्रभाव में यह शुभ फल देगा....पता है यह पैदा भी सोमवार को हुई थी... इसीलिए इसका मैंने नाम चन्द्रिका...मेरे लिए तो यह अभी से सौभाग्यशाली हो रही है...पे कमीशन के एरियर्स मुझे इसके जन्मदिन पर मिले....उसके नाना को हरकॉन में डैपूटेशन उसी महीने मिला जब वह पैदा हुई थी....पता है हमारा भविष्य हमारे नक्षत्रों और ग्रहों के साथ-साथ परिवार के ग्रहों-नक्षत्रों से भी असरग्रस्त होता है...ज्योतिष में यह गैर-विवादास्पद बात है..."

अंकल, मैंने तो फैसला कर लिया है, अब जो कुछ है, यही है। दूसरा बच्चा नहीं करना हैं अपनी नौकरी भी छोटी है। इसी को जितनी उत्तम परवरिश दे सकता हूँ, दूँगा....मैं नहीं चाहता ये कभी उन बीहड़ अड़चनों को फेस करे जो मैंने कीं.....

चन्द्रिका को नीचे गये थोड़ा समय हो गया था। उसे उससे मिलने की चिंता हो आयी तो हम नीचे चले गये। बैच की कुछ लड़कियाँ चन्द्रिका का मन बहला रही थीं-अपने-अपने बालभाव के साथ।

डिनर के बाद मंडल सतपती को लेकर बैठ गयी। यह दौर करीब दो बजे तक चला।" चन्द्रिका कब की सो चुकी थी।

"पापा....आ" अँधेरे में उठी तीखी चीख से उठा दिया। मैंने स्विच बोर्ड तक घबराते हुए....लाइट जलायी।

एक अजीब दृश्य सामने था। चन्द्रिका किसी बुरी तरह झिंझोड़े गये शिकार की तरह सतपती की छाती से चिपकी पड़ी थी। बुरी तरह भयाक्रांत और निरीह-सी। जैसे कोई जानवर पीछा कर रहा हो।

"हेई देख, सेइठि पारा...पारा बसिदि" (वो देखो....कबूतर, कबूतर बैठा है) लड़की ने भय से ही दरवाजे की तरफ इशारा किया।

"पुअ किदि नाहिं कोउठि नांहि" (बेटा कुछ भी नहीं है, कहीं कुछ नहीं है) पीठ थपथपाते हुए उसने आश्वस्त किया।

"ना, अदि अदि, हेई देख सेइठि बसिछि' (नहीं, है है, वो देखो वहाँ बैठे हैं) लड़की ने बिना ध्यान दिये ही कहा और फिर से दुबक गयी। थोड़ी देर चिपके रहने के बाद वह फिर बिदककर बोली, "देख देख, तुम उपरे केते पिंपुड़ि बसिदन्ति मोते तलकु ओन्हेइदिअ" (देखो देखो तुम्हारे ऊपर के लिए दम लगाने लगी लेकिन नीचे देखते ही चीखी, "हेई देख केते बड़ मुषा मीते कामुड़िबाकु आसुदि" (वो देखो कितना बड़ा चूहा मुझे काटने आ रहा है)

यह क्रम कोई आधा घंटे चला फिर उसकी गोद में पड़ी-पड़ी सो गयी। हमने कमरे की रोशनी को जलते ही रहने दिया। सुबह जब हम उठे तो वह पूरी मासूमी से सोयी पड़ी थी।

"पहले भी ऐसा कभी हुआ है?" चाय पीते-पीते मैंने पूछा।

"नैवर...." गहराई आँखों से मुँह उमेठते हुए उसने कहा।

"शायद नयी जगह आयी है....इसलिए।"

"हो सकता है?"

"लेकिन डॉक्टर को दिखा देंगे"

"हाँ, ये ठीक रहेगा।"

डॉ. कुलकर्णी हम दोनों को बाहर बिठाकर बड़ी देर तक लड़की का मुआइना करते रहे। अकेले ही। रात की घटना की जानकारी इसकी वजह थी। वह मुझे भंडारा जैसी जगह पर रहने के फायदे नुकसान गिनाता रहा। यह भी कि किस तरह ज्योतिष के कारण उसकी दफ्तरी जिन्दगी आसान हो गयी है। बड़े-बड़े अफसर उसे अपने यहाँ बुलाते हैं। पे कमीशन के एरियर्स के एक बड़े हिस्से का उपयोग उसने एक फ्रिज खरीदने में किया है, बाकी से चन्द्रिका के लिए यू टी आई की राजलक्ष्मी योजना के कुछ शेयर। प्रशान्त भाई का कटक जाना एकदम कम हो गया है।

चन्द्रिका की कुंडली में भ्रद-योग और राज-योग दोनों बन रहे हैं। डॉक्टर काफी टाइम ले रहा है....

डॉक्टर कुलकर्णी बाहर निकले तो हम दोनों उचककर खड़े हो गये। इससे पहले कि हम कुछ पूछें, हमें सम्बोधित करते हुए उन्होंने पूछा, "चन्द्रिका की फैमिली में क्या किसी को एपीलैप्सी है?"

उसके बाद क्या हुआ? छोड़िए।

हाँ, एक-दो वर्ष पहले टेलीविजन पर दिखाया गया एक समाचार फिर-फिर कर याद आने लगा।

सत्तर-बहत्तर वर्ष पूर्व निर्मित एक पचास-साठ मंजिला इमारत को इंग्लैंड में विस्फोट से ध्वस्त करते दिखाया गया था। उसकी रखरखाव का खर्चा लागत से भी ज्यादा पड़ रहा था। इमारत गिराने की तरकीब-तकनीक एकदम अद्भूत थी। पूरी इमारत अपने आगे पीछे या दायें-बायें नहीं गिर रही थी बल्कि अपने ही ढाँचे में समाये जा रही थी। गोया वह कोई रेतीला बिल हो।

(कथादेश, मई 1999)

ओमा शर्मा

कथाकार ओमा शर्मा का जन्म 11 जनवरी 1963 को हुआ। कहानी लिखने के साथ-साथ अन्य विधाओं के लेखन में भी हस्तक्षेप बनाए हुए हैं। कहानियां कम ही लिखी हैं। पहला कहानी संग्रह भविष्यद्रष्टा (2001) में प्रकाशित हुआ और फिर आठ वर्षों के अन्तराल के बाद अभी हाल ही में दूसरा कहानी संग्रह 'कारोबार' प्रकाशित हुआ है। अस्ट्रियाई लेखक स्टीफन स्वाइग की आत्मकथा का अनुवाद और प्रस्तुति 'वो गुजरा जमाना' नाम से किया जो बहुत चर्चित रहा है। एक पुस्तक विविध गद्य लेखन की भी हैं - 'साहित्य का समकोण'।

सम्पर्क :- 4, सेन्ट्रल रेवेन्यू अपार्टमेंट्स,
नारायण दाभोलकर रोड,
ऑफ नेपियन सी रोड, मुम्बई - 400006
मो. - 09820688610

गोमा हँसती है

मैत्रेयी पुष्पा

कातिक के महीने में भी इस दगरे में सूखी रेत!

साइकिल खींचते-खींचते किड्ढ़ा हाँफने लगा। उतरना पड़ेगा। साइकिल डगमगा रही है। उसने ब्रेक मारा और टाँग उलारता हुआ उतर पड़ा। डेढ़ा होता हुआ हैंडिल अपनी ओर मोड़कर सीधा किया। पाँव जमीन पर पुख्तापन से टिका लिए।

पीठ पर पसीना है- लुढ़कती हुई छोटी-छोटी बूँदें। ठंड की रमक में भी भायटे गर्मी का-सा ताप इस दगरे में साइकिल खींचने की निशानी।

अकेला होता तो इतना कसाला न पड़ता। 'कैरियल' पर बलीसिंह लदा है। घायल बलीसिंह, लटकते हुए घुटने और कमर थिर। इसीलिए साइकिल का सधाव नहीं। किड्ढा को गुस्सा आ रहा है।

"सूधे नहीं बैठा जा रहा?"

बलीसिंह ने धीमी-सी हरकत के साथ सिर उठाया। तनिक सीधा होने की कोशिश ही की थी कि चिल्ला पड़ा - "हरे राम! हरी मइयाऽऽआ आ मरा रे ऽऽए!"

कराहट के साथ ही किड्ढा ने पैदल चलते हुए साइकिल रोक दी। उसकी नाक ने कई कोण बदले। आँखों के ऊपर त्यौरियाँ चढ़ गई। कनपटियों पर सिकुड़न पड़ी और ऐंठी हुई मूछें थरथराने लगीं होंठ फड़कने के कारण। मुँह से थूक के

दो-चार छींटे बलीसिंह की ओर उछालते हुए कड़ी आवाज में बोला, "सत्त साधकर बैठ। देख रहा है साइकिल को? गिरबाएगा? भाई हद्द है! हाथ-पाँवों का चूरन करा आया, पर अब भी नस-नस फड़क रही है!

"और यह हाय-हूय बंद कर। गांव तक गधा की तरह रेंकता ही जाएगा?"

बलीसिंह ने होंठ भींच लिए। रूआँसा मुँह बंद कर लिया, मगर कराहने का स्वर फिर भी रिस रहा है, कहीं न कहीं से। रेत तनिक कम हुआ तो किड्ढा फिर साइकिल पर चढ़ गया। गद्दी पर बैठ गया। पैडल मारने में पूरी ताकत लगा दी। जब वह पूरी ताकत से कोई काम करना चाहता है तब अनजाने ही दायाँ हाथ अपनी मूँछों पर फेरने लगता है। किड्ढा का हाथ मूँछों की ओर उठा कि साइकिल फिर डगमग....

दाईं-बाईं ओर मूँज के झुंड हैं। मूँज की लंबी-लंबी पतली पत्तियाँ दोनों ओर से दगरे में मुँह झुकाए खड़ी है। देखने में हरी कोमल, पर बडी बेरहम।

धारदार पतेल के बीच से निकलते हुए किड्ढा की उघड़ी बाँहें चिरने लगीं। मूँज बलीसिंह की देह को भी... किड्ढा ने गर्दन मोड़कर पीछे की ओर देखा। नहीं, वह तो पिछौरा ओढ़े हुए है। कितना अच्छा हुआ जो पिछौरा उढ़ा लाया, नहीं तो दर्द के मारे का बुरा हाल हो जाता।

साइकिल के पिछले पहिए में जरूर कुछ फँसा है। फट्-फट् कोई लत्ता-सा फड़फड़ा रहा है।

"बलीसिंघा, धोती समेट ले रे। मेरे ख्याल में पहिए में आ रही है। इतनी लंबी धोती आई कहाँ से? लाँग नही लगाई तैने?"

किड्ढा ने एक हाथ से कसकर हैंडिल साधा, दूसरी बाँह के सहारे से बलीसिंह को उतारकर खड़ा कर दिया।

"सधके। सधके रे। लग रही है ज्यादा?"

बलीसिंह आँख मीचकर ऐसा कराहा, ज्यों दम निकल रहा हो। टेढ़े होंठों मे भिंचे हुए दाँत दिखाई दे रहे हैं।

"अरेऽऽए! तू बिलकुल ही हिम्मत हार रहा है!" किड्ढा की आवाज मे अजब-सी खनक है। बलीसिंह हाय-हाय चिल्ला रहा है। किड्ढा के हाथ-पाँव फुर्ती से चल रहे हैं। आँखें मटर-मटर ताक रही हैं - चंचल गति से-कितनी मार मारी है!

"मेरे साले, तू तो बड़ा मलूक बनता था। सज-बजकर गया था, छैला! टूट गई कमर? बिगड़ गई धजा? कुँवर जी, अब महीनों ठाड़े नहीं हो पाओगे। मालुम तो खुब थी कि बिसाहुली वाले कैसे मारा-धारा (खूँखार) आदमी हैं। वे न बखसें अपने बाप को भी। तू खुद ही ओखली में मूँड धरने चला गया!"

किड्ढा ने अपनी साइकिल बबूल के पेड़ के सहारे टिका दी। धरती में दो-चार सूखे काँटे बिखरे पड़े थे, उन्हें बीनकर एक ओर फेंक दिया। तनिक-सी लापरवाही से साइकिल पंक्चर हो सकती है, फिर चलना-पहुँचना भी मुश्किल, जानता है किड्ढा।

"अच्छा तू एक बात बता, साँची-साँची। सुसरार जाने का तुझे ही चंदुर (शौक) चढ़ा था कि उस ठरगजी (ठगिनी) गोमा के हुकम की तामील बजाने गया था?"

बलीसिंह चुप। सिर झुकाए हुए....

"बोलती बंद है अब! हाँ, काहे को बताएगा?"

किड्ढा उसको सहारा देकर अधखुली धोती करसकर बाँधने लगा। बलीसिंह का स्याह चेहरा कैसा दयनीय हो आया है। बेचारे के माथे पर पड़े गूमड़ लौंक रहे होंगे। खूनी खरोंचों में दर्द की धार.... दाँती भींचकर, होंठ सिकोड़कर दर्द पी रहा है बलिया!

फेंटा कसकर लाँग लगाने के लिए उसे खड़ा कर दिया किड्ढा ने।

"नउआ की तो घिघ्घी बँध रही थी। नहीं तो मैं पहले तुझे हाथरस के सफाखाने ले जाता। मल्लिम-पट्टी करवाता। नाई पर तो छोटे सिंह का भूत सवार था। काँप-काँपकर कह रहा था, अब आया छोटेसिंह, अब आया। एक से एक डरपोक-सा आदमी है दुनिया में।"

किड्ढा ने अपनी मूँछों पर हाथ लगाया, भाले की नोक की तरह तनी हैं। वह बलीसिंह को कैरियर पर लादकर फिर चल दिया गाँव की ओर।

और दिन होता तो इतना बोल लेता किड्ढा? छाती पर चढ़ बैठता बलीसिंह। बाघ की तरह हमला करता सीकिया पहलवान। आलू बोने वाली कोई बात-सी बात थी? इतना ही तो कह दिया कि फिर गाजर कहाँ लगाएँगे भैंस-बर्दों के लिए? अजी रन-भंगन मचा दिए। गोमा अलग इठी-इठी सी रहने लगी। जानता है किड्ढ़ा, आदमी हमला नहीं करता, हमला करती है उसकी हिम्मत। बलीसिंह का हौसला, क्या पूछे? धरती से दस गज ऊपर रहता है इन दिनों।

अपने ऊपर कम झुँझलाहट नहीं उसे। लंबी-चौड़ी देह, तलवार-सी तनी मूँछें तो ऊपरी दिखावट है ससुरी। वह रेत भरी गैल पर भड़ास निकालने लगा - "बलिसींगा, सो गया क्या रे? देख ले, कब से हल्ला है नई सड़क बनने का? प्रधान के बाप जब प्रधान थे और हम लोग नाक पोंछना तक न जानते थे, तब से सुनते चले आ रहे हैं- सड़क अब बनी, तब बनी। अब तो मेरे ख्याल में हमारे नाती-बेटा भी इसी रेतभरे दगरे में साइकिल घसीटेंगे। बन गई सास सड़क!" कहते हुए उसने पूरी ताकत लगाकर पैडल मारे।

नाती-बेटा कहते हुए कसक जगी कि खुनक? हाँ, बलीसिंह की आवाज जरूर निकली - "तब तक....साइकिल ही...प्रधान का....छोरा....तो..... फटफट।"

किड्ढा के मन मे एक चित्र उभरा। जवान भँवर, अपने बेटे की तस्वीर। फटफट चलाते हुए। भँवर नहीं, बलवान। गोमा बलवान कहकर ही तो पुकारती है।

बलवान नाम उसके होठों में दगरे की रेत की तरह किसकिसा उठा।

मन में न जाने क्या आया, पीछे को अँगोछा फेंकता हुआ बोला, "यह ले रे! मुँह पर डाल ले। माथे के घाव में माटी चली गई तो विस पैदा करेगी।"

बलीसिंह में इतनी कूवत कहाँ कि अपने कंधे पर पड़ा अँगोछा भी हाथ से खींच ले। बाँह हिलाते ही कंधा कटता होगा। सचमुच पीछे से लंबी कराह उठी- "आऽऽआय!"

किड्ढा को अनचाहे ही हँसी आ रही है। भला यह है कि उसका मुँह बलीसिंह की उलटी दिशा में है। वह हँसी को होंठों में रोक रहा है। पर नहीं रूकती। कोई गंभीर बात सोच रहा है कि आवाज में हँसी की खुनक न शामिल हो पाए।

"यार, हुआ तो बुरा! पर तू भी मूरख कहाँ जा उलझा? सेर पर सवा सेर। तुम बदमास तो हम सवाए बदमास। मुझसे ही पूछ लेता।"

साइकिल सपाट ऊसरा में आ गई। पैडल कुछ हलके हो गए। किड्ढा की टाँगों का खिंचाव कम हुआ। उसकी इच्छा है, चहककर बात करे बलीसिंह से।

"नाऊ बेचारा अच्छे सुभाव का था। पराए गाँव के आदमी की मदत करी। प्रधान की बहौत अच्छा निकला, तुझे पिटने से बचाया। संत आदमी भी हैं दुनिया में। सियाराम भगत ठीक कहते हैं, कलजुग में सज्जन आदमी न हों तो परलय हो जाए।" कहते हुए कुर्ते पर आई रेत झाड़ दी।

बलीसिंह केवल कराह रहा है-"हाय! हाय! लै जारी मइयोऽऽओ....."

गाँव की बसावट-बुर्जी-बटौरा, कच्ची-पक्की भींतें, छान-छप्पर दखते ही किट्ढ़ा का दिल धक्-धक् करने लगा। क्या कहेंगे गाँव के लोग? वैसे ही रास्ता चलते टोकते हैं। सामने ऊँची ठेल आ गई, उसका ध्यान पलटा-"बलिया, गद्दी दाबकर पकड़ना रे। कहीं उछिट जाए! सँभल के।" साइकिल ऊँचाई पर चढ़कर नीचे को सरक आई।

कातिक मास में फसल धरती से बालिश्त भर ऊँची हो जाती है। खेतों में

किसान पानी लगा रहे हैं। बम्बा खुला है। और दिन होता तो किड्ढा साइकिल मोड़ देता। दरियाफ्त करता कि किधर के खेतों में गूल खुली है? कुछ नहीं तो इधर-उधर गपशप करता।

....मगर आज, इस समय कहाँ रूके? किसके पास जाए? पाथर लदा है कैरियर पर। जो लोग उसकी ओर देख रहे थे, उनकी ओर से मुख मोड़ लिया।

दरियाब ने उल्लू की नजर पाई है। रात के समय भी आदमी को पहचान ले। टोकने-टोकने की बुरी आदत है। मानेगी नहीं.....

दरियाब का स्वर सनसनाता हुआ आया, "अरेऽऽए! कहीं किड्ढामल है क्या? कहाँ से चली आ रही है सवारी? मेरे जाने भइया-दौज खबाने संग-संग गए दोऊ जने? ज्यादा बोझ बाँध दिया था गोमा ने? चलो, मेल मे ही गैल है।"

मूँछों पर हाथ फेरने की तलब लगी थी, कि किड्ढा का हाथ बीच में ही रूक गया।

'लुच्चा आदमी से कहाँ तक पेस जाए।' होंठों में बुदबुदा लिया।

अभी क्या है? गैल खतम थेड़ेई हो गई है? मानसिंह का बाबू अड़ा है सामने कंधे पर फावड़ा धरे टकटकी लगार देख रहा है। चल तू भी सुना-

"अई श्यावासे! रंधै रे रंधै! डबल सवारी खेंच रहे हो। साइकिल बिचारी ने क्या बिगाड़ कर दिया?"

गैल चलते आदमी से अटकते हैं लोग। रोटी नहीं पचती इनकी, पराई पिछौरिया बिना खींचे। किड्ढा ने एक गीत की कड़ी गुनगुनाना मुनासिब समझा। गौर करना बेकार है.... पर पाँव तो सुन्न-से हो रहे हैं। मुँह उतर-सा गया। अभी क्या है, आगे चलो किड्ढासिंह.... बेध्यानी में ऐसा डूबा कि कलबतिया चाची से भिड़ते भिड़ते बचा। वह तो हाथों को खुद ब खुद ब्रेक मारने की आदत है, नहीं तो बूढ़ी कब कर लुढ़क जाती। चाची के मुख से गालियाँ फूट पड़ी, "सत्यानासी! को है तू! फूट गई हैं?"

वह साइकिल से झटपट उतर पड़ा । जोर से बोला, “चाची, राम-राम।”

“तू! किड्ढा?”

“पहचानेगी कहाँ से? बुढ़ापे मे भी हाथ-भर का घूँघट मारकर चलती है।”

“मिटे, तू आ कहाँ से रहा है? और यह बलीसिंघा?” चाची कैरियर पर बैठे बलीसिंह के पास जा पहुंची।

“कहाँ मिल गया रे बलिया, किड्ढा तो इगलास की पैंठ को गया था। और... क्यों रे, ये चोंट-फेंट? कहाँ मार लाया बंजमारे?”

किड्ढा पीठ दिए सुन रहा है। क्या बोलेगा बलीसिंह? वह भी क्या बता दे कि क्यों आ रहा है इस बेहूदे की लदैनी लेकर?

चाची भी सहज मानने वाली नहीं। पूरी दरियाफ्त करके रहेगी।

“कहाँ हो गई मारपीट? दोनों में से कोई बोलता क्यों नहीं रे?”

चाची सवाल नहीं कर रही, कनपटी पर चनकटे दे रही है। किड्ढा ने आव देखा न ताव, बलीसिंह की झुकी गर्दन पर तीन-चार थाप मारीं, मुँह बिगाड़कर बोला, “पूछ इस भानजी के मामा से, कहाँ मिला था? बता देगा ये ही बिंदा में कितनी रकम लेकर आया है। मेहमानी मारकर लौटा है कुँवर जी।”

चाची अचरज से देखती रह गई। किड्ढा अपनी मूँछें सहलाता रहा। बलीसिंह ने मुँह बिलकुल ही नीचे गाड़ लिया।

इतने में डोरिया आ गया।

“आज क्या कहने! सूरज नारायन पूरब में मुँदेंगे। भाई मेल हो तो ऐसा!”

किड्ढा ने अपनी नजर साइकिल के हैंडिल पर जमा ली। कुत्तों के भौंकने का मलाल माना तो हाथी चल लिया। साले लोखरा-गीदड़!

रास्ते-भर आँखें खुली रखकर भी उसने दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे कौन आ रहा है, ध्यान नहीं दिया। बचता-बचता साइकिल चलाता रहा। बलीसिंह की हालत

देखकर कई बूढ़े, कई जवान, बहुत-से बालक, चार-पाँच औरतें पीछे-पीछे आ रही हैं, बातचीत से ऐसा मालूम हो रहा था।

बलीसिंह को आँगन में उतारकर उसने साइकिल दुबारी में टिका दी।

किड्ढा को होश नहीं, व सीधा कोठे में जा लेटा, जहाँ खाट बिछी थी। खाट पर दरी बिछी थी। सिरहान गेंदुआ (तािकया) रखा था। यह गोमा की खाट है। गोमा इस पर सोती है। गोमा... देह में सिहरन होने लगी।

गोमा हाथ में गिलास लिए खड़ी है। उसे पुकार रही है-भँवर के बापू! उठो, आँखें खोलो। देखो तो.... कहीं लगी-लगाई तो नहीं? मेरा कलेजा बैठा जा रहा है! अरेऽऽऐ... दो घूँट दूध पी लेते। हलक सूख रहा होगा।”

उसने कनखियों से देखा, गोमा का गात काँप रहा है। गला भर्राया-सा। रिरिया रही है गोमा, चिरौरी कर रही है।

किड्ढा का मन सरसों के पात-सा कोमल है। गोमा दुखी हो, वह कैसे देख सकता है?

पर वह छोटे बालक-सा रूठा हुआ है। नहीं खोलेगा आँखें। मनाएगी अपने-आप। सच, उसे कुछ भी नहीं व्यापा-थकान न सदमा। कैसे कहे कि गोमा का मुख देखकर ‘अलस-निदरा’ लगी है उसे। जैसे भारू के दिनों मे गोमा को लगती थी। वह घंटों आँखें मूँदे लेटी रहती थी। किड्ढा मगन मन उसकी पिंडलियां सहलाया करता । पाँव के तलवों में तेल-पानी की मालिश! प्राण-प्यारी का लाड़-किड्ढा का सौभाग!

गोमा-गोमती! उसकी दुलहन!

अमावस में पूरनमासी रूपवती का रूप! किड्ढा का मन कहाँ से कहाँ भटकने लगा! कहाँ से कहाँ जा पहुंचा.... गोमा लौट गई?

कलबतिया चाची को माता मानता है वह। वह न होती तो किड्ढा कुँआरा ही बूढ़ा हो जाता। अच्छी-खासी जंग हुई थी चाची और बापू के बीच। बापू किड्ढा

के ब्याह की बात पर बेआस हो बैठा था। चाची थी कि जब मौका देखती, बापू को कान पर भिनभिनाने लगती माछर की तरह। तमाम तरह की दलीलें ढूँढ ली थीं उसने। कभी दुख जताती तो कभी उलाहना देती - "किड्डा के संग के छोरा लरकौरे-चरकौरे (बच्चे वाले) हो गए और तुम हो कि इसके ब्याह की फिकर नहीं करते। आज को इसकी महतारी होती तो सौ जुगत जुटाती।"

"कलबतिया बहू, तू सब जानती है। जैमा चढ़ते-चढ़ते रह गया ससुर का। मेरे क्या बस की बात है? कोई बेटी वाला रूके-रूपे तब न। करम काँकरी है। "रूपेगा तो तब ही न, जब तुम ढंग का बिचौलिया पकड़ो।"

"ढंग का? कजरौठ का मानिकचंदी इसी गाँव में दस-पंद्रह ब्याह करा चुका है। और हजार रूपया दाबे बैठा है मरे। सुआ-डोरा बहुतेरे लगाए, पर नहीं बनी बात नसीबा पर जोर नहीं।"

चाची क्या कहे आगे?

"दरियाब का साला पड़िया हाँक ले गया। कहता था, अपनी बहन की बाबत बाप से बात करेगा। सो आज तक आ रहा है.... अब क्या चून की लुगाई बिनबाऊँ, कि काठ की ला दूँ? इर-फिरकर तू मेरे सिर पड़ जाती है।"

चाची ने आधे घूँघट में से ताना मारा-"भली करी! रूपया लुटाते रहो, पर हुक्का को नै मत छोड़ना। कहीं आए-गए तुम?"

बापू ने हुक्के को एक ओर सरकाते हुए कहा, अरे छोरी, जो चला जाऊँ वर ढूँढने और कर आऊँ सगाई! तू भी चली आई पंचायत छाँटती।"

चाची ने हाथ का पंजा मटकाया, "मत जाओ। कौन-सा चूल्हा ठंडा पड़ा है। छोरा रोटी-पानी कर लेता है। साग-पात राँधकर भी खबा देता है। पेट भरे पीछे बूढ़े आदमी को लुगाई की जरूरत नहीं।"

"भाई रे भाई! फिर वो ही बात! अरे, यह कहों कि छोरा का भाग उलटा हो गया। माता-माई की मेहर कि चेहरा-मोहरा तो बिगड़ा ही, एक आँख और ले गई मइया परमेसुरी। बेटी वाले ससुर अकल के हेठे आते हैं। घर-खेती,

पौहे-जेंगर (पशु) नहीं देखते। किड्डा की आँख और दाँत के संग ब्याहनी है छोरी?"

किवाड़ के पीछे दुबके किड्डा का कलेजा दप-दप करता रहा। चाची क्या जाने, बाबू के पास सौ बहाने हैं। जीत नहीं सकेगी किसी विधि।

चाची भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली, तू डाल-डाल तो मैं पात-पात! बोली, "बड़े, न सही सूरत-शकल। न सही एक आँख। छोरा की उमर तो है। इतनी बात गाँठ बाँध लो कि जो उमर सरक गई तो फिर दाता बेली नहीं। उमर बड़ी दगाबाज चीज है। जवानी के दिन जेवरा तुड़ाकर भागते हैं, और आदमी फिर पड़ा दीखता है बुढ़ापे के सिवाने में। बूढ़े आदमी से क्या रास-रंग? उसके पास तो लुगाई सपने में भी नहीं झाँकती। जोर-जबरन ले भी आओ तो कब्जा नहीं मानती। बलीसिंह बखत ही तो चूक गया। डोल रहा है कुँआरा-लाँगुरिया। अपनी जात-बिरादरी में वैसे भी जनानी जिंस कम है।"

बापू ने हुक्का अपनी ओर खींच। चिलम में फूँक मार आग दहकाई और लंबे-लंबे कश लिए-गुडुर-गुडुर। गुडुर-गुडुर।

कली की नै (नगाली) पकड़े सामने की भीत को घूरता रहा बापू।

तनिक कमजोर-सी आवाज में बोला, "बलीसिंह रंग से मार खा गया। काले भूत को कौन ब्याहेगा अपनी बेटी? ऊपर से कुँवर जी के नखड़े! दरियाब की साली के फेर में पड़े रहे। अब डोल रहे हैं भिंडी काटते......"

कलबतिया चाची की जिंदगी-भर सेवा करेगा किड्डा। एक वही थी, जो उसके मन की बात समझ रही थी। लालसा पहचान रही थी। बापू को तरह-तरह से समझा रही थी-

"बड़े... सूरत-मूरत का हेठा आदमी क्या मर्द नहीं होता? अंग-भंग आदमी के मन में उमंग नहीं होती? लोहू में गरमी नहीं होती? छोरा की जिंदगानी फूलने-फलने पर है और तुम बैठ-बैठ पाला गिराए दे रहे हो! धन-माया को

रो रहे हो! भाड़ में गया मानिकचंदी और खाक डालो दरियाब के साले की बहन पर। बात आगे बढ़ाओ।

"खूब जानते हो तुम कि बलीसिंह रंग से नहीं, अपने भइया गंगाराम की मक्खीचूसी का पछाड़ा हुआ है। बखत खराब पड़ रहा है, भइया भइया की देहरी बसते नहीं देख सक रहा। सो ईंट का जवाब पाथर से उसने दे दिया। बँटा ली गंगाराम से धरती। कर लिया न्यारा खाता। घर न बार तो माया किस काम की? अब दोनों दुश्मन की निगाह से देखते हैं आपस में। तुम ऐसा मत करो कि एक दिन तुम्हारा किड्ढा तुम्हें पनहा दिखाबै।"

बापू ने गहरी नजर से देखा चाची के घूँघट की ओर।

"ऐसा क्या देखा रहे हो? मेरी भतीजी है, दूर के रिश्ते की। उमर की छोटी है, पर ले-देकर बात बन जाएगी। खाली गाल नहीं बजाने आई मैं।"

बापू ने फिर अपना ठस्स बयान जड़ दिया, "भाई, छोरी-छापरी न हो गई, बछिया-पड़िया हो गई! बिना दिए-गए माँ-बाप नहीं करते। पैठ-हाट लगी है क्या?"

चाची ने नाम पर आया घूँघट माथे तक खींच लिया, जैसे उसे बाबू को जेठ की निगाह से देखने की दरकार नहीं।

"बड़े, तुम इतनी उमर पाकर भी बैयर की जिंदगानी नहीं जाने-समझे? बछिया-पड़िया, कि डंगर से भी गई-गुजरी! पौहे (पशु) की रस्सी पकड़ाते बखत मालिक यह तो देखता है कि अगले के खूँटा पर अवस जीव दुख मे ही ढकेल रहे हैं अभागिन को।

"मैं मानती हूँ कि बेमेल रिश्ते की बात चलाई है मैंने, पर बैयरवानी हूँ, करमजली के लिए इतना तो कह ही सकती हूँ कि इस खूँटा बँध जाए। क्या मालुम कौन कसाई मोल देकर हाँक ले जाएगा? किड्ढा जैसा हीरा फिर कहाँ मिलेगा?"

किड्ढा का दिल बाँसों उछलने लगा। किवाड़ के पीछे तिरताल पर नाच रहे हैं पाँव।

चाची ने उझककर देखा, "छोरा!"

वह बोला नहीं। साँस रोके खड़ा रहा।

बापू ने चाची का का ध्यान खींचा, "कितने?"

चाची ने दोनों हाथों की पाँच -पाँच उँगलियाँ फैलाई।

बापू ने चौंककर कहा, "दस हजार!"

नहीं में सिर हिला रहा है बापू, दाएँ-बाएँ, बाएँ-दाएँ।

किड्ढा के कानों में कीलें ठुकने लगीं-नहीं-नहीं, नहीं-नहीं!

"सोच-समझ लो बड़े। बलीसिंह तैयार बैठा है। कहता था, दो-चार बीघा खेत निकाल दूँगा।" चाची ने किड्ढा को उबार लिया।

बापू ने फिर सिर हिलाया- "ना जी ना। दाएँ-बाएँ।"

किड्ढा ने बलीसिंह का नाम सुनते ही बापू को गाली दी- "तेरी ऐसी कम तैसी बापू।"

कलबतिया चाची ने अपने माथे पर हथेली मारी - "हाय बड़े! तुमने कुछ न सोची। पर गलती नहीं है तुम्हारी। बूढ़ा सुआ और बिर्द्ध आदमी रख की बात भूल जाता है तुम्हें क्या याद होगी अब किड्ढा की महतारी। उसका किया-धरा. ... सुख साके।"

बापू जम की जात! किड्ढा सामने नहीं पड़ता। उम्मीद ही मुरझाने लगे तो किस हुलास पर टिके आदमी! वह दिन-दिन-भर सियाराम भगत के पास बैठा रहता। सुस्त और अनमना-सा। सियाराम भगत अतंरजामी ठहरे। वे जान गए किड्ढा की मनोकामना। जब-तब रामायण पढ़ते धनुष यज्ञ पढ़ते। किड्ढा को गिनकर छः बार सीता-स्वयंवर सुनाया।

यह नैन-टैम से नहाने-धोने लगा। सेर-भर निपनिया दूध, मल्सिया-भर दही और आधा सेर गुड़ की दछिना लेकर पहुंचने लगा। तुलसी की माला पहन ली। चंदन का टीका लगाता। भगज्जी का चेला होकर ज्ञान-ध्यान में मन रमाने लगा।

किह्वा भगत रोटी कब बनाए, बापू ने छींके के ऊपर से रोटी की टुकनिया उतार ली-रीती!

"रोटी?"

"चून नहीं था।" वह आँगन में तुलसी का बिरवा रोपते हुए बोला।

भूखा बापू किह्वा के ऊपर अर्राकर आया, "भैंचो हरामी! भगत बना डोल रहा है! यह नहीं कि घर में चाखी में सेर-भर नाज पीस लेता। हरम्मा! फलक (छाले) न पड़ जाते हाथों में।"

किह्वा ने आँखें मूँद लीं, जैसे भगज्जी मूँद लेते हैं। कहने वाले को कहने दो। तुम ध्यान में लीन रहो, सीता महारानी के ध्यान में।.... तू बक ले बापू! मैं चून पीसने से रहा।

बापू की बाँहों में लपकन पड़ी थी। आँगन में बिरवा रोपते किह्वा को झकझोर डाल, "हैं रे, भैंस का दाना,? घेरा का गोबर-कूड़ा? बर्दों का पानी-पत्ता? पढ़ैनी के कल्सा-कल्सिया?"

किह्वा के मन में आया, तड़ाकू से बोले, "नहीं किया दानी-सानी। नहीं डाला गोबर-कूड़ा। नहीं भरता कल्सा-कल्सिया। बैलों के संग जुतते-जुतते बैल के दर्जे का ही समझ लिया है, बापू बधिया, नपुंसक?".... मगर किह्वा बात को पीना जानता है। ज्यादा बखेड़ा करने में फायदा नहीं। लोग कहेंगे, ब्याह के मारे बाप से लड़ रहा है। इस गाँव के बालक बुरे हैं, गीत गा-गाकर गली गुँजा देंगे:

"फूटी तकदीर किह्वा, नाँय लिखी लुगाई रे!"

बलीसिंह का बुरा हाल कर दिया था। झुंड बाँधकर गाते थे:

"बलीसिंह बाजार से लाया काठ की लुगाई रे,
काठ की लुगाई से उसने रोटी करबाई रे,
बर गई आँच, दारी जर गई लुगाई रे,
फूटी तकदीर बलिया, नाँय लिखी लुगाई रे।"

बलीसिंह ईंट-डेल मारता था। नहीं मानते, मटक-मटककर गाते। हारकर वह घर में घुस जाता, तो द्वार पर गाते। नाचते। बलीसिंह ने दाँत पीस-पीसकर आगे के चार दाँत घिस लिए।

सियाराम भगत का बड़ा आसरा है। बार-बार समझाते हैं -"आदमी अगर साँचे मन से अभिलाषा करे तो प्रभो पूरन अवश्य करते हैं।" किह्वा ने दीनबुंधु से लौ लगा रखी है। सुनेंगे उसकी विनती। जैसे गज की, ध्रुव प्रह्लाद की सुनी।

भगज्जी देवता आदमी ठहरे। उनकी बानी झुठी नहीं गई। बापू चैत के नौदुर्गा उपासा रहा। फिर नगरकोट की देवी की जात्रा पर चल दिया। सियाराम भगत कहते हैं, शुभ घड़ी बार-बार नहीं आती। मानस-जनम एक बार मिलता है।

किह्वा ने शुभ घड़ी हाथ से नहीं निकलने दी। मानस-जनम मे ही ब्याह होता है आदमी का। पहले मंगल ही दोनों बैल खूँटे से खोले और मुरसान की पैठ को चल दिया। दोनों का रस्सा पकड़े हुए चल रहा था, पाँवों में कँपकँपाहट-सी लगी थी। अखेल बछड़ों को किह्वा के चारा-दाना, सानी-पानी अपने हाथों खिला-पिलाकर बड़ा किया था। पाला हुआ जीव और अपना बालक बिछुड़ते समय बड़ा दुख देता है। मोह के मारे बाबरा हो गया किह्वा। पैठ में जाकर मन बदल गया- नहीं बेचने।

काले धौरे ने कान हिला-हिलाकर हठ पकड़ ली। वह अपने बर्दों के एक-एक संकेत को समझता है। सवेरे से साँझ हो गई पैठ में खड़े-खड़े। गाहक आए, सौदा करे, वह बेचने न बेचने के हिसाब में उलझ जाए। आसपास खड़े दलाल हँसने लगे।

बापू कहता है, "औरत का नशा भाँग-गाँजे, अफीम-दारू से दस हाथ ऊँचा चढ़कर बोलता है। किह्वा के ऊपर कलबतिया चाची की अनदेखी भतीजी पूरी तरह सवार थी।"

उसने झटपट सौदा कर दिया। काले धौरे का रस्सा गाहक के हाथ में थमा दिया।

बैल पीछे देख-देखकर रँभाए - बाँऽऽआँ,बाँऽऽआँ!

सपने में देखी-सुनी दो पाजेबों की झनकार ने किड्ढा को बहरा कर दिया।

बैलों की सूखी आँखों से आँसुओं की धार.... वह होंठ खोल रह गया। मूँछें कँपकँपा उठी.... दस हजार के नोट आज तक न देखे थे उसने। गिनते-गिनते पगला गया।

घर आया, देखा कि बापू लौट आया है। नगरकोट वाली देवी मइया बापू को हिरदय में नहीं, सीस पर बैठकर आई है। देह में भरी है। वह एक लट्ठ धरे तो दूसरा उठाए। पाँच पट्ठों का बल आ गया है बापू में। किड्ढा की बुरी गत कर डाली। फतूही धोती तार-तार चीर डाली, "भानजी के मामा, तुझे न्यारी ज्वानी चढ़ी है। लुगाई ने ऐसी मति फेर दी कि खेत के पालनहारे बेच आया! अब? अब जुआ क्या अपने कंधा पर धरेगा? कि लुगाई को जोतेगा? धरती से बड़ी हो गई बैयरबानी?"

किड्ढा के लिए चाची, भगत के लिए भगवान् की तरह है, बापू के फंदे से उबार लिया। मारते हुए बापू का हाथ पकड़ लिया, बोली, "बड़े, लुगाई तो तब ही जोतेगा, जब लुगाई ले आवै। और आ जाएगी तो जुआ खुशी से धर लेगा अपनी 'नार' पै। मर्द होकर इतना नहीं जान पाए कि घरनी पाकर दस घरों का भार ढो ले जाता है आदमी। पूछो, क्यों? इतना मूरख भी समझता है कि औरत की कमर पर टिकी है दुनिया की धुरी। अकेला पुरिख तो औंधे मुँह गिरे। धरती और सरग की बातें करने लगे! छोड़ो छोरा को।"

बापू हाँफ रहा था। चाची नरम हो आई, "बड़े उफन रहे हो। पूछूँगी वा दिना, जब तवे की उतरी, घये की सिकी पनपथी रोटी खाओगे। अरे, आदमी के हाथ का मैल है पसुधन।"

गोमा-गोमती! किड्ढा की रूपवती दुल्हन!

उसके घर के उस कोठे में आ बैठी, जहां वह धरती पर पड़ा-पड़ा अकेला पाँव पीटता रहता था सारी रात। कोठा भाटियारखाना लगता था, सन्न-सन्न करता हुआ भूतों का वास! आज उसी कोठे में से बाहर निकलने का जी नहीं चाहता।

गोमा बैठी है, गुलाबी रेशमी साड़ी में। कभी घूँघट खींच लेती है, अचानक मुँह उघार देती है। बादलों के बीच चंदा की लुका-छिपी बीसियों बार देखी होगी अकेले किड्ढा ने। उसका मनमोर आज पंख-पसार नाचना चाहता है। कभी बिजली कौंधती है तो कभी गड़गड़ाहट।

"आले-दिखालों में क्या टटोल रहा है रे?" बापू की आवाज।

"खुरपी-फाबड़े।" किड्ढा के मुँह से निकला।

गोमा की हँसी ऐसे छनछनाती हुई फूट-निकली, जैसे काँच की चूडियाँ बिखेर दी हों। नारंगी की फाँक-से होंठ हँसे। किड्ढा के मन में रंग बिखर गए। नुकीली ठोड़ी पर एक बूँद गड्ढा पड़ा। उसकी इकलौती आँख पलक झपकना भूल गई। जुन्हैया-भरी रंगत घूँघट में छिपे चेहरे में से छिटक रही है, ध्यान में डूबे बगुला की तरह खड़ा है वह। शीश पर चाँदी का बोल्ला, नाक की सुनहरी लौंग, पाँवों में छमाछम पाजेब। किड्ढा के पास ले-देकर एक आँख। ज्यादा तिरपित होना भी प्यास बढ़ाना है। बापू की फिर वहीं हुंकार! किड्ढा चौंक पड़ा।

"जनानिया बहू का चेला हो गया है। पाँवों पर महावर धर रहा है या माथे पर बेंदी लगा रहा है? लुगाई के गुलाम, माँग-पट्टी करता रहेगा? पल्लू से बँधा रहेगा? लुगाई ले डूबेगी।"

भैंस को पानी पिलाने गया था। क्या बताए बापू को कि पोखर के पानी में भी गोमा की छवि। हँसती हुई गोमा। गोमा की हँसी का दास है वह। टेढा होंठ करके हँसती गोमा का.....

चाची न होती तो बापू जरापट... (जलन) के मारे हाथ छोड़ बैठता उसके ऊपर। चाची को बात साधना आता है। तनिक फटकारती हुई-सी बोली, “अय बड़े! तुम्हारे मगज में जरा-माँकरे (जाले-मकड़े) लग गए हैं। अपनी याद भूल गए! लोग कहते थे, तुम किड्डा की महतारी के पाँव धो-धो पीते थे। और आज भी, कहो चाहे मत कहो, आँगन में जनानी धोती सूखते, मोरी में ताजा पानी बहते देखकर तुम्हारा मुख दिपदिपाने लगता है। ऐसे ही नहीं खाँसना-मठारना सीख गए?”

चाची की बात ईसुर का पैगाम। किड्डा अच्छर-अच्छर पालन करेगा। “कच्ची उमर की है रे गोमा, छोरा! छेड़-छाड़ मत करना रे अभी। खुराक देगा तो साल-भर में देह पकड़ लेगी।”

गिरी-छुहारे की खीर-खिलाकर पाला है गोमा को। भैंस के लिए चरी-चारा न हुआ तो मेंड़-मेंड़ घास खोदी है उसने। खाली-बिनौले जुटाए हैं, पर कन्नी उँगली से नहीं हुआ। रस्सा कसे रहा अपनी इच्छाओं पर। वह तप करना जानता है।

बिना बैल का किसान, बेहथियार सिपाही दाखिल ठहरा।

पौहे-ढ़ोर के मामले मे उधारखाता भी कितने दिन चले?

खेत आध-बटाई पर उठा दिया।

एक साल। दो साल।

पूरी खेती गाहने-उगाहने वाला आधी फसल पर कैसे संतोष कर ले? आधा अनाज खाए कि बेचे? और जिस घर में दुल्हन की चूडियाँ छनकती हों, वहां नित रोज के खर्चे। तीज-त्यौहार, मायका-पीहर, लिबउआ-चलउआ, कपडा-लत्ता, गहना-गुरिया के अलावा गृहस्थी के सत्तर सामान।

पहले की बात और थी, बाप-बेटा अकेले ठोकते-खाते थे। सारे दिन किवाड़ बंद रहते थे। गली का कुत्ता भी मुँह फेरकर दूसरे घर की राह लेता था। गोमा

के आते ही रिश्तेदारी जाग उठी। मोहल्ला-पड़ोसी आने-जाने लगे। बसी देहरी की महिमा न्यारी है, अपनी आँखों देख लिया किड्डा ने। जीजा, मौसा, फूफा, मामा! तमाम अपने ही अपने।

पर बैलों का देवाल कोई नहीं। किसनगत के चलते कौन अपना काम हदक करे?

बलीसिंह कहता है - अकल की सोचो।

क्या सोचे अकल की? अकल क्या बर्द बनकर खेत जोत लेगी?

“खेती तो बर्द ही जोतेंगे। अपनी खेती जोतकर मेरी मदद करा दिया करना, बस। गंगाराम भइया से तो अब उम्मेद नहीं।”

नेकी और पूछ-पूछ! आज किड्डा के चबूतरा पर सिंहासन धरा होता तो उस पर बैठा देता बलीसिंह को। मँझधार में से उबार लिया। इस काली देह की भीतर मन इतना ऊजरा! देवता निकला बलीसिंह।

गोमा मुँह देखकर ही बता दे कि किड्डा के मन में क्या है?

“आज कौन-सा काम बन गया?”

“भई मान गए बलीसिंह को।” उसने सारी बात बता दी।

“हद्द है तुम्हारी! पड़ोस में रहते आदमी को नहीं पहचाने। तुम्हारे दरियाब डोरिया कुनबा-खानदानी बनते हैं, पर काम पड़े पर फिस्स! बापू तक ने माँग लिए बर्द।”

बलीसिंह का कलेजा बहुत बड़ा है, आधी रात खोल लाओ बैल। यही नहीं, काम कीं कोई चीज उठा लाओ।

गोमा होंठ तिरछा करके हँसती है। बोली, “लेना-देना इकतरफा चलता कहीं? कोई सिंवाई में समझे, कोई ब्यौंताई में। दोनों बर्दों की चराई नहीं करते तुम? अपने काले धौरे के खूँटा पर बाँधे हो तब न अपने मालिक का खूँटा भूल गए। नेकी में तुमसे बढ़कर बलीसिंह दाऊजी नहीं।”

गोमा की तिरछी मुस्कराहट पर मर मिटा किड्ढा। चिंता-फिकर क्या होती है? आलस-थकान, हुँह! कलबतिया चाची झूठ नहीं कहती-किड्ढा, तैने गंगा में जौ बोए हैं। सियाराम भगत भगवान् की दया मानते हैं कि ऐसी अप्सरा बहू, वह भी इतनी कदर जानने वाली! किड्ढा ने मूँछें ऐंठ-ऐंठकर तार-सी सीधी कर लीं।

खेती-किसानी उसके मुकाबले कौन कर सकता है इस गाँव में! पंद्रह साल की उमर से हल चला रहा है। खेत बो-काट रहा है। बापू जवानी मे ही बूढ़ों की तरह हुक्का गुड़गुड़ाना सीख गया था। जिसका बेटा एक दिन में छः बीघा खेत अपने हल-बैलों से पलट डाले, वह पंचायत ही करेगा बैठा-बैठा। आज भी उसे फुरसत नहीं। जुताई-बुआई, पटेला-सिंचाई। किस काम को छोड़े, किसे पकड़े? किसान का जीवन-काम का दूसरा नाम।

वह सपने में हल की मूठ पकड़े हुए, बैलों को पैना से तिक-तिक, तिक-तिक हाँकता है।

"है ऽऽअ, क्या बर्रा रहे हो?" किड्ढा के कान के पास महीन आवाज गूँजती है।

वह खेत में से 'सुरग सेज' पर लौट आता है - गोमा की हँसी। किड्ढा लहरों में कूद गया।

अचानक लहरें तपने लगीं। पानी खौलने लगा। गोमा गज-भर की लाज मारे चूल्हे पर झुकी रहती है-गरमी के मौसम में डबल काम! धुएँ में तप-तपकर जुन्हैया फीकी! गोमा का मुख मुरझा जाता है। यह सुख कहा जाएगा?

मगर गोमा की मनमोहिनी हँसी! "तुम मेरी फिकिर न करना। किसी के बैल-बर्दों का अहसान क्यों ले हम? सो डबल खेती जोत देते हो तुम, और दोनों छाक की रोटी कर देती हूँ मैं। बेसक दाऊजी का मन करे तब तक खाएँ। एक आदमी का पेट क्या भारी है चढ़े चूल्हे पर? सब तरह से उतारेंगे उनका किया हुआ।"

"बापू को देखा है गोमा? इकलखुरा ठहरा। किसी को देखकर सिहाता नहीं।"

गोमा तवे पर रोटी डाल रही थी। झीने घूँघट में ही मुसका दी।

"बूढ़े आदमी की बात का क्या असर लेना? क्या बुरा मानना? अरे, वे हटका-बरजी न करें तो बड़े बूढ़े काहे के! फिर बापू क्या जानते नहीं कि दाऊजी के बर्द...."

किड्ढा हाथ में रोटी का गस्सा (कौर) पकड़े रह गया। यह वही गोमा है, जो कल तक अपने दूध के दाँत उखाड़कर मूसे के छेद में डालती फिरती थी! कैसी चतुराई की बातें करने लगी है! कलबतिया चाची की बात सोलह आना साँची है - गिरिस्ती का वजन आदमी को सालों में, तो औरत को महीनों मे बूढ़ी कर देता है।

गोमा जिम्मेदार हो गई है। घर माया में मगन है। सवेरे मुँह अँधियारे ही चौका-चूल्हा लीप डालती है। पानी भर लाती है। कागा बोले तब तक तो कंडा सुलगाकर तवा चढ़ा चुकी होती है। असली घी के 'परामटे' सेंककर धर देती है। फिर दही बिलोना, भैंस-बर्दों के सानी-खड़ैरा।

दो काँसे की थालियाँ। दो फूल के कटोर। किड्ढा के बराबर में बलीसिंह का आसन गोमा का मुसकाता चेहरा आँगन झिलमिलाता है।

बलसिंह ने भी नहीं देखी ऐसी झिलमिलाहट। वह चकित-सा निहारता है। भारमीला है बलीसिंह। नीचा मुँह करके खाता रहता है।

दो चंचल आँखें घूँघट में नाचती हैं। रोटी सेंकते, बरतन उठाते, पानी के लोटे भरते, रेशमी कलाइयों की चूड़ियाँ छनन-छनन बाजती हैं। गामा की पैंजनी की झनकार पर बलीसिंह की कनखियाँ उठती हैं।

"दाऊजी मौनी महातमा ठहरे। ध्यान न राखो तो भूखे उठ जाएँ।" गोमा की फिर तिरछे होंठों वाली हँसी! किड्ढा की उठती भौंह में बल पड़ते-पड़ते रह गया।

"अरे यह तो पाँत-पंगत तक में नही जाता। तुम्हारे हाथ में जादू है। क्या मिला देती हो रोटी-साग में?" क्या बोलना चाहता था, क्या बोल गया!

गोमा उसकी मूँछों को देखती रह गई। शरारत-भरी इकलौती आँख तो मूँछों के ऊपर चिलकती रहती है। "चलो, रहने दो। तुम्हें चुहल सूझती है। पर अब इन्हें गंगाराम रोटी देने वाला नहीं। खेत बाँट लिया, चूल्हे में साझेदारी कौन करने देगा।? दाऊजी हैं तो सूधे। बापू की चिलम भरें, खाट बिछाएँ, गोड़ दाबें।" फिर महीन हँसी।

डोरिया का घड़ी-घड़ी चिलम भरने आना गामा को सुहाता नहीं। वह कड़ुआ मुँह बनाकर बोली, "लुच्चा आदमी की आँख ही अलग होती है। हम क्या जानते नहीं? घर-घर चूल्हें नहीं, कि आग-धुआँ नहीं। मानसिंह के बाबू को बरज लेना, गैल-घाट बाँह भिड़ाए बिना निकलेगा नहीं। पाँच-छः बेर परचा चुकी हूँ।"

किड्डा ने बाबू से बोलचाल बंद कर दी। औरत को तीगने वाले आदमी से हेलमेल अच्छा नहीं। बापू समझा चुका है यह बात।

बलसिंह खुद नहीं देखता बाबू की तरफ। किड्डा को एक सुझाव दिया उसने, "यार, असल जड़ है पीपल वाले कुएँ पर पानी भरने जाना। बहू-बेटी को हर बुरी-भली नजर के नीचे से गुजरना पड़ता है। गाँव के तो गाँव के, आनगाँव के रसिया प्यासे बटोही बन, पस (अंजुली) आगे कर देते हैं। मेरी माने तो हैंडपंप लगवा ले।"

किड्डा के आँगन में खुदाई होने लगी। हत्था पकड़ते ही पानी की धार! पर बाबू हर नए काम का दुश्मन है, टाँग अड़ाए बिना मानेगा नहीं। वह भी बलीसिंह के मुँह से निकली बात.... चारा काटने वाली मशीन लगी थी तब भी बिदका था। और अब-

"पइसा चूरन कर रहा है फालतू में। बहू पानी नहीं भरेगी तो क्या गद्दी करेगी? किसान की बेटी है। बैठ-बैठ देह माटी हो जाएगी।"

गोमा कहती है, बापू की बात का मलाल क्या मानना? दरियाब की बहू सरसुती ने अमुही-समुही वार किया है गोमा पर।

खसम की एक आँख पर सबर किया है तो 'कल' का पानी तो पिएगी ही। लाड़ली है काने की। गाड़ी-भर रूपया फेंककर लाया है। बाप ने डलिया में धरकर बेची और गरब देख लो पटरानी पद्मिनी जी का....."

गोमा के मुख में जीभ है, सुना दी - "हमारा आदमी हमारे लिए। छछूँदर लुगाइयों के पेट में काहे को सूल उठ रहे हैं? किसी सौतेला के दीदा नहीं माँगे उधार का।"

सरसुती के हाथ की उँगलियों का घूँघट उठाया और क्रूर होंठों से चिल्लाई, "दीदा क्या करेगी माँगकर? दीदा लड़ाकर लूट लिया बलीसिंह। खेत में खेत दे लिया बिचारे का।"

गोमा के गुस्सा का आरपार नहीं, "फस्सा पेला, तेरी मौसी नहीं भाग गई दर्जी के संग। तुम्हारे खसम-पूत मरें। कलेजा खाक हो रहा है तो पोखरिया में डूबक मारो।"

"हम काहे को डूबक मारें? तूने बेची है हैया-सरम, तू मार।"

"ज्यादा मत बोलियो। होनी होगी सो हो जाएगी। चटक छिनार!"

गोमा के मुँह से निकली 'चटक छिनार' सरसुती के लिए ही नहीं, इस रस में भाामिल हुई मोहल्ले-भर की औरतों के लिए नई खोज थी। एक-एक करके सबने जुगाली-सी की-चटक छिनार।

तिरछी मुसकान पर निछावर हो जाता है किड्डा। वीरता के साथ लड़ी इस लड़ाई पर उसका दिल बाग-बाग है। कलबतिया चाची जौहरी से कम नहीं, कैसी रतनार खोजकर बड़ी-बड़ी मूँछें सहलाईं।

गोमा बरोसी में कंडे सुलगा रही है। हाथ तेजी से फोड़ रहे हैं कडे। एक छिन रूककर बोली, "सुनो, अब तुम मेरी मानो तो फूस के छप्पर की जगह बरामदे के ऊपर लेंटर गिरवा दो। और बरसाती नाली छोड़ना इन बैरिनों के दरवाजे की ओर। दाऊजी से हाथ जोड़कर कह देना, पाई-पाई चुका देंगे उनका खेत जोत-बोकर।"

दाऊजी अरहर की दाल नहीं खाते। गोमा ने पूरी की पूरी अरहर बाजार में बिकने भेज दी। मूँग की बड़ियाँ रूचती हैं उन्हें, गोमा तीसरे दिन मूँग की दाल भिगोकर पीस लेती है। मसालेदार साग बनाने में गोमा के जोड़ की कोई जनी नहीं, दाऊजी दस बेर यह बात कह चुके हैं।

हत्तुम्हारे की। बैंगन का साग कौन खाएगा? बलीसिंह टमाटर की पौध ले आया। जानता है, गोमा ने बैंगन त्याग रखे हैं।

दाऊजी की पंचबीघा बोंहडी में आलू अच्छे होंगे। गोमा जानती है।

सचमुच गोमा की जीभ पर सरसुती का वास हैं आलूभरी बैलगाड़ी देखते-देखते खाली होती इगलास की पैठ में। बैल बेचने के बाद खनन-खनन रुपया दबा आया किड्ढा की अंटी में बड़ी-बड़ी काली मूँछों में लहरें उठती हैं।

"दाऊजी से कहो, खाँसकर चढ़ा करें देहरी। फिर कहेंगे, गोमा आड़ नहीं करती।"

किड्ढा गोमा की सुरीली गोली के हाथ बिका है। न चाहकर भी कहना पड़ा। मानसिंह का बाबू आज तक शिकायत करता है-सालों बीत गए गोमा भाभी का मुख नहीं देखा। मेला-दशहरा मिल जाएँ तो पहचानेंगे नहीं। बलीसिंह गोमा के कहे का बुरा नहीं मानेगा। उसे आड़ मरजाद तोड़ना पसंद नहीं।

"खेत कट रहे हैं। दाऊजी को चैत के महीने में जूड़ी ने धर दबोचा। साबूदाना बनाऊँ कि रोटी करूँ? साग राँधूँ कि चाह बनाकर दूँ। तुम खुद अकेले. ...."

"नहीं, अकेला कहाँ, चार मजदूर लगा दिए है। बलीसिंह ने।"

"मजूरों की बात छोड़ो। पीछे-पीछे न डोलोगे तो खाक न करके दें। वो ही बीड़ी-चिलम का बहाना। पिछियाए फिरो। एक और इल्लत।" गोमा के सुदंर मुख पर झुँझलाहट है।

चार मजूरों के लिए चार हँसिया भी तो चाहिए। किड्ढा द्वार पर खड़ा गोमा को आवाज दे रहा है।

वह आँगन में आ गई। हँसिया उठाकर घूँघट डालती हुई बाहर। पोलका के सारे बटन खुले हैं.....

किड्ढा की इकलौती आँख बड़ी जिद्दिन है, खुली रह गई।

गोमा ने अपनी छाती पर नजर डाली। पल्ला ढक लिया। मुसकरा दी।

"बीमार आदमी घर में पड़ा हो, तो दूसरों को पागल बना देता है दौड़ा-दौड़ाकर। नहाने जा रही थी अब। कभी दूध दो, कभी पानी दो, कभी दबा पिबाओ।"

किड्ढा को सियाराम भगत की बात याद आ गई। पाप-संका नहीं लाना कभी मन में। पाप-संका रामचंद्र जी ने करी थी सीता माता पर। सीता धरती में समा गई।

नहीं, नहीं। माफी देना, छिमा करना प्रभो, मैंने पाप नहीं विचार। बलीसिंह बेचारे का हमरे सिबा है ही कौन? गोमा टहल न करेगी तो कौन करेगा?

किड्ढा पसीने से तरबतर हुआ जा रहा है। नाक में से भट्ठी की सी झार...

तुम पसीना-पसीना हो रहे हो! दो पल बिरमा लेते। लस्सी मठा ही पिए जाते सक्कर डालकर। कतीरा डाला था कोरे मल्सा में तुम्हारे लिए। चीनी मँगा ली थी बजार से। गुड़ की सक्कर नहीं सुहाती कतीरा में। सुनो! इतनी फाँय-फाँय ठीक नहीं। माँदी-बीमार गिर जाओगे तो हम तो कहीं के न रहेंगे। दाऊजी तो अपने घर चलते बनेंगे।"

चिनगारियों की छींटे पड़ रहे हैं ठंडे पानी के। अगन की लपट मंद हो गई। अपनी औरत अपनी ही होती है। उसने नीचे की ओर झुकी हुई मूँछों को अँगूठा

और उँगली की मदद से बटा रस्सी की तरह। आतमा में पड़ी ऐंठन ढीली हो गईं।

जिस साल बापू मरा, उसी साल पीलिया ने धर दबोचा उसे।

बापू बेईमान दो दिन के बुखार में ही छोड़कर चला जाएगा, क्या जानता था किड्ढा। गोमा हिम्मत देती रही। वह बाप की याद में आधा हो गया, कुछ पीलिया ने झटक दिया।

बुरा हो ककरेठिया वाले बैद का, पीलिया की दवा कहकर न जाने कौन-सी रूखरी घोट-पीसकर दे दी कि किड्ढा किड्ढा न रहा।

जो देखे, सो देखता रह जाए। जैसे वह कोई अजूबा हो।

गोमा बावरी-सी बोली, "ऐना देखा है तुमने?"

ऐना काहे को देखूँ मैं?"

"अरे, तु देखो तो सही.... किसी ने कुछ कहा नहीं तुमसे?" उसने अपने ब्याह वाला शीशा थमा दिया।

किड्ढा ने बहुत दिनों से अपनी सूरत शीशे में नहीं देखी। उस दिन से, जब एक बार उसकी सगाई तय होने जा रही थी। तिलक का रूपया हाथ पर धरा जा रहा था। अचानक लड़की का भक्क-भूरा। जीजा चिल्लाया-"अजी इस 'आँखूवली से ब्याहेंगे हम अपनी चंदा-सी साली। आप लोगों के पास रकम नहीं है तो मैं देता हूँ। चलो यहाँ से। लड़के का नाम क्या है - किड्ढा! हा हा हा हा! किड्ढा!"

वे चले गए। किड्ढा दोपहर से साँझ तक पोखर की पार पर बैठा रहा। जल में झाँक-झाँककर अपना चेहरा देखता रहा। किसी को भी अपनी सूरत बुरी नहीं लगती। उसे भी नहीं लगी। अलबत्ता उस दिन के बाद अपना अक्स देखने की हिम्मत नहीं पड़ी कभी।

कलबतिया चाची के पास बहुत रोया था वह, "चाची, मेरा नाम किसने रखा- किड्ढा! किड्ढासिंह!"

चाची ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा,"बेटा, तेरा नाम तो किरोड़ीसिंह था। पर इस गाँव के आदमी नाम बिगाड़े बिना बोलते कहाँ हैं? मेरा नाम सूधा है - कलावती। पर कहेंगे कलबतिया। इनके सत्यानास जाए।"

किड्ढा की नुकीली तनी हुई मूँछ उसी दिन का संकल्प हैं।... पर आज जो गाज गिरी है! वह सूरत देखते ही ऐसा चौंका ज्यों करतें साँप पर पाँव पड़ गया हो।

दरपन आँगन में दे मारा। झन्न-झन्न.... सैंकड़ों किरचें फैल गईं।

गोमा उठी और आँगन में बिखरा काँच झाड़ू से सकेरने लगी। किड्ढा भावशून्य-सा बैठा रहा। इकलौती आँख में भी जैसे पुतली नहीं, पत्थर जड़ा है। अंधी हो गई। शीशे में देखा अक्स, नजर में नहीं। मन मे पैठ गया। काली छाया तनी है नजर के समाने। स्याह हो गए चेचक के दाग। इंधरिया छा गई मुख पर।

अचानक दोनों कोयों में जल भर आया। बेनजर आँख भी रो रही है.... आँखूवली!

गोमा जार-जार रो उठी, "भगवान् कैसा अन्यायी है! सूधे आदमियों के नसीब में दुख लिखा देता है। इससे अच्छा होता कि मैं....."

किड्ढा ने गोमा के होंठों पर हाथ धर दिया - "बाबरी!"

गाँव में एक बात अनेक रूप धरकर फैलती है। हींग के छौंक की तरह इस मोहल्ले से उस मोहल्ले तक पहले दिन उड़ी कि किड्ढा ककरेठिया के बैद के पास पीलिया की नहीं, मर्दानगी की दवा लेने गया था।

दूसरे दिन दरियाव वाली गली में सुनाई दिया, बलीसिंह का यार है ककरेठिया का बैद, किड्ढा को जानबूझकर रूखरी दी है कि उसका रूप-रंग बिगड़ जाए।

तीसरे दिन और कुछ..... गोमा हाथ पीट-पीटकर राह चलती औरतों को सुनाने लगी- "अरे, कोई किसी का संग दे तो आतमा पजरती हैं लोग-लुगाइयों की। मैं तो कहती हूँ, नास कर देवी मइया कुढ़ने वालों का। नौदुर्गा के नौ दिन लौंग खाकर बरती रहूँगी।"

किड्डा गोमा को बाँह पकड़कर भीतर ले गया,"तू काहे को अपना गला दुखाती है। गाँव के लोग पागल हैं ससुर।" किड्डा की आँख नहीं, मूँछ दीख रही है गोमा को।

गोमा जब शांत हो गई, उसकी हँफहँफाहट थम गई, तब किड्डा ने खाट पर बैठकर समझाया, "अज्ञानी लोग क्या जानें? विपता में संग देने वाले को सियाराम भगत भगवान् का रूप मानते हैं। मैंने बलीसिंह को अपनी हारी-बीमारी में भगवान् के ठौर पाया है। कंधे से कंधा मिलाए खड़ा रहा है तकलीफ में। सगा भाई तक नहीं करता इतना। हाँ!" कहकर मूँछें सहलाने लगा किड्डा

गोमा रूआँसी होकर बोली, "ककरेठिया के बैद की अच्छी तरह धुनाई कर आए हैं दाऊजी। रपोटा-रपाटी भी हो रही बताते हैं। उन्होंने कह दिया-परवाह नहीं। चार बीघा खेत बेच डालेंगे। दरोगा को घूस ही तो भरनी है। लड़ लेंगे मुकद्दमा-कचहेरी।"

किड्डा ने घर से निकलना छोड़ दिया। गाली के बालक झुंड बाँधकर पीछे-पीछे हो लेते हैं। एक-एक आदमी चार-चार सवाल करता है -किस बीमारी की थी रे रूखरी? पीलिया था भी कि नहीं? काला मुँह ठीक होगा भी? गोमा पास आने देती है कि..... खीं खीं खीं खीं, हा हा हा हा!

सियाराम भगत न हों तो किड्डा पागल हो जाए। उन्होंने ही समझाया था-"आदमी को जी छोटा नहीं करना चाहिए। प्रभो दीन-दुखियों के साथी हैं। एक द्वार बंद होता है तो वे दस द्वार खोल देते हैं।"

ऐसी ही बेला में मालूम हुआ कि गोमा गर्भ से है।

किड्डा को कब विश्वास होने वाला था!

गोमा कमजोरी के कारण हलके से हँसी, "तुम तो बाप बन जाओगे तब भी पतियारा (विश्वास) न करोगे। ऐसे सूधे आदमी भी क्या...."

किड्डा की खुशी का ठिकाना नहीं। सच नहीं लगता। ऐसे ही हो जाती हैं मुरादें पूरी। इतर-पितर निहाल हो उठे होंगे। बापू होता तो सोहर गाने लगता। बाज ही एक भैंस खूँटे पर ला बाँधता- गोमा के नाम की। दूध-घी की नदियाँ बहा देता आँगन में। काम.... अरे, फली के दो टुकड़े न करने देता। पलंग पर बिठाकर रखता पटरानी की तरह। बापू, तेरे भाग में नहीं था न नाती का मुख देखना?

बलीसिंह बार-बार किड्डा को बरजता है- "गोमती के कसाले का काम न कराया कर। गोबर-कूड़ा डालने की क्या जरूरत है? हम बैलगाड़ी में भरकर डाल देंगे एक बार में। रोटी तीन टैम नहीं, एक बखत बहुत है। ठंड़ी-सीरी खाने में हमें क्या एतराज?"

किड्डा के माथे पर बल पड़ गए। इकलौती आँख के नीचे फड़कन.....

कलबतिया चाची कहती है- "गोला का बीज और मिसरी की डली खाया कर गोमा! शर्तिया बेटा होगा।

किड्डा की आँखों में घुटनों के बल चलता नन्हा बालक! वह गोमा के छोटे बच्चे की तरह लाड़ लड़ाता है। बलीसिंह इगलास गया था। कहता है, मेवा और चीनी लेता आया हूँ। चाची हलुहा बना दिया करेगी। किड्डा ने अपनी साइकिल में ताला लगा दिया।

चाची एक बात और बोली, "ऐसे में खट-मिट्ठी चीज खाने को मन चलता है रे किड्डा।" वह इगलास जाकर इमली-अचार ले आया। इमरती-जलेबी अँगोछा में बाँकर लाना न भूला।

किड्डा को गोमा की फिकर है, पर गोमा को घर-खेतों की। दाऊजी वाले पाँच बीघा में सरसों बोना नहीं भूलना। अपने सात बीघा में गेहूँ। दो बीघा वाली बोंहड़ी

में तो अबकी बेर मसूर डालना, अच्छे भाव बिकेगी। और खेतों की दाऊजी से पूछ लेना, वे जानकार हैं। बन-कपास किस खेत में बोया जाएगा? दाऊजी के पटनियाँ बारे में।"

खेत-क्यार नहीं सूझते इन दिनों, किह्वा का मन गोमा को पेट में बढ़ते बच्चे से लगा है। मन में बार-बार एक शंका उठती है। वह छिपा जाता है। गोमा से पूछने ही हिम्मत नहीं होती। उसने मौका देखकर चाची से पूछा लिया, "चाची, बालक का रंग मेरे मुँह की तरह हो गया तब?"

कलबतिया चाची चिल्लाकर पड़ी, "चल मिट! तू क्या काला था? रूखरी ने बदल दी तेरी रंगत। सत्यानास जाए ककरेठिया के बैद का।"

डोरिया बाबरा है ससुर। कहता है, किह्वा के घर काला कौआ जनम लेगा। काला कौआ.... है चाची?

गोमा ने बीच में ही बात काट दी, "कहने वालों को गोली मारो। हमारी सुनो, दाऊजी कह रहे थे, खेती इस बालक के नाम करेंगे। उनके और है कौन?"

किह्वा की इकलौती आँख फैलकर दोगुनी हो गई। वह अपनी मूँछ नोचने लगा।

"भूल ही गई एक बात तो। वे कहते थे, गोमती को एक दिन चलकर इगलास की डाकधरनी को दिखा दो। गाँव की दाई तो निपट मूरख....."

गोमा की आँखें चमकने लगी। चेहरे पर हुलास छा रहा है। किह्वा के मन में ऐसी लपटें उठीं कि तन-मन झुलसने लगा। साँस गहरी, और गहरी हो गई।

"नहीं जाना इगलास-फिगलास। कहाँ की लगाई डाकधरनी? चाची बहुत कुछ जानती है। जिसे दिखाना होगा, दिखा देगी।"

गोमा बोली तो कुछ भी नहीं। सारा दिन पड़ी रही। रोटी खाई, न पानी पिया।

वह घबराने लगा। बच्चा को कुछ हो गया तो? गोमा ने ऐलान कर दिया, उससे कोई न बोल।

कितनी बार कोठे में गया। कितनी बार निकल आया। अंत में गोमा का पाँव हिलाते हुए बोला, "उठ रोटी खा ले। भूखी रहेगी तो बालक ..... चाची कहती है, पेट वाली औरत को निरजल नहीं रहना चाहिए। बच्चा बिलबिलाता है।"

गोमा बहुत देर गुस्सा नहीं रह सकती। किह्वा की आँखों में आँखों डालकर बोली, "मर जाने दो बच्चा को। मर जाने दो मुझे। तुम्हें क्या? अपनी बीमारी में तो दाऊजी कहाँ-कहाँ नहीं नचाए थे और मेरी बेर को....?" उसने गुस्से से भौंहें तरेरीं।

किह्वा का मन मोम का बना है। गोमा का मुख हथेलियों के बीच लेकर बोला, "खेत की किरिया-किरिया बेच डालूँगा तेरी खातिर, हाँ!" और अपनी मूँछ सहलाने लगा धीरे-धीरे ।

थोड़ी देर बाद देखा, गोमा धोती पहनी है। आँगन महक रहा है, खसबोईदार तेल डाला है । और, और नई चप्पल पहने चली जा रही है। बलीसिंह के पीछे-पीछे। घूँघट वाली बहू-गोमा है? किह्वा को एक पल विश्वास नहीं हुआ।

चाची आकर बोली, "इगलास गई है डाकधरनी को दिखाने।"

गोड़ टूट गए किह्वा के। खड़े होने तक की गुंजाइश नहीं रही। सारा दिन खरहरी खाट पर पड़ा रहा। भूखा-प्यासा, पेट में घुटने दिए। साजी और फूटी दोनों आँखों खारा पानी बहाती रहीं। अनेक सपने देख डाले, अनेक इच्छाओं को साकार करता रहा।

वह डंडा लेकर चला जा रहा है पीछे-पीछे। ऊसरा में पकड़ लिया है बलीसिंह को। मार-मारकर पछाड़ डाला। साला आस्तीन का साँप!

इगलास के सरकारी अस्पताल में घुस गया। डाकधरनी के ऐन सामने

से चुटिया पकड़कर घसीट लाया गामा को। साली! माँ मरी धिय को, धिय मरी धींगरों को!

धतूरे के बीज पीस लिए हैं सिल पर। चून में मिलाकर माँड़ लिए। रोटियाँ बला लीं। बापू बलीसिंह की थाली में रोटियाँ परोस रहा है। बली सिंह सबकी सब रोटियाँ खा गया। वह बेहोश हो गया। मर रहा है बलीसिंह। गोमा रो नहीं रही। चुपचाप देख रही है।

किह्वा हड़बड़ाकर उठा बैठा। इधर-उधर देखा। गोमा कहीं नहीं। उसके होंठों के कोनों से लार की धार बह रही है। नींद नहीं, झपकी लगी थी उसे। झपकी में ही आते हैं आधे-अधूरे सपने।

किह्वा पागल हो गया था उस दिन। गोमा आई, उसकी गर्दन दबोचते हुए बोला, "जा साली! यहाँ काहे को आई है? निकल मेरे घर से।"

बलीसिंह भीगी बिल्ली की तरह न जाने कब खिसकर गया। फिर कई दिन तक नहीं आया। वह गोमा का ताबेदार है। हुकुम मानेगा नहीं? मगर किह्वा को चैन है। भरपूर नींद में सोता है। कोई छटपटाहट नहीं।

गोमा ने पाजेबें उतार दीं। चूडियाँ छनकती नहीं। एडियाँ पीली और खुददुरी। चेहरा रोया हुआ। बिना बिन्दी के सूना माथा। किह्वा से बोलना तो दूर, उसकी ओर देखती तक नहीं। पड़ी रहती है कोठे में, धरती पर दरी बिछाकर।

उसका मन हुआ, गालियाँ दे। उठाकर पटक दे गोमा को। साली भोक मना रही है? चूड़ी-बिछिया फोड़कर रो रही है! मर गया है क्या तेरा खसम? राँड़ हो गई? तिरिया चलित्तर! पड़ी रह भूखी-प्यासी। देखें कितने दिन चलेगा तेरा स्वाँग?

....लेकिन तीन दिन भी नहीं बीते। गोमा का दुबला पीला मगर तना हुआ मुख उसे भीतर से तोड़ने लगा। यह सब क्या कर डाला उसने? गोमा ने ऐसी खता कर दी? बच्चा पेट में है, बिलबिलाता होगा। अन्न-पानी त्यागे पड़ी है गोमा। डाकधरनी ने क्या बताया, उसने पूछा नहीं।

कैसे कहे कि तेरे बिना नहीं रहा जाता गोमा। घर मसान-सा भयावना... धीरे के पास आ बैठा। हिम्मत करता रहा कुछ देर। शायद गोमा भाँप गई है कि वह ....उसकी पीठ हिलने लगी। गोमा रो रही है? नामालूम-सा हाथ का परस किया गोमा की बाँह पर - "उठ गोमा!"

गोमा ने हाथ झटक दिया। वह कटे तने की तरह ढ़हने लगा। भीतर की नसें, देह की मसें टुकड़े-टुकड़े होने लगीं। मन मे आया, दहाड़ मारकर रोने लगे। घिघियाए-मुझसे बोलना न छोड़ गोमा! गालियाँ दे। लड़। कपड़े फाड़ दे मेरे, पर मुझसे बोल। बात कर। नरम होंठों से हँस। उदास मत हो। तेरी तिरछी मुसकान...!

मगर वह कह कुछ भी नहीं सका। गोमा के पाँव पकड़ लिए। वह फफक-फफककर रोने लगा।

किह्वा को नहीं मालूम कि वह उसकी तिरछी मुसकान से खिल उठता है या उसे रोती देखकर पिघलकर बहने लगता है। दोनों ही दशाएँ एक-सी हैं। ऐसी दोनों ही घड़ियों में उसे लगता है, वह गोमा को अपनी बाँहों में भरकर छाती से लगा ले। खूब प्यार करे। संसार की हर चीज उसके पाँवों में डाल दे, जो कुछ भी वह चाहे। जिस कुछ की वह इच्छा करे।

पाँवों से होता हुआ हाथ गामा के कंधों पर आ गया। वह दरी पर लेटी थी। किह्वा ने जतनपूर्वक उसे अपनी बाँहों में लिया। बचाते हुए समेटा कि कहीं पेट में बच्चे को नुकसान न पहुँचे। गोमा देख ले कि वह अकेली नहीं रो रही, एक नदिया किह्वा की आँख में से भी बहती चली जा रही है।

बलीसिंह के पास जाकर बोला, "माफी दे दे भाई! मेरा मगज ही फिर गया है।" बलीसिंह को लिवाकर आया, फिर गोमा को उठाया। आज बहुत दिनों बाद रोटी बनाई। गोमा के लिए थाली परोसी। अपने हाथ से खिलाने लगा। नहीं खा रही थी तो बोला, "बलीसिंह तू कह देख, तेरे कहने से खा लेगी।" किह्वा अपनी मूँछें खुजाने लगा।

खेत पर रहा करेगा आज से। बहुत ताका-झाँकी करने लगा है-पाप-संका! नरक होगा। सियाराम भगत के पास बहुत दिनों से गया नहीं। भूल गया पाप-पुन्न।

कोठे में पड़ी गोमा कराह रही है वह रोने लगी। क्या हुआ? चाची को बुलाऊँ? लेकिन उसके मुँह से निकाला- "बलीसिंघऽऽअ!"

नहीं, क्यों बुला रहा हूँ बलीसिंह को? वह क्या करेगा? कौन होता है वह?

चाची आ गई। गोमा ने बालक को जन्म दिया है। चाची थाली बजाने लगी।

किड्ढा के घर बेटा पैदा हुआ है।

बलीसिंह कोठे की चौखट पर खड़ा होकर पूछ रहा है- "गोमती ठीक है। बच्चा?"

एक तीखी धार-सी खिंचती चली गई भीतर। मूँछें फड़कने लगीं, ज्यों खुद ही उखड़ जाना चाहती हो। डोरिया-दरियाव का ठहाका भीतर तक घुस आया। बातें सुन रहा है वह - "बालक किड्ढा के घर हुआ है या किड्ढा का?"

एक ऐना और टूटा-झन्न! सैकड़ों किरचें बिखर गईं।

घर-घर बुलावे दिए जा रहे हैं। चौक पूरकर साँतिये धरे जाएँगे। चाची कोरा-चरूआ भर रही है। बत्तीसा डालकर उबालने धरेगी। गोमा को बत्तीसा का पानी पीना है। नेग-सगुन हो रहे हैं। किड्ढा की पुकार पड़ी है। वह कुर्ता की जेब में से पाँच का नोट, एक का नोट निकाल-निकालकर दे रहा है। बलीसिंह एक क्षण को आया। दस-दस के कुछ नोट देकर बोला, "खर्च कर लेना। मैंने अलग रख दिए थे।"

मुँह पर मार दे इन रुपयों को? क्यों दे रहा है? पूछे?

गोमा ने कहलवाया, "दाऊजी रूपया दें तो धर लेना। फसल इकट्ठी ही बिकी थी। हिसाब नहीं हुआ। हमारे कि उनके, बात एक ही है।"

सोहर गाए जा रहे हैं:

"ऐसे फूले सालिगराम डालें, हाथ लिए रमपइया,
ए लाला के बाबा, आज बधाई बाजी त्यारे।
ऐसे फूले किड्ढा सिंह डोलें, हाथ लिए रमपइया।
ए लाल के बाबुल आज बधाई बाजी त्यारे।"

बाहर से फिर मिले-जुले ठहाकों के साथ कहावत-"हाथी डोले गाँव-गाँव, जाकौ हाथी, ता कौ नाम।"

समुंदर का खारा पानी कभी देखा नहीं किड्ढा ने। सियाराम भगत की रामायण में सुना है - सागर का जल पीने लायक नहीं होता। नुनखरा समुंदरा ठाठें मार रहा है किड्ढा के कलेजे में।

कौन बाबा? कौन बाबुल? सौर में पड़ी गोमा का झोंटा पकड़कर घर से बाहर कर दे। साली, चली जा इसी यार के संग, जो मुझसे पहले बालक को देखने पहुँचा है। किवाड़ की झिरी से न चाहते हुए भी देख लिया किड्ढा ने। बलीसिंह चाँदी का जैसा झुनझुना और कुछ नोट रख रहा है खाट पर बैठी गोमा के पास। चाची कहाँ मर गई?

"चाची! तू गाना बंद कर। फेंक ढोलक।" वह कहना चाहता है।

लेकिन एकांत पाकर चाची के कंधे पर सिर धरकर फूट पड़ा। वह पीठ थपथपाती हुई बोली, "बेटा, मुकद्दर को फेर है। बुरा हो ककरेठिया के बैद का, छोरा का मगज खराब करके धर दिया। सगुन-सात रोजाना-पीटना क्यों मचाता है मिटे!"

आँखें पोंछकर देखा, चाची के कोयों में ताल भरे हैं। भर्राई हुई आवाज में बोल रही है- "चल उठ, हाथ-मुँह धो। बाजार चला जा। गुड़ और मेवा ले आ। हरीरा बनेगा। सोंठ-पंजीरी होगी। जच्चा को जैसी खुराक दोगे, बच्चा बैसे ही तंदुरस्ती पाएगा। गोमा का खयाल राख बेटा। तेरी महतारी परसूत में मरी।"

किड्ढा भीतर तक दहल गया। उठा और गोमा के पास जा पहुँचा। गोमा के होंठों पर कमजोर-सी हँसी खेल रही है - "लो देख लो, दुस्स-मुस्स तुम पर गया है। नाक तो ज्यों कि त्यों धर दी है - तोड़कर।"

किड्ढा के मन में खुशी की लहरें आ-जा रही हैं। तुरंत बाँहें फैला दीं, मतलब कि दो बच्चा। छोटी-सी ठोड़ी पर अपनी नाक छुआने लगा।

"अरे, तुम तो बड़े ले पाओगे, बाँह रह जाएगी। गर्दन उतर जाएगी।" गोमा की हँसी खुनखनाने लगी। किड्ढा कभी गोमा को देखे तो कभी बालक को। आनंद!

"दाऊजी झुनझुना और रूपया दे गए हैं। लौटा देना। हम क्या नदीदे हैं? ब्यौहार कर रहे हैं हमसे। यह नहीं याद रहा, इस बच्चा के बाप ने खेत में कितना पसीना बहाया है।"

किड्ढा को हार्दिक खुशी। गोमा खफा है।

दूसरे ही दिन गाँव के कई लोगों ने अलग-अलग कहा- "बलीसिंह तो कचहरी में बैनामा के कागज लेते देखा है।"

गंगाराम को मौका मिल गया। अपने चबूतरे पर खड़े होकर दिन मुँदे धरउअल चिल्लाया- "लिखकर तो देख धरती। मुकदमा ठोक देंगे। दादालाई धरती को वह अकेला कौन होता है उस नाखंदी को देना वाला? साले किड्ढा का भी मूँड फोड़ देंगे।"

किड्ढा को गुस्सा गंगाराम पर नहीं, बलीसिंह पर नहीं, गोमा पर आया। साली ढोंगिन! कहती थी, रूपया लौटा दो, झुनझुना लौटा दो।... और खेत लिखवा रही है!

घर के भीतर आँगन में खड़े होकर वह गंगाराम से ज्यादा जोर से चिंघाडा, "हिम्मत हो तो बाहर खड़ी होकर सुन। तेरा बाप गंगाराम क्या कह रहा है? बैठी-बैठी नंदलाल को दूध चुखा रही है! उठ भेंचों बदमास..."

गोमा की बाँह पकड़कर बहशियों की भाँति खींचने लगा।

वह आँखे फाड़े देख रही है।

"बोल! दे जवाब।" मूछों का एक-एक बाल थरथरा रहा है। "नहीं चाहिए भैंस-बर्द। नहीं चाहिए रूपया-पइया। नहीं चाहिए कल-मसीन.... बलिया का चाकर हूँ मैं? उसका हरहारा (हल जोतने वाला) कि मेहनती?"

गोमा की मछली-सी आँखें आँसुओं में तैरने लगीं।

"मैं अपनी खातिर कर रही हूँ सब? दाऊजी लिख देंगे तो मालिक कौन होगा? जोतेगा-बोएगा कौन ? आज तुम दाऊजी की धरती समेत पूरे चालीस बीघा के मालिक हो। गंगाराम पजरेगा नहीं? अरे, लोग अपने लत्ता-कपड़ा फाड़ेंगे। बाबरे होंगे। किसी की बढ़ती देख कौन सिहाता है?" अंतिम वाक्य रूदन में मिला हुआ था।

किड्ढा मन ही मन पछताया। नामालूम कौन-से देवता आ विराजते हैं सिर पर कि वह बिफर उठता है। वह गोमा के पास आया। क्षण-भर बालक को देखता रहा। अपने जिगर के टुकड़े को कैसे फेंके फिर रहा है! बापू होता तो लतिया देता किड्ढा को।

उसे बालक को चुपचाप गोद में ले लिया। बोला, "गोमा, भँवर नाम से बुलाना इसे। बापू कहता था, किड्ढा, मैंने तो तेरा नाम भँवरसिंह रखा था। तेरे बाबा ने किरोड़ीसिंह।"

गोमा के होंठों पर अचानक तिरछी मुसकान खेल गई, बोली, "अपने पुरखों का धरा हुआ नाम तो पुकारेंगे ही। तुम दाऊजी से मना कर देना, बलवानसिंह न कहा करें।"

....मगर भँवर कब कहा गोमा ने! बलवान कहकर ही पुकारती रही।

किड्ढा की छाती में मनों ईंधन स्वाह होता रहा-बलीसिंह-बलीसिंह! हुँह! ससुर बलिया! मूँछ पर हाथ गया कि मूँछ पकड़े ही बैठा रहा देर तक।

खेतों की ओर निकल गया था। सतबीघा की मेंड पर चाची मिल गई। उसका हाथ पकड़कर बोली, "बता, कहाँ जा रहा है? तैने सुन ली? मुझे क्या मालुम थी कि गोमा रंडी...भइयादौज लेकर उस नाग बलिया की भेज रही है पीहर।"

किड्डा ऐसे देखने लगा, ज्यों कुछ समझा न हो।

"अरे, बाबरा-सा काहे को खड़ा हो गया? भेज रही है तो भेजे। तू मन मैला मत करे बेटा...."

सामने खड़ी फसल में आग लगी है। खेत धू-धू करके जल रहे हैं। भेजेगी क्यों नहीं असली खसम को... अपनी आँखों से परलय देखी है चाची! तुझे क्या बता दे! तूने मुझे तो बरज दिया था चाची कि जंपाते के तीन महीना तक गोमा को छूना नहीं रे। छूने का मतलब में समझ गया था। गोमा को कैसी भी तकलीफ हो, वह कभी नहीं चाहता।

"चाची, तू बूढ़ी, माँ-समान, खोलकर क्या बताता? बलिया बीस दिन भी नहीं निकाल सका। इतना तो समझता है कि गोमा जरूरत से ज्यादा आय-ऊय काहे को मचा रही है ? नींद कैसे लगती फिर? ओसारे में सोता हुआ देखता रहा- बलीसिंह दर्द की गोली लेकर उठा। भीतर पहुँचा। पर निकला नहीं। आधी रात में ज्यादा बीत गई। मैं खाट में लेटा-लेट हाँफ रहा था चाची, ज्यों सौ कोस भागकर आया हूँ। मन में आया, मोरी पर पड़ा पत्थर उठाकर दे मारूँ बलीसिंह के मूँड़ में। किबाड़ तोड़कर फेंक दूँ। अपनी धोती कस रहा था कि भीतर बालक रो पड़ा। बलीसिंह निकल आया कोठे में से। निकल गया बाहर जल्दी से।"

वह गोमा के ऊपर बाज-सा झपटा - "आयंदा यह मेरे घर आया तो तेरा सिर फोड़ डालूँगा कुतिया! इस हरामी को फेंक दूँगा गोद में उठाकर। उस भुजंगी को देखकर खिलती है सूरजमुखी! मुझे देखकर तो तेरा मुँह तोरई की तरह लटक जाता है।"

गोमा रोई नहीं, देखती रही उसकी ओर। तनिक तिरछे होंठ करके मुसकाई और बोली, "निकाल बाहर क्यों नहीं करते? पराये आदमी को रहतवा मानना

चाहिए सो अपना खून जलाते हैं देख-देखकर। भँवर के बापू, तुम्हारी किसम, भगा दो दाऊजी को। भला तुम्हारी मालिकी के दावेदार हो जाएँगे? रहतवा जानते हो? रोटियों पर चाकरी करने वाला।"

गोमा ने अपनी नरम हथेली से किड्डा का हाथ थाम लिया। मुलायम उँगलियों से सहलाती रही।

ताज्जुब कि गोमा हँस रही है। अचरज कि गोमा मुसकराती ही। उसके बाँके होंठ किड्डा की इकलौती आँख में मटर के बैंगनी-गुलाबी फूलों की तरह खिले हैं। पलक कैसे झपकाए वह? फूलों की पाँखुरी मुरझाएँ नहीं। किड्डा का कड़ियल रुख धुनी रूई से भी ज्यादा कोमल हो गया।

दो जुमलों में ढेर है वह। गोमा के बोल-झरते हुए मोती।

वह रूपमती ही नहीं, बुद्धिमती भी है। सियाराम भगत परम ज्ञानी ठहरे। तिरिया की सच्ची परख जानते हैं। जो स्त्री अपने पति को माता की तरह भोजन परोसकर खिलाए, विपत आने पर मंत्री की तरह सलाह दे, सेज पर रंभा परी अप्सरा के समान व्यौहार करे, वह सच्ची पतिव्रता नारी है। गोमा सब गुणों की खान है। किड्डा परम मूढ़ ठहरा। बात-बात पर अपनी प्राण-प्यारी सुकुमारी से उलझ बैठता है। ऐसे आदमियों को भगज्जी झाड़-झंखाड़ कहते हैं।

बलीसिंह बिसाहुली जा रहा है। उसकी ससुराल। एक अवा सुलगने लगा फिर से। अकेली आँख भस्म करना चाहती है गोमा हरजाई को। किड्डा ने मूँछों को दाएँ हाथ से इतनी जोर-जोर से बट डाला कि वे उखड़ने को हो आईं।

गोमा कैसे पहचान गई? किड्डा के रोम-रोम की जानकार है वह। उसने चटपट गोद का बालक खाट पर खेस बिछाकर लिटा दिया। उसके ऐन आगे आ खड़ी हुई। रौस पर जहाँ वह सोच में डूबा बैठा था, दोनों पाँवों के बल। मूँछों को तोड़ता-मरोड़ता....।

"बोझ बहौत है। तुम लादकर ले जाओगे? फिर दाऊजी के बस की है खेती की देखभाल? खेती-किसानी हरएक कर ले तो फिर क्या नहीं? बम्बा में से

परेहट कर ली इनने तो। धरती मइया भी पहचानती है अपने पूतों को। दाऊजी कमा पाए अपने खेतों से दस मन का बीघा! फिर सौ बातों की एक बात, तुम चले जाओंगे तो मैं अकेली रह जाऊँगी।"

किड्डा ने सिर नहीं उठाया ऊपर। आग होती तो गोमा की बातों के ठंडे जल से बुझ जाती। धुएँ को कोई नहीं बुझा पाया। कहने को वह ठीक ही कह रही है, मीठे के संग पंद्रह सेर चावल हैं। बलीसिंह लाद ले जाएगा। मन समझाना कठिन नहीं, पर मन माने तब न।

ईंट के मारे आज खोपड़ी न फोड़ दी साले की तो मेरा नाम किड्डा नहीं। सालिगराम से जायंदा नहीं। असल जाट का बेटा नहीं। बापू की लठिया से ही टाँगें। झाड़ दूँगा, चल बेटा! बाहर निकल तो सही।

अंधड़-तूफान में गोमा बरखा की धार! रिमझिम बरस उठी। बालक धर दिया किड्डा की गोद में, "साँची कहती हूँ, तुम्हारे बिना यह बहलने वाला नहीं। रोएगा। माँदी जो जाएगा, भँवर के बापू! तुम सुन रहे हो या नहीं?"

भँवर के बापू! गोमा कह रही हे, भँवर के बापू! किड्डा का सिर एक पल को चक्कर खा गया। छाती के भीतर मीठी चाशनी बहने लगी। मटर-मटर देख रहा है। काला रंग-रामचंद्र जी की छवि। सियाराम भगत कहते हैं-गोरे नंद, जसोदा गोरी, मनमोहन थे श्याम। किड्डा के हाथ में आई ईंट, लठिया न जाने कहाँ विरमा गई?

बलीसिंह नल के नीचे नहा रहा है गोमा ने लाज मारकर हत्था चला दिया। साबुन लगे काले बदन पर पानी का धार बही। किड्डा की भीतर लपटों ने जोर पकड़ा। गोमा ने खोया औटा, पेड़े बनाए, तिल चामरी और गोला बाँधा। इन अनेक कलापों के चलते वह बालक को पकड़े रहा, खिलाता रहा।

बलीसिंह ने नई फाइन की धोती पहनी है, टैरीकॉट का कुर्ता-सफेद झक्क। ऊपर के काली सदरी। जुल्फों में तेल-खसबोई उड़ रही है।

गोमा के बनाए हुए क्रोशिया के रंग-बिरंगे झोला में सामान धर रहा है।

"मजूर सड़क तक धर आएगा दाऊजी, सड़क से सूधे इक्का में।" गोमा कह रही है। पहले-पहले गोमा को बलीसिंह से बोलते देखा था तब कितना पीटा था उसे। नील पड़ गए थे गोरी देह पर। चाची ने समझाया था - कढ़ी खाए, यह मर गई तो जन्म-भर बैठे रहना रँडुआ। फिर नहीं होने धरेजे।

बलीसिंह को जाते देखता रहा। बालक चुपचाप खाट पर लिटा दिया।

गोमा को आवाज मारी - "बलवान को ले आओ, दूध पिला दो।"

किड्डा का दिल काठ का भी बना होता तो राख हो जाता। पर सात पर्दों के पार मांस-खून का बना दिल केवल धुँधुआता है। सुलगता है। तड़पता है।

कलेऊ नहीं किया। नहाया-धोया नहीं। सूरज देवता नहीं ढारे।

बालक रो रहा है।

किड्डा के जबड़े कस गए - साला बलिया की औलाद! लेंडिया।

वह उठा झटके से। अपनी साइकिल उठा ली और तेजी से घर से निकल आया। चल दिया, न जाने कहाँ ? कहाँ भी.....

इगलास के हाथरस चौराहे पर खिच्चो की चक्की है। किड्डा सदा अपनी साइकिल यहीं रखता है। भीतर से साइकिल टिकाकर पानी पीने चल दिया।

पीछे से बोल मारा किसी ने -"ओ किड्डासिंह! मेहमान! अरे सुनो तो लल्लू!"

मुड़कर देखा-बिसाहुली का नाई। ससुराल का आदमी। हड़बड़ाया हुआ भागता-सा चला आ रहा है बूढ़ा।

पास आ गया। कंधे पर पिछौरा डाले हाँफ रहा है।

"लल्लू! किड्डासिंह! अरे, तुम्हें क्या हो गया मेहमान? पहचान में नहीं आ रहे? चेहरा काला स्याह......"

"मैं तुम्हारे गाँव ही जा रहा था। भले मिल गए यहाँ।"

"बात क्या है नाऊ ठाकुर?"

"अजी बात क्या? बड़ा बनउआ है भेंचो...."

किड्ढा अपनी मूँछों मरोड़ने लगा।

"तुम्हारे गाँव के को आए हमारे यहाँ, जानते हो?"

"बलीसिंह? बलीसिंह ही आया होगा।" किड्ढा उत्तेजित-सा हो गया।

"उनकी तो हालियत खराब है।"

"बीमारी-हारी हो गया?"

"अजी नाँय। बड़ी मार मारी है तिहारे सालों ने।"

"मार?"

"अजी हाड़-पसुरियाँ चूरन कर दीनी।"

"बलीसिंह की मारपीट।"

"बलीसिंह हो चाहे ध्यानदास। बड़ी कुदिसा करी है। चलो, तुम देख लो, मेरे छोरा की दुकान में पड़े हैं।"

"बेबात ही मारेंगे?" किड्ढा का अविश्वास कम न हुआ।

"बात तो कछू जरूर होगी। बड़े जहरा रहे तुम्हारे ससुरारिया। हमे तो यों कहते हैं कि भइयादौज तुम ही दे जाते। एक दिना में खेती कितनी बिगर-तुगर जाती?"

किड्ढा कहे तो क्या कहे?

"जि समझ लो कि जो प्रधान बीच-बिचाव न करें तो लहास हो जातीं। वे दोऊ भइया तो ऐसे फैले कि पूछो मत कुछ। लठिया, जूता जो कुछ हाथ पड़ा - धमाधम। लात-घूँसा तड़ातड़, लगै चाँद में, लगै पीठ में, पाँयन में। एक ही बात बोले-बता, तू हमारा जीजा है? बहनोई है? ला, हम खबाबें तुझे मेहमानी। ला, हम दें तुझे विदा। ले, जूता खा। ले, डंडा खा। ले, घूँसा खा। ससुर जी, अब आना अगली बेर।"

"ऐसा क्या खता बन गई, किड्ढासिंह? तुम्हें तो मालुम होगी।"

किड्ढा के मन की दशा न पूछो।

उठते ज्वार की लहरें समतल हो गईं। लपटें बुझने लगीं। सब कुछ शांत, चुप। उसने आँखें मूँद लीं। गहरी-गहरी साँसें लेने लगा। सियारा भगत, तुम सोलह आना साँचे। रावण मरता है एक न एक दिन। बलिया, तू सड़-सड़कर मरेगा। बुला ले उस ठगिनी को। बचा ले अब आकर। खिला रही है तेरा कुँवर।

मन में आया, कह दे-गोमा को लिवा लाओ नाऊ ठाकुर। देख जाए।

नाई बोला, "तुम क्या सोच-विचार रहे हो लल्लू? जादा टैम नहीं है। बेगि चलो। माथा फूट गया है। खून बह रहा है।"

"मर जाएगा साँझ तक। मैं नहीं जाता।" किड्ढा कहना चाहता था।

....मगर उसके पाँव उठ गए अपनी साइकिल की ओर। पैदल चलता रहा साइकिल लेकर। फिर बोला, "देर होगी ऐसे तो। नाऊ ठाकुर, तुम कैरियल पर बैठ जाओ।"

बलीसिंह मुर्दे की तरह पड़ा है खाट पर। बिछौना खून में तर है।

किड्ढा का दिल दहल गया। स्याह रंग पर लाल खून। माथा घावों से भरा हुआ। मुँह में फावड़ा मारा है क्या? उसका हाथ बलीसिंह के सिर पर जा पहुँचा।

बलीसिंह ने अपनी सूजी हुई आँखें कठिनाई से खोलीं। किड्ढा को देखकर होंठ हिले, पर बोली नहीं निकली। खून की पपड़ी पड़ी है होंठों पर।

"मर जा साले। तू इसी लायक है। भोग अपनी करनी।" उसके मन में अनेक बातें हाहाकर कर उठीं।

नाई बोला, "किड्ढासिंह, मल्लिम-पट्टी करा लेते डाकधर से। पर मेरा छोरा कह रहा था, पुलिस केस हो जाएगा। अस्पताल में मत जाना। नातेदारी वाली बात है, दुसमनी हो जाएगी। सो मेहमान, तुम जल्दी करो। ले जाओ इन्हें।"

"इसे सड़ने दो, थाने में चाहे अस्पताल में। मैं नहीं ले जाऊँगा। चील-गिद्धों के आगे डाल देना चाहिए।" कहना चाहता था वह।

....मगर उसकी आँखों के सामने गोमा! देख ही है चौखट पर खड़ी-खड़ी। बलीसिंह लौटेगा। पीहर की राजी-खुशी देगा।

यहाँ से लौटकर क्या कहूँगा मैं? मैं क्या जानूँ? क्यों पूछेगी मुझसे? और यह नाई! गोमा के पीहर का आदमी! कहेगा, कैसा मनिख है किड्ढासिंह ? अपने सालों से ज्यादा कसाई!

नाई बोला, "देर मत करो अब एक पल की भी। तुम्हारा छोटा साला सिरफिरा है। जब से मलेटरी में भरती हुआ है, बंदूक-पिस्तौल छोड़ दूसरी बात नहीं करता। मुझे डर है, आ न रहा हो। जो साँस चल रही हे उसे भी निकालकर धर जाएगा।"

एक बार को लगा कि छोटा साला ही आ जाए। कर दे किस्सा खतम।

"अजी तुम असमंजस में डूबे खड़े हो!"

किड्ढा अपनी साइकिल लेकर आगे बढ़ा। ठीक है, बैठा ले जाता हूँ। गैल तो सूनी है। बड़े-बड़े घने मूँज के झुंड हैं। पटक दूँगा उनके बीच। मर-खप जाएगा। किसी को पता न चलेगा। गोमा को भी नहीं।

नाई ने किड्ढा से संग मिलकर बलीसिंह को साइकिल के कैरियर पर लाद दिया। दोनों हाथों से सीट के नीचे की स्प्रिंग पकड़वा दी।

किड्ढा क्या करे? साइकिल पर सवार होकर चल दिया।

बलीसिंह को धीरे-धीरे होश आ रहा है। जोर से कराहने लगा।

तनिक दूर और! थोड़ी दूर और!

दगरा आया ही चाहता है। फिर कहाँ रहेगा होश-हवास.....

रेत-भर दगरा। मूँजों के झुंड... गोमा प्रकट हो पड़ी। साइकिल के आगे-आगे चल रही है। पीछे मुड़-मुड़कर देख रही है -तिरछे होंठ करके हँसती हुई....

किड्ढा पलक झपकना भूल गया।

पतेल की तीन-चार पत्तियों के बारी-बारी चीर दी किड्ढा कि बाँह।

गोमा के सामने ही डाल दूँगा कि ले, आ गए तेरे प्यारे मीठे दाऊजी। सेंकती रह धरके। लगा हल्दी-चूना। टहल पर। बलीसिंह दाऊजी की सेवा करने का बड़ा शौक था। हो गई इच्छा पूरन।

"अरे मरा रे। मराऽऽआ!"

"ज्यादा तकलीफ है रे? जी कड़ा करके बैठ।"

पता नहीं मन की आग क्यों बुझाती नहीं..... अब चूका तो इस राक्षस के फंदे में ही बीतेगा पूरा जनम। सियाराम भगत जी कहते हैं- राक्षसों का संहार करना सबसे बड़ा धरम है। सो लाला बलीसिंह, तू हो जा तैयार।

गोमा हँसती है तो उसकी आँखें चमकती हैं। ये बलीसिंह दाऊजी.... मैं कहती थी न, इस धरती पर तुम जैसा पुरिख.....

किड्ढा का ध्यान अचानक बदला। इस गैल के मूँज-पतेल तो अच्छे-भले आदमी की देह छीलकर धर दें- उस्तरा की तरह.... बेचारे के घाव पर घाव! उसने हैंडिल पर लटके झोले में रखी चादर पर निगाह डाली।

उतरकर उढ़ाने लगा। पर बलीसिंह अपना वजन नहीं साध पा रहा। साइकिल गिरी पड़ रही है। उसने बलीसिंह की गर्दन पर दो थाप दीं- "अपने संग मुझे भी ले मर।"

बलीसिंह सीधा होने की कोशिश करते ही चिचिया पड़ा - "आय, हाऽऽ-आय...."

"आ रे रे रे! लग गई! ज्यादा लग गई?"

किड्ढा ने साइकिल बिलकुल धीमी कर ली। बहुत सध-सधकर चलाता हुआ बलीसिंह को मूँज के हर झुंड से बचाने लगा।

अंत में घर के आँगन तक उसे ऐसे ले आया, ज्यों भँवर को, नहीं-नहीं, नन्हें बलवानसिंह को गोमा की गोद तक ले आया हो......

(हंस, अगस्त 1995)

मैत्रेयी पुष्पा

मैत्रेयी पुष्पा ने देर से लिखना शुरू किया लेकिन देर आयद दुरूस्त आयद की तर्ज पर। 30 नवम्बर 1944 को उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले के सिकुर्रा गांव में जन्म हुआ। 1995 में पहली बार 'हंस' मे महत्वपूर्ण रूप से प्रकाशित हुईं और फिर पीछे मुडकर कभी नहीं देखा। गांव का अंदरूनी सच और खासकर गांव में महिलाओं की दारूण स्थिति पर इन्होंने खूब लिखा। मैत्रेयी के स्त्री पात्र हारते हुए नहीं, संघर्ष करते दिखे। मैत्रेयी ने सिर्फ कहानी और उपन्यास में पात्रों से ही संघर्ष नहीं करवाया बल्कि 'कस्तुरी कुण्डल बसै, और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' जैसी आत्मकथा लिखकर वे समाज के सामने खुद भी संघर्ष करती दिखीं। कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। चिन्हार, ललमनियां, गोमा हंसती है, पियरी का सपना (कहानी संग्रह) बेतवा बहती रही, इदन्नम, चाक, झूला नट, अल्मा कबूतरी, अगनपाखी, विजन, कही इसुरी फाग, त्रियाहठ (उपन्यास) खुली खिड़कियां, सुनो मालिक सुनो (स्त्री विमर्श संबंधी पुस्तकें) के अतिरिक्त 'फाइटर की डायरी' उनका बहुचर्चित कथा रिपोर्ताज है। कथाक्रम सम्मान, कथा पुरस्कार, प्रेमचन्द सम्मान, साहित्यकार सम्मान, सुधा साहित्य सम्मान और सार्क लिटरेरी अवार्ड सहित कई अन्य पुरस्कार प्राप्त कर चुकी हैं।

सम्पर्क :- 104, महागुण मोर्फियस, सेक्टर - 50
नोएडा, उत्तर प्रदेश
मो. - 9910412680

टोपी

संजय सहाय

उस दिन जब वह अपने घर से मोती मिस्त्री के गराज की तरफ चला, तो उसे इस बात का अंदेशा भी नहीं हो सकता था कि दिन उसके साथ क्या खेल कर गुजरेगा, वैसे भी, साईत निकालना और भाग्य बांचना पोथी-पतरा वाले पंडी जी का काम है, जो इन दिनों सिर्फ पदाकांक्षी नेताओं के घरों में यज्ञ कराते-मंत्र फूंकते नजर आते हैं, फिर रमई जैसी आम जिंदगी में सामान्यतः अप्राकृतिक उछाल की कोई गुंजाइश भी नहीं होती है।

समय तो उसका लगातार ढीला ही चल रहा था। सबसे पहले तो कत्था कंपनी की साल भर की ड्राइवरी से अचानक जवाब मिल गया था। चोरी की 'खैर' पर कारखाना चलता था और कत्थे की चोरी पर कामगारों का खर्चा-पानी..... कि वन विभाग में एक बनमानुस टाइप का अफसर आ गया। इधर चारी की 'खैर' कटनी कम हुई, उधर कंपनी ने छंटनी का नोटिस साट दिया, और बीस कामगारों के साथ रमई भी गेट के बाहर था। हां यूनियन की दया से रिट्रेंचमेंट-बेनिफिट के नाम पर एक वर्दी जरूर मिल गई थी। बुझा-बुझा सा घर लौटा था और ओसारे में पसर गया था।

"डिलेभरी (ड्राइवरी) से लेकर बिछौना तक, सब काम में कंडम!" रमई की कटकटाहिन औरत ने दोहरे दांत गड़ाए थे। छंटनी की खबर पछिया-सी झोंक मारती पहले ही पहुंच गई थी... "हमारे मामू दारू चुआते है... डी.एस.पी. से

पूरा जान-पहचान है... सुनते हैं, सिपाही में बहाली चल रहा है... नहीं बुझाया? ई कइसन लबड़धोंधो से किस्मत जुड़ा है रे भगवान।"

रमई का पैर रोड़े में लटपटा गया। औरत की तीखी आवाज रह-रह कर कानों में भीतर तक 'किस्सऽऽऽ' से गूंज जाती थी।

मामा जी इलाके के पुराने लतखोर हुआ करते थे। दारू का धंधा चालू करने के बाद से कैसे तो थोड़ी प्रतिष्ठा भी पाने लगे थे। उसके साथ रमई ने डी.एस. पी. साहेब के न जाने कितने चक्कर काटे डी.एस.पी. साहेब अच्छा तरह जानते थे कि मसला उनकी औकात के बाहर का है, पर शिकार खुद चलकर आए, तो उसे छोड़ना परम मूर्खता ही नहीं, बल्कि पाप भी कहलाएगा। उन्होंने रमई के चेहरे पर उड़ती नजर डाली, मामा जी से आंखों में कुछ बात की, फिर खंखार कर गला साफ किया, "सलामी का धर लो पांच हजार और फाइनल बहाली, अगर जो हुआ, तो दस हजार का फीस.... कुल पंद्रह का खर्चा है।" डी.एस. पी. साहेब नाप-तौलकर बोले थे।

"पंद्रह हजार!" रमई के हाथ-पैर फूल गए थे, "उसमें भी पहला पांच हजार को कोई गरेंटी नहीं?"

"गरेंटी खोजता है? तुम्हारे लाईफ का गरेंटी है रे, चूतिया का नाती?"

मामा जी ने उसे गुरेड़ कर देखा था और रमई हताश वापस घर लौट आया था। ऊपर से दुर्भाग्य यह कि न जाने कैसे, परिजनों में चर्चा तेजी से फैल गई थी कि पुलिस में रमई की बहाली तय हो गई है और रमई ही क्यों, कोई भी नौजवान चाहे, तो इस अवसर का लाभ उठा सकता है मात्र पांच हजार का जोखिम है। निसंदेह यह मामा जी की कलाकारी थी। तब से लोगों की बेबात की 'पूछताछ' पीछे के अंग-विशेष में मिर्चाई सरीखी लहर जाती थी। इसलिए रमई सबसे कटा-कटा-सा रहने लगा था। कोई काम नहीं था, सो पुराने यार मोती मिस्त्री के मोटर गराज में दिन गुजरता था। स्वभाव में मेहनती, अक्सर रिंच-पेचकस भी उठा लेता था, चाय-नमकीन के बदले में।

एक सड़ी-गली-सी मोटर, काला धुआं और किरकिराती गर्द उड़ाकर चली गई। खांसते हुए रमई ने मोटर को अपनी आवाज के दायरे से बाहर जाने दिया। फिर दबी जुबान से गाली बकी और आहिस्ता से कपड़ों को झाड़ा। वर्दी टेरीकॉट की थी और सुबह की धूप में चमक रही थी। दैव-इच्छा से दर्जी ने नाप अच्छा काट दिया था। क्रीज भी तलवार की धार-सी था। कंधो पर कत्था-कंपनी का बल्ला भी था.... बस, फटे-पुराने चमरौंधे जूते जरा बेमेल-से थे। वैसे, जो भी था, रमई पर सब फब रहा था। देखने में गोरा, लंबा और आंखें भी हल्की नीली भूरी-सी आईने में देखता था, तो अच्छा लगता था, पर सारे गोतिया बचपन से चिढ़ाते रहे हैं उसे... "कऊसअंक्खा कहीं का - दोगला साला।"

रमई ने लंबी सांस खींची... पैरों में कुछ गड़ा... रमई ने उखड़े तल्ले की कील ठीक से फंसाई और घिसे जूते फटफटाता बाजार से छोर पर स्थित मोती के गराज की तरफ बढ़ गया।

बाजार क्या, छोटा-मोटा कस्बा ही है, शहर से बीस मील दूर, स्टेट हाईवे को दोनों तरफ से जकड़ता हुआ। कुछ साल पहले तक दस-पंद्रह दुकानें थी। ट्रैफिक भी इतना मामूली कि लोग सड़क पर ही खटिया डाल लेते थे। कीचड़-कादो के ऊपर ऐसी पक्की चिकनी जगह और कहां मिलती? अब तो सड़क के किनारे का कच्चा फुटपाथ या शौच-पट्टिका, जो भी कह लें, भी ईंट-गारे के जंजाल से सिकुड़ती जा रही है। लोगों को नित्य-क्रियाओं के लिए लंबा बाजार पार करना पड़ता है। रमई का घर नीचे है। बरसात छोड़ उसे चिंता नहीं रहती।

कस्बा बना, तो रंगदार भी पैदा हो गए। ललन... झुन्ना...बब्बन...बालो. ...फेहरिस्त लंबी है.... बचपन से ही बालो से डर लगता है उसे बाप की छोटी-सी परचून की दुकान से रंगदारी वसूलता बालो हर रात नशे में धुत्त आता था और जान-बूझकर नन्हे से रमई के आगे उसके बाप को बेइज्जत करता था। कभी-कभी मां-बहन की गालियां, तो कभी लप्पड़-थप्पड़। शुरू में बाप की हालत देख रमई रोने लगता था... धीरे-धीरे आदत पड़ गई।

आज के वक्त में बब्बन सत्ता-संघर्ष में देह त्याग चुका है, झुन्ना महीनों से फरार है, ललन अनेक सहधर्मियों की तरह विधायक बनकर शहर में रहता है, बड़े दायरे में खेलता है, लेकिन बालो का टैक्स बरकरार है.....।

मोती के टुटही गराज में बैठा वह फटे-चिंदिआए कोकशास्त्र के पन्ने पलट रहा था कि देखा, कुछ लोग बड़ी मशक्कत से एक जीप को ठेलते हुए ला रहे है। स्टीयरिंग व्हील पर डी.एस.पी. साहेब पदासीन थे और मामा जी 'जोर लगा के हईसा' का नाद कर रहे थे। रमई ने पुस्तक रख दी और मोती के साथ बाहर निकल आया।

"हजूर नगीच के गांव में मौज मारने आए थे... अकेले। जीपवा बिगड़ गया है," मामा जी रमई से फुसफुसाए, "सटने का बढ़िया मौका है... कुछ-न-कुछ फायदा जरूर मिलेगा....का समझे?" रमई बकलोल के जैसा ताकता रहा। मामा जी ने किचकिचा कर देखा। रमई ने चट से बोनट उठाया, मोती ने जीप के कल-पुर्जों को टटोलना शुरू किया, मामा जी चाय-पानी की व्यवस्था में लगे और डी.सी.पी. साहेब गई रात के कच्चे अंदाज पर गुनगुनाते रहे, "कम-से-कम एक मर्तबा और आना ही पड़ेगा... नहीं, नहीं.. सिर्फ एक मर्तबा क्यों?... अब एक बार से कौंची होगा जी..."

"डाइनामो बिगड़ गया है।" मोती की आवाज तैरती हुई आई।

"वही कहें कि साला सवेरे से 'ठेलको' काहे हो रहा है..."

"थोड़ा टाईम दीजिए हजूर, तो ऐसा बना देंगे कि सहर (शहर) में कोई का बनाएगा।" मोती मिस्त्री सीना फुलाते हुए बोला।

"जीपवा पीछे से भेजवा देंगे हजूर, जरीको चिंता मत कीजिए... बहुत बढ़िया चलाता है।" मामा जी ने रमई का कंधा पकड़ते हुए कहा। डी.एस.पी. साहेब के चेहरे से शिकन मिट गई।

"ठीक है, बढ़िया से बनवा-चमका कर डेरा पर लेते आओ," उन्होंने रमई को ऑर्डर दिया और राहजनी के अंदाज में गुजरती गाड़ी को छेंक कर लिफ्ट ले ली। मामा जी भी हिदायतें देकर विदा हो लिये।

रमई ने ताजे धुले कपड़े धीरे-से उतार कर रख दिए और कच्छे-बनियान में ही जीप की सफाई में लग गया। जीप के एक-एक हिस्से को ऊपर से नीचे तक धोया, पाईप नहीं था। चांपा कल से पानी भर कर लाता था। दो घंटे तक वह जीप को मांजता रहा। बोनट खोलकर तेल से सफाई की, फिर भीतरी हिस्से की झड़ाई-पोंछाई- उसके बाद सामने का शीशे पर अखबारी कागज से रगड़ाई। आधे घंटे में मटमैला शीशा बिल्लौर-सा चमकने लगा था। जीप सुखा कर वह पॉलिश में लगा। मोमीया पॉलिश को उसने हरी जीप पर फैलाया, सूखे कपड़े से आहिस्ता-आहिस्ता रगड़ा, फिर सख्ती से अंत में पीतल से हिस्सों पर ब्रासो का इस्तेमाल।

उसने गर्व से देखा। पूरी जीप विज्ञापन-सी चमक रही थी।

मोती भी डाइनामों 'सेट' कर संतुष्ट हो चला था। फिट करते-करते छः बज गए। रमई ने हाथ-मुंह धोकर कपड़े पहले, चादर ओढ़ी, जीप पर फिर कपड़ा मारा और ठेलवा कर चीप स्टार्ट की मोती के गराज से शहर उलटी तरफ पड़ता है। बाजार पार करने में जो वक्त लगे, शहर पहुंचने में ज्यादा से ज्यादा पौन घंटा।

सांझ हो चली थी, पर सूरज की अंतिम छटा तक जीप को नए तेवर दे रही थी। बीच बाजार पहुंचते-पहुंचते उसे कानों में ठंड लगने लगी। हवा में सिहरन थी। उसने चादर से सिर ढकने की कोशिश की। छोटी-सी शाल थी। जिधर से भी लपेटता, सर खुला ही रह जाता था। उसने बगल वाली सीट पर नजर दौड़ाई...एक पी कैप (अफसरी टोपी) पड़ी थी उसने टोपी पहन ली और भीड़ देखकर एक्सीलेटर धीमे किया।

अचानक कुछ हुआ- एक अटपटी-सी हरकत... चौराहे के सिपाही ने जोर से सैल्यूट मारा और पहले से सिग्नल दिए रिक्शे वाले को लपड़ियाते हुए चिल्लाया, "अंधरा साला, देखता नहीं है रे... भोंसड़ी वाला।"

रमई की अचरजभरी निगाहें पीछे देखने वाले शीशे पर पड़ी... टोपी डी.एस.पी. की थी और उसके रंग-रूप पर खिल रही थी... और तब उसे पहली बार बोध हुआ कि कमबख्त कत्था कंपनी की वर्दी भी खाकी रंग की थी। जूते का उखड़ा तल्ला नीचे छिपा हुआ था, कंधों के बिल्ले को ढकती चादर थी, जीप भी सरकारी और सर पर टोपी थी। अजीब-सी सनसनाहट का एहसास हुआ, जैसे रक्तचाप बढ़ गया हो, जैसे मुंह में पहले खून का स्वाद लगा हो.... उसने दो-तीन लंबी सांसें लीं और एक्सीलेटर दबाया। रास्ते में कई परिचितों को अचरज से मुंह फाड़ते देख उसे उस दैवी आनंद की अनुभूति हो रही थी, जो सिर्फ सफल प्रतिशोध में ही प्राप्त होता है। "मिजाज फट गया सरवन का... अब तो बप्पा का दुकान बेचवा कर भी पंद्रह हजार कर जुगाड़ करना है.... बस्स।" उसने निश्चय के साथ सोचा। फिर सबकों जैसे अनदेखा करता, निंरकुश सत्ता के रथ की तरह जीप उड़ाता, वह बढ़ता चला गया।

बाजार के अंतिम छोर पर बालो दिखाई पड़ा। उसके बाप की उमर का बालो अभी तक जवान है और रंगदारी टैक्स भरता उसका बाप कब का बूढ़ा हो चला है... उसने कड़वाहट के साथ सोचा। सांझ की भीड़-भाड़ में न चाहते हुए भी उसे जीप धीमी करनी पड़ी। नज़दीक पहुंचा, तो आदतन चेहरा छिपाने के लिए झुक-सा गया। बालो ने देख लिया, तो कौन-सी लहजुबान इस्तेमाल कर देगा, कहना मुश्किल है...

कतराकर निकल ही चुका था बालो की नजरें उससे टकरा गई। रमई घबरा गया। बालो का चेहरा चमका, एक कुटिल-सी मुस्कान उसके चेहरे पर तैर गई।

"अब कुछ बोलेगा...." रमई ने अपने को तैयार किया।

आश्चर्य! घोर आश्चर्य!! अचानक बालो की भंगिमा बदल गई।

"रमई बाबू, परनाम।" खींस निपोरते बालो बोला और समुद्र भर हिम्मत रमई में ठाठ मार गई।

"हँसता है रे? सार भकचोंधरा!! सीधे डंटा धांस देंगे..." उसका बरसों से जमा गुबार निकल गया। बढ़ती जीप से उसने आंखों के कोने से देखा-हाथ जोड़े बालो, स्तब्ध-सा खड़ा था।

रमई के दिल को ठंडक मिली। नए आत्मविश्वास से भरा हौलापन उसके भीतर उछाल लेने लगा। सब कुछ हल्का लग रहा था। पूरी दुनिया हल्की और आसान। जैसी बालो को लगती होगी या उससे बढ़कर ललन विधायक को लगती होगी। हरे-भरे मैदान सरीखी, जिधर से चाहिए, चरते चले जाइए।

रमई का बाप चिंता में पड़ा हुआ था, चमकती जीप पर टोपी पहने वह आदमी लगा कि रमई है, सिपाई में बहाली हो गया का? ससुरा आ के गोड़ नहीं छुआ। सब मेहरारू का जादू है... या फिर उसकी नजरों का धोखा था? कुर्ते के निचले हिस्से पर थूक लगाकर चश्मा रगड़ते हुए वह घर चला, "बहू से पूछते हैं...."

"रूपईय्या जुगाड़ कर लिए कि हमसे पूछते हैं? हमारे मामू को जो करना था, करवा दिए, बाकी इहां बेटा का मोह हो, तब ना.... सब अपने सरीर धंसा लेना है" ...बहू की तड़तड़ाती गोली बारी के आगे बातचीत निरर्थक थी। थरथराते से वापस बाजार लौटे और अपने चार बित्ता के खोखे में बैठ गए।

हर रोज की तरह बालो पहुंचा...."आ गया रंगदारी तहसीलने... और नमकीन का पैकेट भी" रमई के बाप ने गल्ला खोला।

"नाः नाः आज हमरे तरफ से मुंह मीठा रमई जी को देखा... बहाली हो गया है ना... हें हें... बहनचो, बतलाए नहीं..." बालो लड्डू का ठोंगा देकर बढ़ गया।

रमई का बाप मुंह बाए देखता रहा।

शहर यहां से मुश्किल से दस मिनट! अचानक रफ्तार में विघ्न पड़ा।

ऑटो वाले ने जब तक देखा नहीं था, रेस लड़ाने में मूड में था। देखने पर घबरा गया। हड़बड़ाहट में पास देते वक्त उसका अगला हिस्सा रमई के पिछले फेंडर से सट गया।

"रूक साला, रूक" टोपी चिल्लाई, ऑटो वाला चुपचाप खड़ा हो गया। रमई ने कूद कर बंपर देखा। कुछ भी नहीं हुआ था, फिर भी रमई उबलता रहा। उसने कसकर तीन-चार झापड़ मारे और खोज-खोज कर गालियां दी, मजबूत जबड़ों से खुद के हाथों को चोट लग रही थी, पर स्थिर रूआंसे चेहरे पर वह निर्ममता से निशाना साधता रहा, मानो बालो की आत्मा उस पर सवार हो गई हो। टोपी का जादू सर चढ़ कर बोल रहा था।

अंत में रमई ने पांच सौ जुर्माना ठोका और थाने में बंद करने की धमकी दी, ऑटो वाले के कांपते हाथों से कुल जमा तीन सौ निकाले और रमई का पैर धर लिया। मामला फरिआया। अब बैटरी पूरी तरह चार्ज हो गई थी। डाइनामों अच्छा काम कर रहा था। जीप एक बार में ही ही घुर्रऽऽ से स्टार्ट हो गई। खेल में रोमांच बढ़ता जा रहा था। तरह-तरह की योजनाएं अंकुरा रही थी। उसने सलीके से टोपी 'एडजस्ट' की और दूरस्थ कुहराई शहरी रोशनियों की तरफ बढ़ गया।

रमई के बाप के पास परिचितों की जमात लगाने लगी। सब रमई के बारे में जानना चाहते थे।

"का बताएं... ठीक-ठीक नहीं कह सकते..."

"अरे सार, छुपाते का हो... ई तो डंका पर बोलने का चीज है।"

"देखे, एकदम हैट पहने हुए था।"

"दुर्र ससुर, हैट तो सीनियर अफसर पहनता है।"

"नहीं भाई-हैटे था तब।"

"अब कह दो कि एस.पी ये में बहाली हो गया है... बुड़बक कहीं का!!. .." किसी ने जलन के साथ कहा।

देखा तो रमई के बाप ने भी हैट ही था, पर संकोच में इतना ही बोला, "का हैट-कैट के फेरा मे पड़ल हो तू लोग-अरे, सीधे टोपी कहो न।"

बालो के दिए लड्डू बांट कर वह रमई की बाट जोहने लगा।

रमई शहर में घुस गया। डी.एस.पी. साहेब का डेरा दूसरे छोर पर था। रमई को लगा, जैसे पहली बार शहर देख रहा है। एक से एक आईटम दुकानों में दिख थे। टोपी में लिपटा माथा सुरसुराया। आंखों में गिद्ध उड़ने लगे।

"औरते भी चिढ़चिढ़ाई रहती है... छूने ही नहीं देती है... कुछ सौगात ले चलें, तो सायद काम बन जाए..."

उसने जीप रोक दी।

बीस-पच्चीस रूपए की टिकुली-चूड़ियां तो मुफ्त में ही मिल गई। छोटा दुकानदार एक डांट में ही सीधा हो गया था। छिटपुट चीजें तहसील कर रमई, साड़ियां छांटता रहा। अंत मे तीन सौ की एक साड़ी पसंद आई-चटक लाल और भदेस-सी।

"पहन कर दुलहन लगेगी साली," उसने सोचा। "दाम कितना दिया जाए?" उसने दुकानदार को तौला।

"सौ रूपया लगाओ-चीन्हते नहीं हो का?" रमई का साहस बढ़ता जा रहा था।

"मेम साहब से पसंद करवा लीजिए, तब न दाम तो लगता रहेगा", दुकान वाला संकोच के साथ बोला।

'मेम साहब!! उसकी औरत को मेम साहब कहा जा रहा है।' रमई का सीना

गज भर फैला गया... 'सब इसी का कमाल है,' कसती हुई वर्दी के पीछे से उसने सोचा।

"आदमी भेज देते हैं, डेरा पर ही पसंद करवा लेगा," दुकान वाले ने जोड़ा।

"काहे? आदमी काहे भेजोगे... सार, हम पर बिस्वास नहीं है का? सीधे भीतर चल जाओगे..." रमई गुस्से में बोला।

"माफी सरकार... हुजूर तो बुरा मान गए..." दुकान वाले की नजर रमई के पैर पर पड़ी।

"नक्सलाईट सब को खदेरते-खदेरते जूतवे फट जाता है..." रमई भांपते हुए बोला।

"कॉफी पिलाओ," गर्मी-सी लग रही थी। रमई ने कंधों की चादर समेटते हुए कहा। दुकानदार ने गौर से देखा।

लगा कि भाव कुछ ज्यादा ही पड़ गया। कॉफी के पहले समोसे भी आ गए और खीरमोहन भी।

"अब तनी जल्दी से बिलवा बना दीजिए - एक सौ में फाईनल कीजिए।"

"बस, जरा कॉफी हो जाए सरकार!" दुकान वाला कुछ ज्यादा ही शहद घोलते हुए बोला। रमई, टोपी की अंगुली पर नाचते हुए मुस्कराया।

रात के दस बज चुके थे, रमई का बाप ऊहापोह मे फंसा, दुकान पर ही बैठा हुआ था कि किसी ने आ कर बतलाया, "बड़ा मुकुट चढ़ा कर निकले थे. .. चार सौ बीसी में धरा गया है..."

उधर साड़ी वाला अपने मुनीम से कह रहा था, "कच्चा था बेचारा, सौ रूपया देने के लिए जो बोला... हमको तो उसी समय डाऊट हो गया था।"

जब से टोपी उतर गई थी, रमई का माथा सुन्न पड़ गया था। जुबान को

भी जैसे लकवा मार गया था। इतनी देर तक पिटाई होती रही, पर मुंह से 'उफ्' तक नहीं निकला। ठंड की तीक्ष्णता और थप्पड़ों के दंश, उसे कुछ भी महसूस नहीं हो रहा था। यहां तक कि डी.एस.पी साहेब मारते-मारते बेदम हो गए, पर वह खोई हुई दृष्टि से बस, शून्य में ताकता रहा।

डी.एस.पी साहेब ने हांफते हुए धूल-धूसरित नंगी देह और अंगुलियां छपे चेहरे की तरफ हिकारत से देखा, "ढेर मन बढ़ गया था रे, हरमजादा कहीं का!" मेज पर रखी टोपी उठाते वह बोले।

"हमारा कोई दोस नहीं है, मालिक! सब इसी का है... इसी का।" और अचानक लोथ की तरह पड़ा रमई चित्कारा, "पहनते मिजाजे घूम गया था, सरकार... गर्मीया बरदास्ते नहीं हुआ... हजूर लोग कैसे कर लेते हैं रे बाप..."

संजय सहाय

बिहार के भोजपुर जनपद में 21 अक्टूबर 1958 को संजय सहाय का जन्म हुआ। निजी उद्योग के साथ-साथ संस्कृतिकर्मी संजय की कई कहानियां बहुत चर्चित रहीं। पहली ही कहानी 'शेषांत' पर 'पतंग' नामक फिल्म बनी। जिसे रजत कमल पुरस्कार हासिल हुआ। तदुपरान्त मध्यांतर, खेल, सुरंग, मुठभेड़, टोपी जैसी तमाम कहानियां चर्चा के केन्द्र में रहीं। 'टोपी' कहानी को कथा संस्था द्वारा वर्ष 1996-97 के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कहानी से नवाजा गया। कहानी के साथ-साथ नाटकों में भी गहरी रूचि। बिहार के गया में सांस्कृतिक केन्द्र 'रेनेशां' की स्थापना।

सम्पर्क :- 186, अनुग्रहपुरी, गया, बिहार - 823001

साज़-नासाज़

मनोज रूपड़ा

उस शाम मैं नरीमन प्वाइँट की उस फैंस पर लेटा था, जो कई किलोमीटर लंबी है और समुद्र तथा शहर को अपनी-अपनी सीमा को अहसास करवाती है। उस फैंस पर मेरे अलावा मेरे-जैसे कई और लोग भी बैठे थे। उनमें से कुछ लोग शहर की तरफ पीठ फेरकर बैठे थे और कुछ समुद्र की ओर, लेकिन मैंने दोनों पहलुओं पर टाँगें फैला रखी थीं और पीठ के बल लेटकर आसमान को देख रहा था। मेरी दाईं ओर समुद्री लहरों के थपेड़े थे और बाईं तरफ तेज़ रफ्तार से बहती मुम्बई।

मैं समुद्र और शहर से तटस्थ होकर मानसून के बादलों की धींगा-मस्ती देख रहा था और सोच रहा था कि काश, इस शहर में मेरा भी कोई दोस्त होता! मुम्बई आने से पहले मैंने अपने शहर में दोस्ती-यारी की एक बहुत जीवंत और सक्रिय हिस्सेदारीवाली जिंदगी गुज़ारी थी, और यहाँ-जिस्मों की इतनी लथपथ नजदीकियत के बावजूद कोई भी चीज़ मुझे छू नहीं पा रही थी।

मैं जब महानगरीय जीवन-शैली और अपनी कस्बाई जिंदगी के बीच कोई संतुलन बनाने की कोशिश कर रहा था, तभी मुझे सेक्सोफोन की आवाज़ सुनाई दी। सेक्सोफोन शुरू से मेरा सबसे प्रिय वाद्य रहा है। रेडियो या रिकॉर्डों पर सेक्सोफोन की धुनें सुनते हुए मुझे जिस भरे-पूरे आनंद का अहसास होता है, उसकी तुलना किसी भी तरह हार्दिक और शारीरिक मेल-मिलाप से की जा सकती है।

मैं तुरंत उठ बैठा जैसे मुझे दोस्त ने पुकारा हो। मैंने गर्दन फेरकर पीछे देखा। मुझसे थोड़ी दूर एक बूढ़ा सेक्सोफोनिस्ट समुद्र और डूबते सूरज को एक करुण धुन सुना रहा था। उसके कंधे पर एक चितकबरा कबूतर बैठा था। उसकी सफेद दाढ़ी और लंबे बालों की एक लटकती हुई लट पर सूरज की अंतिम सुनहरी किरणें पड़ रही थीं। उसके साज़ का गोल किनारा भी एक सुनहरे तारे की तरह टिमटिमा रहा था। यह दृश्य इतना सिनेमैटिक था कि मैं उसे देखता ही रह गया।

जो धुन वह बजा रहा था वह कुछ जानी-पहचानी-सी लग। स्मृति पर ज़ोर देने पर याद आया, वह पेटेटेक्स की धुन 'ब्लू सी एंड डार्क क्लाउड' बजा रहा था। पहले मुझे लगा यह बूढ़ा कोई विदेशी है, क्योंकि किसी देशी के हाथ और फेफड़े पर शहनाई और बाँसुरी के मामले में तो भरोसा किया जा सकता है, पर सेक्सोफोन पर ऐसी धुन तो कभी एक शक्तिशाली लहर की तरह उठती है और पत्थरों से पछाड़ खाकर दूधिया फेन में तब्दील हो जाती है, तो कभी बादलों की तरह घुमड़कर बरस पड़ती है; कोई भी भारतीय इतने साफ ढंग से बजा सकता है - इसमें मुझे संदेह था। यह सिर्फ बिटनिक लोगों के उन्मत्त और उद्दाम फेफड़ों के बूते की बात थी, जो किसी घराने के शास्त्रीय नियमों के दास नहीं होते।

मैं ज़रा और पास गया और मैंने देखा-उस बूढ़े के कपड़े और उसका शरीर खुद अपने प्रति की गई बेहरम लापरवाही से ग्रस्त और त्रस्त थे। उसकी हालत मानसिक रूप से विक्षिप्त किसी ऐसे लावारिस आदमी जैसी थी जो महीनों से नहाया न हो, जिसके सिर और दाढ़ी के बेतरतीब बाल आपस में चिपककर जटाओं में बदल जाते हैं, जिसके शरीर पर मैल की मोटी पर्तें जम जाती हैं और कपड़े इतने चिक्कट हो जाते हैं कि उसका असली रंग तक पहचान में नहीं आता।

मेरे अलावा अब कुछ और लोग भी वहाँ जमा हो गए। चूँकि वह कोई लोकप्रिय फिल्मी धुन नहीं बजा रहा था, इसलिए लोगों की दिलचस्पियाँ दूसरे

आकर्षणों की तरफ फिसल गईं। लोगों के आने-जाने और पल-दो-पल के लिए ठिठककर खड़े होने का यह क्रम काफी देर तक चलता रहा।

कुछ देर बाद हवा अचानक सपाटे से चलने लगी। फिर वह सपाटेदार हवा एक तूफान में बदल गई। उधर आसमान में मानसूनी बादलों का काला दल तेज़ी से आगे बढ़ा और इससे पहले कि कोई कुछ सोच पाता, मौसम की पहली बारिश ने मुम्बई के चेहरे पर एक तमाचा जड़ दिया। मैंने इतनी अचानक आक्रामक बारिश पहले कभी नहीं देखी थी, सिर्फ सुना था कि मुम्बई में बरसात किसी को माफ नहीं करती।

अगले ही पल लोग इधर-उधर भागने लगे, जैसे अचानक लाठी-चार्ज शुरू हो गया हो। मैं लोगों ही हड़बड़ाहट में शामिल नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ दूर-दूर तक न कोई शेड था, न सुरक्षित ठिकाना। इसलिए न तो भागने का कोई अर्थ था, न भीगने से बचने का कोई उपाय।

हवा और पानी के इस घमासान से हर चीज़ अस्त-व्यस्त हो गई, लेकिन वह बूढ़ा अभी तक उसी तन्मयता से सेक्सोफोन बजा रहा था। मौसम के इस बदले हुए मिज़ाज का उस पर कोई असर नहीं हुआ, सिर्फ धुन बदल गई। पहले वहाँ साहिल को सहलानेवाली छोटी-छोटी लहरें थीं, पर अब उसके फेफड़ों से अंधड़ उठ रहे थे, जैसे वह बाहर के तूफान का समाना अंदर के तूफान से कर रहा हो। जैसे-जैसे बारिश रौद्र रूप धारण कर रही थी, हवाएँ दहाड़ती हुई अपने चक्रवाती घेरे का विस्तार कर रही थीं और समुद की लहरें अपनी पूरी ऊँचाई, गति और ताकत से साथ नरीमन प्वाइँट से उस पथरीले किनारे को ध्वस्त कर देने के लिए बिफर रही थीं, वैसे-वैसे उस बूढ़े की धमनियों से उसकी निरंकुश और प्रतिघाती भावनाएँ खून को खौलाती हुई बाहर आ रही थीं। मुझे लगा, अगर यह तूफान कुछ देर और नहीं थमा, तो यहाँ खून-खराबे की नौबत आ सकती है।

और हुआ भी वही। हवा के एक तेज़ झपाटे के साथ एक बहुत ऊँची और

ख़ार खाई हुई लहर आई और पथरीले किनारे को रौंदती हुई सड़क पर चढ़ गई-पूरे मेरिन ड्राइव पर समुद्री पानी का झाग ददोरे की तरफ फैल गया। जब लहर वापस लौटी, तब मैंने देखा- वह बूढ़ा लहर की पछाड़ खाकर सड़क पर लुढ़क गया था। मैं तुरंत उसकी तरफ लपका। मैंने उसे उठाना चाहा, मगर उसका शरीर इतना श्लथ हो गया था कि उठाते नहीं बना।

और तब मैं भी वहीं सड़क पर बैठ गया। मैंने अपनी जांघ पर उसका शरीर खींच लिया। वह बहुत बुरी तरह हाँफ रहा था। मैंने उसके लंबे छितराए हुए बालों को उसके चेहरे से हटाया और ग़ौर से उसके चेहरे को देखा। वहाँ मुझे कुछ और नहीं, सिर्फ सूजन दिखाई दी- एक ऐसी सूजन, जो उन लोगों के चेहरों पर तब दिखाई देनी शुरू होती है जब वे अपने हर दुख और पीड़ा का इलाज शराब से करने लगते हैं।

मैं कुछ देर यूँ ही बैठा रहा। मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उसकी साँसें अभी तक तेज़ थीं और हर साँस के साथ शराब के भभाके उठ रहे थे। मैंने उसके गाल को थपथपाया। उसने आँखें नहीं खोलीं। मैंने उसके कंधे झँझोड़े, मगर कोई बात नहीं बनी। मैं यह सोचकर घबरा उठा कि कहीं वह मेरी बाहों में दम न तोड़ दे। मैंने इधर-उधर नज़रें दौड़ाईं। सड़क-छाप लोगों को पनाह मिलना मुश्किल था और सड़क पर टैक्सियों और कारों का कारवाँ इतनी तेज़ी से गुज़र रहा था कि मैं तो क्या, कोई ज़लज़ला भी उसे रोक नहीं सकता था।

मेरे पीछे समुद्र अभी तक पछाड़ें खा रहा था और ऊपर आसमान में बादलों की एक और टुकड़ी किसी बड़े आक्रमण की तैयारी के साथ आगे बढ़ रही थी, मगर मैं उस बूढ़े को बाहों में लिये चुपचाप बैठा रहा। मैंने एक बार फिर उसके चेहरे पर नज़र डाली और मुझे लगा यह चेहरा जवानी में बहुत सुंदर रहा होगा। उम्र, कठिन हालात और खराब आदतों ने हालाँकि उसके चेहरे का सौंदर्य छीन लिया था, लेकिन फिर भी वह अर्थपूर्ण था और अभी सृजनात्मकता से रिक्त नहीं हुआ था।

चार-पाँच मिनट की बेहोशी के बाद उसने आँखें खोलीं। कुछ देर तक झिपझिपाने के बाद उसकी आँखें मेरे चेहरे पर स्थिर हो गईं। उसकी पलकें खूब भारी थीं और आँखों के अन्दर मरण और क्षरण से लिपटी एक काली और अशुभ छाया साफ दिखाई दे रही थी। मेरे चेहरे पर के मित्र-भाव ने उसे राहत दी होगी, तभी तो वह मंद-मंद मुस्काया और अपना हाथ मेरे कंधे पर रखकर उठ बैठा। कुछ ही देर में वह इस तरह बातें करने लगा जैसे कुछ हुआ ही न हो। मुझे उम्मीद नहीं थी कि वह यूँ चुटकियों में सहज और सजग हो जाएगा।

आमतौर पर पहली मुलाकातों में लोग 'क्या करते हो?', 'कहाँ रहते हो?' या 'कहाँ के रहनेवाले हो?' जैसे औपचारिक सवाल करते हैं, लेकिन उसने कुछ अजीब सवाल लिए -"तुम्हें बारिश में भीगना अच्छा लगता है?"

-"तुम हवा से बात कर सकते हो?"

-"क्या तुम्हें शराब पीने के बाद अपने भीतर एक दुखभरी खुशी महसूस होती है?"

मैंने इन तमाम सवालों का जवाब 'हाँ' में दिया तो वह खुश हो गया।

"तब तो तुम्हें संगीत से भी लगाव होगा, है न?"

"हाँ।" मैंने कहा, "खासतौर से सेक्सोफोन मुझे बेहद पंसद है।"

"अरे वाह! तब तो अपनी खूब जमेगी।" उसने बड़ी गर्मजोशी से अपना दायाँ हाथ ऊपर उठाया और मेरी हथेली से टकराकर एक पुरज़ोर ताली बजाई।

"आप बहुत अच्छा बजाते हैं। भारत में भी इतने परफेक्ट सेक्सोफोन प्लेयर हैं यह मुझे मालूम नहीं था।"

अपनी तारीफ सुनकर खुश होने के बजाय उसने कड़वा-सा -मुंह बनाया और मेरी तरफ से ध्यान हटाकर गरजते-लरज़ते समुद्र को देखने लगा। बारिश की तेज़-रफ्तार बूँदें समुद्र के ठोस पानी से टकराकर धुआँ-धुआँ हो रही थीं।

उस धुँधुवाते पानी को वह कुछ देर तक यूँ ही देखता रहा। फिर कुछ सोचकर अचानक मेरी तरह मुँह फेरा, "सुनो, तुम्हारे पास कुछ रूपए हैं?"

मैं उसके इस अप्रत्याशित सवाल से ज़रा चौंका। अपनी जेब में हाथ डालते हुए मैंने सोचा-कहीं यह कोई मंतरबाज़ तो नहीं है? लेकिन जब मैंने देखा कि पैसा माँगते हुए उसके चेहरे पर किसी भी तरह की हीनता का बोध, कोई शर्म, झेंप या लालच नहीं है तो मैं थोड़ा आश्वस्त हुआ। मैंने जेब से पर्स निकालकर पूछा, "कितने रूपए चाहिएँ?" उसने मेरे हाथ से पर्स ले लिया- उतनी ही सहजता से, जैसे मेरे पुराने दोस्त मेरे हाथ से सिगरेट का पैकेट ले लेते थे। उसने पर्स खोलकर सौ-सौ के चार-पाँच नोट निकाल लिये और पर्स मेरे हाथ में थमाकर बिना कुछ कहे जाने लगा।

"सुनो....!" मैं उसके पीछे लपका।

उसने मुड़कर मुझे देखा।

"अगर जरूरत है तो और ले लो।" मैंने पर्स की तरफ इशारा करते हुए कहा, "लेकिन एक शर्त है - आज की शाम... और हो सके तो रात भी तुम्हें मेरे साथ गुज़ारनी पड़ेगी।"

"मैं कोई रंडी नहीं हूँ।"

उसने ये शब्द इतने कड़क लहजे में कह कि मैं सकपका गया। मैंने कहा, "नहीं -नहीं, दरअसल इस शहर में मेरा कोई दोस्त नहीं है। मैं तुम्हारे साथ थोड़ा वक्त गुज़ारना चाहता हूँ।"

"मेरी दोस्ती इतनी सस्ती नहीं है। बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।"

"मैं कोई सौदा नहीं कर रहा हूँ। सिर्फ तुम्हारे साथ थोड़ा वक्त गुज़ारना चाहता हूँ।"

"क्यों? सिर्फ मेरे साथ क्यों?"

"इसलिए कि शराब पीने के बाद मुझे अपने भीतर एक दुखभरी खुशी

महसूस होती है। मुझे बारिश मे भीगना अच्छा लगता है, मैं हवा से बातें कर सकता हूँ, मुझे संगीत से प्यार है और खासतौर से पेटेटेक्स का मैं मुरीद हूँ।"

इस बार उसके ज़रा आश्चर्य से मुझे देखा। फिर मेरे कंधे पर हाथ रखकर मुस्काया और मेरे गले मे गलबहियाँ डालकर चलने लगा। उसने पूछा, "तुम पेटेटेक्स को कब से जानते हो?"

"पाँच साल पहले मैंने रिकॉर्ड पर वह धुन सुनी थी, जिसे कुछ देर पहले तुम बजा रहे थे।"

"नहीं, मैं उस धुन को नहीं बजा रहा था।" उसने तुरंत मेरी बात का खंडन किया, "वह धुन ही मुझे बजा रही थी।"

"मैं समझा नहीं?"

"तुम समझोगे भी नहीं। इस बात को समझने में वक्त लगता है।"

उसके इस बुजुर्गाना लहजे से मुझे थोड़ी कोफ्त हुई। फिर मुझे लगा-भले ही वह मेरे गले में हाथ डालकर चल रहा है, लेकिन आखिरकार वह उम्र में मुझसे दोगुना बड़ा है, इसलिए उसके इस रवैये से मुझे कोई आश्चर्य या आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मैंने चलते-चलते यूँ ही पूछ लिया, "आपने सेक्सोफोन बजाना कब से शुरू किया?"

"पच्चीस साल पहले गोवा में एक हिप्पी ने मुझे इस मीठे ज़हर का स्वाद चखाया था। फिर धीरे-धीरे मुझे इसकी लत लग गई।"

"क्या तुमने सारी ज़िंदगी इसी नशे में गुजार दी?"

"नहीं, पहले मैं थोड़ा होश में रहता था और तब मैं सेक्सोफोन के साथ वही सलूक करता था जो एक बदमिज़ाज घुड़सवार अपने घोड़े के साथ करता है। लेकिन जब से मैं नशे में रहने लगा हूँ तब से यह मेरे ऊपर सवार हो गया है। तुम शायद नहीं जानते-बदला लेने के मामले में इसके जितना शातिर और माहिर दूसरा कोई साज़ नहीं है। अभी कुछ ही देर पहले तुमने देखा होगा, वह

मुझे कितनी बुरी तरह बजा रहा था। अगर समुद्र की ऊँची लहर ने मुझे उससे छुड़ाया न होता तो आज वह मेरी जान ही ले लेता।"

"फिर तुम इस ज़हरीले नाग को हमेशा अपने साथ क्यों रखते हो?"

उसने सेक्सोफोन को बहुत अजीब नज़रों से देखा, फिर मुसकराने लगा, "कहानी ज़रा उलझी हुई है। चलो कहीं बैठकर बात करते हैं।"

उसने मेरा हाथ अपने हाथ में थाम लिया। पटरी पर पैदल चलनेवालों में केवल हमीं दो थे जो पानी से लिथड़ी हवा और हवा से लिपटे पानी से संसर्ग से रोमांचित हो रहे थे। उस गीली हवा ने अचानक हमारे भीतर प्यास जगा दी-एक ऐसी कुड़कुड़ाती प्यास, जो सिर्फ शराब से बुझाई जा सकती थी।

बूढ़े के हाथ की पकड़ अचानक मज़बूत हो गई। सड़क क्रॉस करने के लिए वह आगे बढ़ा और समुद्र-किनारे की पटरी को छोड़कर सामने उस पटरी पर चढ़ गया जो मचलते हुए शहर की हलचलों के किनारे-किनारे काफी दूर तक फैली थी।

कुछ ही देर बाद दोनों एक बीयर बार के सामने खड़े थे। दरवाज़े पर खड़े दरबान ने तपाक से सलाम बजाकर दरवाजा खोलने के बजाय ज़रा झिझकते हुए परेशान निगाहों से हमारे गीले लबादों को देखा, खासतौर से बूढ़े के कीचड़ से सने फचफचाते जूतों और चिक्कट कपड़ों ने उसकी नाक-भौंह को सिकुड़ने के लिए मजबूर कर दिया, मगर चूँकि हम ग्राहक थे, कोई भिखारी नहीं, इसलिए मजबूरन उसे दरवाज़ा खोलना पड़ा।

हम अंदर दाखिल हुए और फर्श पर बिछे खूबसूरत कालीन पर बिना कोई तरस खाए अपने जूतों के बदनुमा धब्बे पीछे छोड़ते हुए हॉल के बीचोबीच पहुँच गए। हम जैसे ही कुर्सी पर बैठे, एक बहुत सजी-धजी लड़की हमारे पास आई। उसने पेशेवर मुस्कराहट के साथ मुझसे हाथ मिलाया और बूढ़े के नज़दीक बैठकर उसकी गर्दन में अपनी बाँह डाल दी।

"हलो भाऊ अंकल! कहाँ थे इतने दिन? हमको भूल गए क्या?"

"मस्का मत मार!" बूढ़े ने अपनी गर्दन से उसका हाथ हटा दिया, "जा जल्दी रम लेकर आ।"

वह थोड़ी बनावटी नाराज़गी ज़ाहिर करती हुई उठकर जाने लगी। फिर अचानक एक खास अदा से अपने बाल पीछे की ओर झटकते हुए मुझसे मुखातिब हुई, "क्या आप भी रम लेंगे?"

मैंने 'हाँ' में गर्दन हिला दी। उसने एकाबारगी बहुत गहरी निगाहों से मुझे देखा, जैसे मुझे पूरे-का-पूरा एक ही बार में निगल लेना चाहती हो। मैंने नज़रें झुका लीं।

शराब के आने का इंतज़ार करना बूढ़े ने ज़रूरी नहीं समझा। वह बिना किसी भूमिका के अपनी कहानी बताने लगा। उसके लहजे, बोलने के लिए चुने हुए शब्दों और अभिव्यक्ति में कोई तारतम्य नहीं था। एक सिलसिलेवार तरतीब से बोलते-बताने के बजाय वह यहाँ-वहाँ और जहाँ-तहाँ से टुकड़े बटोर रहा था। सेक्सोफोन के बारे में बोलते-बोलते अचानक वह बार में काम करनेवाली लड़कियों के बारे मे बोलने लगा। लड़कियों को फटकारने-पुचकारने के बाद उसने शराबनोशी पर अपना संक्षिप्त, मगर सारगर्भित व्याख्यान समाप्त होते ही वह अचानक एक कब्रिस्तान में घुस गया। अपने एक दोस्त की कब्र के सामने थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहने के बाद वह लगभग भागते हुए बाहर निकला और फिर हाथ पकड़कर मुझे अपने पीछे खींचते हुए दादर की एक चाल में ले गया, जहाँ बीस-पच्चीस साल पहले वह अपने कुछ साज़िंदे साथियों के साथ रहता था। वे सब फिल्मों के लिए बैकग्राउँड म्यूज़िक कंपोज़ करते थे उस वक्त की बेहतरीन आमदनी को बदतरीन ढंग से खर्च करते थे।

एक घंटे की बातचीत के बाद कुल मिलाकर जो ग्राफ बना, वह कई तरह के उतार-चढ़ाववाला ग्राफ था। उस पर और उसके तमाम साथियों पर

कोई-न-कोई धुन सवार थी। वे उस तरह के धुनी लोग थे जो न तो दुनिया का कोई लिहाज़ करते हैं, न अपने-आपको कोई रियायत देते हैं; वे अपने लिए कोई संकीर्ण सीमा निर्धारित नहीं करते। उनमें कोई एक केंद्रीय भाव या विशेष गुण नहीं होता। वे गुणों और दुर्गुणों के बीच के फर्क को मिटाते हुए अपनी एक अलग और अजीब-सी हालत बना लेते हैं।

उसके उस दौर के लगभग सभी साथी संगीत और ख़ब्त के शिकार थे। उनमें से कुछ जो समझदार थे, बाद में फिल्मों में संगीत-निर्देशक या ए ग्रेड के आर्टिस्ट बन गए। बाकी सब वहीं-के वहीं रहे; लेकिन उन दिनों काम लगातार मिलता था और आमदनी अच्छी होने को करण वे नए आकर्षणों और ललचानेवाले कामुक और सजीले बाज़ार के सामने अपने-आपको खर्च करने से नहीं रोक पाए। वे सब शराबी थे, जुआरी थे, वेश्यागामी और उधारखोर थे, मगर शुरू से आखिर तक कलाकार थे। यही वे साज़िंदे थे, जिन्होंने भारतीय फिल्म संगीत को परवान चढ़ाया था। इसी पीढ़ी ने आज़ादी के बाद के भारतीय 'मन' की गहराइयाँ-ऊँचाइयाँ नापी थीं। इन्हीं बेसुरे पियक्कड़ों ने भावनाओं के सभी ताऱ छेड़कर और साँस के साथ साँस मिलाकर अपने युग की धड़कनों को लय दी थी।

डेढ़-दो घंटे बाद जब हम बार से बाहर निकले तब आसमान में बादलों के बीच फिर कानाफूसी चल रही थी, लेंकिन चूँकि हम पहले ही एक बड़े आँधी-तूफान का सामना कर चुके थे और सिर्फ बाहर से ही नहीं, भीतर से भीग चुके थे, इसलिए अब किसी भी तरह के गीलेपन से हमें गुरेज़ नहीं था।

मेरा बूढ़ा दोस्त शराब के तीन प्यालों के बाद ज़रा कड़क हो गया था। उसने अपनी पीठ सीधी कर ली और सीना तानकर इतने गर्व से चलने लगा जैसे पूरे मुम्बई का मालिक हो। उसके इस मालिकाना रवैये में दारू पीकर भड़ास निकालनेवाले किसी कमज़ोर और कायर आदमी की झूठी अकड़ नहीं, बल्कि एक मौलिक विरोध पर आधारित आक्रामकता थी।

हम दोनों चलते जा रहे थे बिना यह तय किए कि जाना कहाँ है। न उसे कहीं पहुँचने की जल्दी थी, न मुझे। हमारी उद्देश्यहीनता इस शहर की उद्देश्यपरक व्यवस्तताओं के साथ टक्करें ले रही थी। फुटपाथ पर वी.टी. की तरफ जानेवालों की एक तेज़ रफ्तार भीड़ में हम दोनों किसी गीले लबादे की तरह उलझ गए थे। भीड़ की चुस्ती और फुर्ती के बरअक्स हमारा ढीलापन सिर्फ थकान या नशे की वजह से नहीं था, बल्कि यह एक प्रतिक्रिया थी। मुझे अब यह पक्का भरोसा हो गया कि मेरा यह बूढ़ा दोस्त भी उस चुस्त-दुरूस्त और फटाफट कामयाबी के खिलाफ है जो मनुष्य से उसका निर्दोष आनंद छीन लेती है।

मैंने चलते-चलते उसके चेहरे पर निगाह डाली। वह मदमस्त था। उसकी चाल में बदलाव आ गया था। चलते-चलते वह एक दुकान के सामने अचानक रूक गया। दुकान के अगले हिस्से में एक बड़ा शो-केस था जिसमें तरह-तरह के वाद्य-यंत्र रखे गए थे। उनके बीच एक बहुत बड़ा इलेक्ट्रॉनिक की-बोर्ड पड़ा था। वह बूढ़ा उस की-बोर्ड को बड़े ग़ौर से देखने लगा। मैंने सोचा-शायद उसमें कोई ग़ौर करने लायक विशेषता होगी, पर मैंने देखा - बूढ़े के चेहरे पर अचानक एक बड़ी लहर आई और एक ही पल में उसका मिज़ाज बदल गया। वह उस वाद्य की तरफ कुछ ऐसे अंदाज में देख रहा था मानो वह कोई उपकरण नहीं, बल्कि एक जीता-जागता शत्रु हो। एक खतरनाक तनाव और तीखी घृणा से उसका चेहरा कँपकँपाने लगा।

"तुम इसे जानते हो?" उसने की-बोर्ड की तरफ इशारा करते हुए मुझसे पूछा।

"हाँ।" मैंने कुछ सोचते हुए कहा, "यह एक जापानी सिंथेसाइजर है।"

"नहीं," उसने ऊँची आवाज़ में कहा, "यह एक तानाशाह है! हत्यारा है! इसी की वजह से दास बाबू और फ्रांसिस की जान गई... यही हम सबकी बदहाली का एकमात्र ज़िम्मेदारी है।"

मैंने बहुत आश्चर्य से शो-केस की तरफ देखा। उस कई पुश-बटनों और प्यानो जैसी चाबियोंवाले वाद्य में मुझे कोई ऐसी खतरनाक खासियत नज़र नहीं आई।

शो-केस से नज़रें फेरकर जब मैंने बूढ़े की तरफ देखा, तो मुझे अपने चेहरे पर एक अजीब-सी ऐंठन नज़र आई। उसका शरीर कुछ इस तरह काँप रहा था मानो उसे तेज़ बुखार हो। उसकी इस अस्वाभाविक उत्तेजना से मुझे बेचैनी महसूस हुई। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा और उसे फुसलाते हुए आगे ले चलने की कोशिश की। पहले तो वह टस-से-मस नहीं हुआ, लेकिन फिर जैसे कोई दौरा पड़ गया हो, उसने लपककर फुटपाथ से एक ईंट का अद्धा उठा लिया। मैंने तुरंत उसका हाथ पकड़ लिया और बड़ी मुश्किल से उसे काँच फोड़ने से रोका। मेरे इस हस्तक्षेप से वह और भी बिफर गया। उसने मुझे एक तरफ झटक दिया और फुटपाथ की भीड़ को बहुत वाहियात तरीके से धकेलते हुए आगे बढ़ा। उसके मुँह से अनर्गल वाक्यों और गालियों की बौछार लग गई। उसके अंदर उठे इस चक्रवर्ती तूफान के रूख और गति का अनुमान लगाना मुश्किल था। सिर्फ इतना साफ समझ में आ रहा था कि उस चक्रवाती घेरे के केंद्र में वही इलेक्ट्रॉनिक इंस्ट्रूमेंट था जिसे वह भी नकलचोर कहता था तो कभी हरामखोर।

फिर वह उन संगीत-कपंनियों को गालियाँ देने लगा जिन्होंने ऐसे नकली वाद्यों और साउँड रिकार्डिंग की नई और चालाक तकनीकों के सहारे भोंडे फिल्मी गीतों के ऑडियो कैसेट का होलसेल मार्केट फैला रखा था। बाद में वह उन लोगों को भी कोसने लगा जिन्होने ऐसे वाद्यों का निर्माण किया था, जो दूसरे तमाम वाद्यों की हू-ब-हू नकल करने में सक्षम थे। बाज़ार में आते ही संगीत के ठेकदारों ने उसे तुरंत अपना लिया था और उन साज़िंदों को काम मिलना बंद हो गया जो अर्से से केवल इसी काम या हुनर या कला के सहारे जिंदगी बसर कर रहे थे।

"अब इन हरामज़ादों को आखिर कौन समझाने जाए? उनको तो सिर्फ अपना धंधा-फायदा नज़र आता है। कला और कलाकार जाएँ भाड़ में! किसे

खबर है कि पुराने साज़िंदे कहाँ हैं? किसे फिक्र है कि अगर वे बजाएँगे नहीं तो क्या करेंगे? जिस आदमी ने जिंदगी - भर वायलिन बजाई हो, क्या वह टमटम चला सकता है? क्या तबला बजानेवाले हाथ मसाज का काम कर सकते हैं? प्यानो पर थिरकनेवाली उँगलियों से अगर कसाई की दुकान में मुर्गियों की आँतें छँटवाई जाएँ तो कैसा लगेगा?"

वह पता नहीं किससे सवाल कर रहा था। थोड़ी ही देर में वह यह भी भूल गया कि मैं उसके साथ हूँ। मुझे उसके चेहरे पर पागलपन के चिन्ह साफ दिखाई दिए। वह अचानक फुटपाथ से उतरकर सड़क क्रॉस करने लगा। वहाँ न तो ज़ेब्रा क्रॉस था, न पैदल चलनेवालों के लिए कोई सिगनल। चालू ट्रैफिक में उसके यूँ अचानक घुस जाने से एक-साथ कई वाहनों का संतुलन बिगड़ गया। एक सिटी बस की चपेट में आने से वह बाल-बाल बचा, मगर उसे बचाने के चक्कर में एक टैक्सी मार्ग-विभाजक से टकरा गई और टैक्सी के अचानक रूकते ही पीछे तेज़ रफ्तार से आती कई कारें और टैक्सियाँ असंतुलित हो गईं। टैक्सियों और कारों के ड्राइवर गुस्से से फनफनाते हुए नीचे उतरे और बूढ़े को घेर लिया। ट्रैफिक हवलदार ने बूढ़े को जब उस घेरे से बाहर निकाला, तो मैंने देखा-उनकी नाक और जबड़े से खून बह रहा था। मगर वह खून पोंछने या घाव को सहलाने के बजाय चेतावनी-भरे शब्दों में पता नहीं किसे गालियाँ बक रहा था। हवलदार ने उसका कॉलर पकड़ा और घसीटते हुए उसे सड़क के दूसरे किनारे तक ले गया।

ट्रैफिक नियंत्रित होने में थोड़ा समय लगा। इस बीच मेरी नज़रें बराबर बूढ़े का पीछा करती रहीं। वह लड़खड़ाते हुए फुटपाथ पर चढ़ा और मेरे देखते-ही-देखते अगले सर्कल में दाईं तरफ मुड़ गया।

पैदल चलनेवालों के लिए जैसे ही ट्रैफिक खुला, मैं तेज़ी से उस सर्कल की तरफ भागा। सर्कल का मोड़ मुड़ने के बाद मैंने नज़रें दौड़ाई। उस लंबे-गीले रास्ते में छतरियों के झुंड के बीच उसका भीगता और भागता हुआ शरीर मुझे

दिखाई दिया। मैं बहुत मुश्किल से उसके करीब पहुँच पाया। मैंने झपटकर उसका कंधा पकड़ लिया। उसने मुड़कर मुझे देखा - उसके चेहरे पर घूँसों और थप्पड़ों के दाग उभर आए थे। नाक से भी अभी तक गाढ़ा लाल खून टपक रहा था और आँखों में अजीब-सी अजनबीयत-सी थी। चौराहे के एक रेड सिगनल की रौशनी में उसका भावहीन, पथराया-सा चेहरा मुझे भयानक लगा।

"तुम्हारा घर कहाँ है?" मैंने पूछा।

करीब से गुज़रते वाहनों के हॉर्न की वजह से शायद उसे मेरी बात समझ में नहीं आई।

"तुम्हारा घर कहाँ है?" मैंने इस बार उसके कान के पास अपना मुँह ले-जाकर पूछा। उसके चेहरे पर अब भी ठोस संवेदनहीनता छाई रही। तीसरी बार वही सवाल पूछने के बाद भी जब उसने उन्हीं भावशून्य आँखों से मुझे देखा तो मैं समझ गया कि बात हद से गुज़र गई है और अब शराब, खून और बारिश से भीगी हुई उसकी देह को अकेले भटकने के लिए छोड़ देने से बड़ा कोई गुनाह नहीं हो सकता।

मैं बहुत परेशान हो गया। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ। वह अगर सिर्फ बीमार होता, तो भी मैं उसे सँभाल लेता, मगर मामला दिमाग का था और उसके पागलपन में अगर मुझे वह युक्तिसंगत व्यवस्था न दिखती, जिसे हम 'जिनियस' कहते हैं, तो शायद मैं उसे वहीं छोड़कर चला जाता, क्योंकि मुझ पर समाज-सेवा का दौरा कभी नहीं पड़ा था और न ही मेरे अंदर कोई ऐसा मदर टेरेसाई नर्म कोना था जिसमें मैं ऐसे पागलों और लावारिसों को पनाह देता।

मैं तेज़ी से सोच रहा था कि क्या करूँ। अचानक मुझे ख्याल आया कि शायद उस बीयर बारवाली लड़की को बूढ़े के घर का पता मालूम हो। मैंने तुरंत एक टैक्सी रूकवाई। बूढ़े को सहारा देकर टैक्सी में बैठाया और ड्राइवर को सेंडहर्स्ट रोड ले चलने को कहा।

जब हम वापस सेंडहर्स्ट रोड के बार में पहुँचे, तब रात के साढ़े ग्यारह बज चुके थे। ड्राइवर ने जैसे ही ब्रेक लगाया, बूढ़े का श्लथ शरीर मेरी गोद में लुढ़क गया। वह या तो सो रहा था या बेहोशी के आलम में था। मैंने उसे सँभालकर सीट पर लिटा दिया।

"तुम पाँच मिनट यहीं रूको, मैं अभी आता हूँ।" मैंने ड्राइवर से कहा और टैक्सी से नीचे उतर आया। ड्राइवर ज़रा पसोपश में पड़ गया। उसे संदेह था कि कहीं मैं बिना किराया दिए इस मुसीबत को उसके गले न मढ़ जाऊँ। मैंने पचास का एक नोट उसके हाथ में थमा दिया और सीढ़ियाँ चढ़कर बार में अंदर दाखिल हुआ।

दरवाज़ा खुलते ही संगीत की बहुत तेज़ आवाज़ ने मुझ पर हमला किया। वह खोपड़ी को सनसना देनेवाला संगीत था। मैंने ध्वनियों का इतना भयंकर इस्तेमाल पहले कभी नहीं सुना था। कुछ देर की चकराहट के बाद हल्की नीली रौशनी में मैंने उस लड़की को खोजना शुरू कर किया। वह डांसिंग फ्लोर पर कुछ और लड़कियों के साथ नाच रही थी। मैंने आगे बढ़कर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश की। वह एक मालदार आदमी को रिझाने के लिए बार-बार अपने बाल लहरा और कूल्हे मटका रही थी। सामने की कुर्सी पर बैठा वह अधेड़ ऐयाश, जिसके गले और उँगलियों में सोना बहुत अश्लील ढंग से चमक रहा था, उस लड़की की हर अदा पर सौ-सौ के नोट निछावर कर रहा था।

बहुत कोशिश और इशारे करने के बाद भी जब लड़की ने मेरी तरफ ध्यान नहीं दिया तो आखिरकार मुझे भी जेब से नोट निकालने पड़े। नोट हाथ में आते ही मैंने देखा- बार के हर वेटर, स्टूअर्ट और डांसर्स का ध्यान अब मेरी तरफ था। लड़की की तरफ मैंने सिर्फ एक नज़र से देखा और वह मुस्काराती हुई मेरे पास आ गई। नोट उसके हाथ में देने से पहले मैंने दो-तीन बार ऊँची आवाज़ में कहा, "मुझे तुमसे कुछ ज़रूरी बात करनी है।"

दूसरी आवाज़ों के कारण उसे मेरी बात समझ में नहीं आई। वह हाथ पकड़कर मुझे पिछले दरवाज़े की तरफ ले गई। दरवाज़े के उस तरफ रेस्तराँ का किचन था।

"हाँ बोलो जल्दी, क्या बात है? मैं अपना कस्टमर छोड़कर आई हूँ।"

"शाम को मैं जिस बूढ़े के साथ आया था, क्या तुम उसे जानती हो?"

"हाँ-हाँ, वो मेरा रेगुलर कस्टमर तो नहीं है, पर आता है तो सबकी तबीयत खुश कर देता है।"

"उसकी तबीयत खराब है... क्या तुम उसके घर का पता जानती हो?"

"पक्का पता नहीं मालूम, लेकिन शायद वह दादर के कबूतरखाने के आसपास किसी चाल में रहता है। क्या तो नाम है उस चाल का... याद नहीं आ रहा अभी।"

"देखिए, मैं इस शहर में नया हूँ। मुझे यहाँ के रास्तों के बारे में कुछ नहीं मालूम। क्या आप इस मामले में मेरी मदद कर सकी हैं?"

"नहीं।" उसने साफ मना कर दिया, "आप समझते क्यों नहीं? मैं अप़ना कस्टमर छोड़कर नहीं जा सकती।"

मैं चुप हो गया। बार से बाहर निकलते ही मैंने टैक्सी के पास जाकर खिड़की से अंदर झाँका। बूढ़ा अभी तक ज्यों का त्यों लेटा था- किसी लाश की तरह। मैंने दरवाज़ा खोला और अंदर सीट में धँस गया।

"दादर ले चलो!" मैंने ड्राइवर से कहा। मुझे अपनी आवाज़ बहुत थकी-हारी-सी जान पड़ी।

ड्राइवर ने तुरंत चाबी घुमाकर एंजिन स्टार्ट किया। थोड़ी दूर जाकर एक यू टर्न मारा और लंबी-चौड़ी सड़क पर टॉप गियर में टैक्सी दौड़ा दी।

मैंने एक सिगरेट सुलगा ली और अपने विचारों को खामोशी से चबाने लगा।

यहाँ तक कि मेरी कनपटियाँ दुखने लगीं। उन चबाए हुए विचारों की लुगदी में से पता नहीं कब शून्य निकला और उस शून्य के बोझ से दबकर जाने कब मेरी आँखें मुँद गई।

ड्राइवर ने जब कंधा थपथपाकर मुझे नींद से जगाया तो कुछ देर तो कुछ समझ ही नहीं आया। मैंने अपना सिर ज़ोर से झटककर खुमारी और नींद को दूर हड़काया और बूढ़े को होश में लाने के लिए हिलाया-डुलाया, लेकिन सिर्फ हूँ-हूँ करने के अलावा उसने कोई हरकत नहीं की। आखिर नीचे उतरकर मैंने उसकी बाहों के नीचे हाथ डालकर उसे दरवाजे से बाहर खींच लिया। मैं जब बूढ़े के शरीर को घसीटते हुए सड़क के किनारे ले-जा रहा था, तब मैंने देखा कि बावजूद बेहोशी के बूढ़े ने अपने बैग को नहीं छोड़ा था। उसका पूरा शरीर बेहोश था, लेकिन वह था पूरी तरह होश में था जिस हाथ से उसने बैग से बाहर झाँकती सेक्सोफोन की गर्दन को पकड़ रखा था।

मैंने उसकी देह को कबूतरखाने की ग्रिल से टिका दिया। पलटकर टैक्सी का भाड़ा चुकाया और रिस्टवॉच की तरह देखा। सवा तीन बज रहे थे। यह रात और सुबह के बीच की ऐसी घड़ी थी जब न तो मैं कुछ कर सकता था, न कहीं जा सकता था। कुछ देर तक इधर-उधर की सोचने के बाद मैं भी बूढ़े के पास ग्रिल से पीठ टिकाकर बैठ गया।

रात के उस आखिरी पहर में जब सारी हरकतें सो चुकी थीं और कहीं से कोई आवाज़ नहीं आ रही थी, मुझे अपने दिल की धड़कनें सुनाई दीं। मैं अपने बारे में सोचने लगा। अपने बाप की दौलत से दुश्मनी मोल लेने के बाद मैं जिस तरह से तुच्छ आमोद-प्रमोद में ज़िंदगी को खर्च कर रहा था, उसमें किसी समझदार अनुराग की कोई गुंजाइश नहीं थी। अपनी स्वतंत्र अप्रतिबद्धता की शेखी, जिसके लिए मैंने अपने कैरियर तक को लात मार दी थी, को कायम रखने के लिए मैं हमेशा जिस सूखी अकड़ का इस्तेमाल करता था, उसमें बारिश,

शराब, खून और सेक्सोफोन की एक करुण धुन ने नमी ला दी थी। मैं उस नमी के नर्म आगोश में एक थके हुए बच्चे की तरह सो गया।

एक-साथ कई पंखों की फड़फड़ाहट ने मुझे नींद से जगाया। मैंने आँखें मलते हुए इधर-उधर देखा-बूढ़ा नदारद था। एक बार फिर पीठ के पीछे पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई दी। मैंने पलटकर देखा, वह बूढ़ा कबूतरखाने के बीचोंबीच लेटा था और उसके जिस्म पर कई कबूतर चहल-कदमी कर रहे थे, इतने अधिक कि उसका पूरा शरीर उनसे पट गया था। यहाँ तक कि चेहरा भी ठीक से दिखाई नहीं दे रहा था। मुझे संदेह हुआ, कहीं वह मर तो नहीं गया, लेकिन मुझे अपने इस बेवकूफ़ाना संदेह पर तुरंत शर्म आई, क्योंकि मरे हुओं पर कौए मँडराते हैं, कबूतर नहीं।

मैं कबूतरखाने की ग्रिल फाँदकर अंदर कूदा। मेरी इस कूद-फाँद से घबराकर सारे कबूतर उड़ गए। मैं बूढ़े के करीब पहुँचा और तब मुझे उसका चेहरा दिखाई दिया-स्वस्थ्य और मुस्कराता हुआ चेहरा, जिसमें कहीं पिछली रात के उपद्रव के चिन्ह नहीं थे। उसके चेहरे और तमाम कपड़ों पर बाजरे, ज्वार और मकई के दाने चिपके हुए थे। शायद उसने खुद अपने ऊपर कबूतरों का चारा फैला रखा था।

उसने स्नेह से मेरी तरफ हाथ बढ़ाया। मैंने जैसे ही उसके हाथ में हाथ दिया, एक कबूतर आकर फिर उसके हाथ पर आ बैठा, वहीं चितकबरा कबूतर, जिसके पैर में काला धागा बँधा था, जो कल शाम बूढ़े के कंधे पर बैठा था।

"तुम चुपचाप खड़े रहना। मेरा हाथ छुड़ाने की कोशिश मत करना। फिर देखना, यह धीरे-धीरे तुम्हें भी अपना दोस्त बना लेगा।"

मैंने बूढ़े की बात पर सहमति में गर्दन हिलाई और खुशी-भरे आश्चर्य के साथ देखा-वह कबूतर, जो हम दोनों के हाथों के 'मिलन' पर बैठा था, उसने झटके से गर्दन उठाकर सीधे मेरी आँखों में देखा। उसकी आँखों में कौतूहल और अजनबीपन था। कुछ देर तक मुझे देखते रहने के बाद उसने गर्दन झुकाई और

दो-तीन कदम आगे बढ़कर बूढ़े के हाथ से मेरे हाथ पर आ गया। मुझे उसके पंजे के खुरदरे स्पर्श से हल्की-सी सिहरन हुई, लेकिन मैंने अपने हाथ को काँपने नहीं दिया। उसने गर्दन उठाकर फिर मेरी तरफ देखा और ज़रा झिझकते हुए दो कदम और आगे बढ़ा। कुछ देर तक मेरी विश्वसनीयता को आज़माने के बाद तीन-चार कदम आगे बढ़कर मेरी कलाई और बाँह के बीच पहुँच गया। अब उसकी आँखों में कोई डर नहीं था। अगले ही पल वह झपटकर मेरे कंधे पर आ बैठा। मैंने धीरे-धीरे अपना हाथ आगे बढ़ाया और उसके पंखों को सहलाने लगा।

"यह पहले रॉबर्ट का दोस्त था।" बूढ़े ने मेरे कंधे पर बैठे कबूतर को बड़े प्यार से देखते हुए कहा।

"उसे गए कितने दिन हो गए?" मैंने कबूतर की देह पर हाथ फेरते हुए पूछा।

बूढ़ा कुछ देर चुप रहा। वह उस क्षण की याद से थोड़ा ग़मगीन हो गया। एक-दो पल की चुप्पी के बाद उसने बड़ी मुश्किल से मुँह खोला, "आज उसकी पहली बरसी है।"

मैंने देखा, पिछली रात की वह यातना और हताश फिर उसके चेहरे पर मँडराने लगी। मैंने उसे उस सिकनेस से बाहर निकालने के लिए ज़ोर लगाकर उसके हाथ को अपनी ओर खींचा और उसकी बाँह में अपनी कलाई डालकर उसे खड़ा कर दिया। कहा, "चलो तुम्हें घर तक छोड़ दूँ।"

उसने ज़रा आश्चर्य से मेरी तरफ देखा - "तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ रहता हूँ?"

"कल जब तुम होश खो बैठे थे, तब मैं फिर उसी बार में गया था।"

"लेकिन वहाँ तो मुझे कोई नहीं जानता, सिवाय उस लड़की के...।"

"हाँ, उसी लड़की ने मुझे पता दिया।"

"क्या वह मेरे बारे में कुछ कह रही थी?"

"नहीं, वह बहुत बिज़ी थी।"

बूढ़े ने एक गहरी साँस ली। फिर उसके चेहरे का भाव बिगड गया, जैसे उसने कोइ कड़वी चीज़ पी ली हो। वह मेरे कंधे का सहारा लेकर आगे बढ़ा। हम सड़क पार करके बाईं ओर से एक गली में मुड़ गए। उसने मेरी तरफ देखे बग़ैर पूछा, "जानते हो वह लड़की कौन थी?"

मैंने इन्कार में सिर हिलाया और जिज्ञासा से उसकी तरफ देखा। वह कुछ कहना चाहता था, पर कहते-कहते रह गया। उसके चेहरे पर फिर कड़वेपन को निगलने का कष्ट उभर आया।

आगे जाकर वह एक और पतली गली में मुड़ गया। वह मुश्किल से आठ-दस फीट चौडी गली थी, जिसके दोनों तरफ चालें थीं। लकड़ी के बरामदों और सिढ़ियोंवाली बहुत पुरानी गली और सीली हुई चालें, जिनके हर कोने में ठहरी हुई बासी हवा, उमस, ऊब और अँधेरे ने स्थायी कब्जा कर लिया था।

चरमराती हुई सीढ़ियों पर रेलिंग के सहारे चढ़ने के बाद हम दूसरे माले की चौथी खोली के पास पहुँचे। उसने बहुत ज़ोर-ज़ोर से हाँफते हुए अपनी जेब से चाबी निकाली और दरवाज़े का ताला खोल दिया।

"मैं अब चलता हूँ।" मैंने उससे विनम्र शब्दों में इजाज़त ली।

उसने ज़रा प्यार-भरी नाराज़गी से मुझे देखा, "मैं अभी इतना गया-गुज़रा नहीं हूँ कि तुम्हें एक कप चाय भी ना पिला सकूँ।" वह हाथ पकड़कर मुझे अंदर खींच ले गया।

अंदर सामान के नाम पर सिर्फ एक पलँग और एक मेज़ थी। पलँग के ऊपर एक बहुत गंदा बिस्तर बिछा हुआ था जिसके सिरहाने-पैताने का कोई ठिकाना नहीं था। कमरे की दीवारों पर जब मेरे नज़र गई तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। दीवारों पर जगह-जगह कीलें गड़ी हुई थीं और उन पर तरह-तरह के

वाद्य टँगे थे। सबसे पहले मेरी नज़र तबले पर गई उसका चमड़ा उधड़ गया था और उसके अंदर चिड़ियों ने घोंसला बना लिया था। तबले की बगल में एक टूटा हुआ वायलिन था, जिसके तार नदारद थे। दीवार के कोने में सारंगी थी, मकड़ी के जाले से घिरी हुई। सारंगी के ऊपर बाँसुरी लटक रही थी, जिसके छेदों में फ़फूँद जम गई थी और उसके माउथपीस को दीमक ने चाट लिया था। नीचे फर्श पर हारमोनियम पड़ा था, जिसकी हड्डी-पसली एक हो गई थी।

मैं तब तक इन अवशेषों का अवलोकन करता रहा था जब तक बूढ़ा बरामदे में जाकर किसी 'छोकरे' को चाय के लिए आवाज़ देकर लौट नहीं आया। चाय लेकर जो छोकरा आया, उसने चाय की प्यालियाँ हमारे हाथ में थमाने की बजाय अपनी जेब से एक छोटी-सी नोटबुक और कलम निकाली। बूढ़े ने दोनों चीज़ें हाथ से ले लीं। वह उस उधार-खाते के गँदे पन्नों को उलटने लगा। फिर एक पन्ने पर कुछ लिखने के लिए जैसे ही उसने कलम आगे बढ़ाई, लड़के ने बीच में टोक दिया, "अभी की दो कटिंग मिला के सत्तर चाय हो जाएँगी। सेठ मेरे ऊपर बोम मार रेला है। जभी पइसा देंगा तभी चाय देना-अइसा बोलेला है..."

बूढ़े ने केवल एक बार उस लड़के की तरफ देखा। फिर जेब से रात के पानी में भीगे हुए नोट निकाले। एक पचास और एक सौ का नोट निकालकर लड़के के हाथ में थमाया, उधार-खाते को फाड़कर गैलरी से बाहर खुली सड़क पर फेंक दिया और चाय की प्यालियाँ उसके हाथ से छीनकर चाय मोरी में बहा दी।

लड़के पर उसके इस व्यवहार को कोई असर नहीं पड़ा। वह चुपचाप गिलास उठाकर चला गया।

कुछ देर तक वहाँ खामोशी छाई रही। फिर अचानक उसके ऊपर दौरा पड़ गया- "तुम बैठे रहना...मैं अभी आता हूँ।"

उसने कड़वा-सा मुँह बनाया और गैलरी पार करे धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतर गया।

बुढ़ापे की तुनकमिज़ाजी कई बार बचपने की नादानी से भी बदतर साबित होती है और फिर इस बूढ़े का मामला तो और भी गड़बड़ था। मुझे लगा कि इस बखेड़ेबाज़ आदमी के साथ अगर मैं ज्यादा देर तक रहा तो कभी भी किसी बड़े झंझट में फँस सकता हूँ। एक पल के लिए मुझे यह खयाल आया कि चुपचाप यहाँ से खिसक जाऊँ, लेकिन मेरी जिज्ञासा अभी शांत नहीं हुई थी। मैं और ज्यादा गहराई में जाकर इस आदमी के भीतर के उस 'स्वर' को सुनना चाहता था, जो दुनिया के कई अंगड़-खंगड़ प्रलापों के नीचे दबा हुआ था।

मुझे एक डर यह भी था कि कहीं उस स्वर को खोजते-खोजते मैं इतना नीचे चला जाऊँ कि वापस ऊपर आना मुश्किल हो जाए, क्योंकि नीचे काई थी, उलझी हुई करूणा थी और कई पथरीले कटाव थे, जिनमें उलझ-फँसकर मैं डूब सकता था। लेकिन बावजूद इस डर के, मेरी मनःस्थिति उस लालची गोताखोर जैसी थी जो दक्षिणावर्त शंख पाने के लिए जिन्दगी-भर गोते लगाते रहता है, बिना जान की परवाह किए, बिना यह जाने कि जो चीज़ वह पाना चाहता है, उसकी असली पहचान क्या है।

जब पिछली बातें याद करता हूँ तो मुझे अपनी चरम जिज्ञासा के कारण अपने-आपको दोष देने का कोई कारण नज़र नहीं आता। मेरी उत्कंठा के पीछे छुपी हुई नीचता नहीं थी। मै बस थोड़ा-सा उलझ गया था और चूंकि यह उलझन बहुत नाजुक थी इसलिए अपनी तमाम तटस्थता के बावजूद मैं इस चिपचिपाहट से खुद को छुड़ा नहीं पा रहा था।

उसके अजायबघर में उसका इंतजार करते-करते आखिर मैं थक गया रात की निशाचरी के कारण मेरा सिर भी सनसना रहा था। कुछ ही देर में मुझे झपकी लग गई।

एक हल्की आहट से जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने देखा, वह मेरे सामने दो प्याले लेकर खड़ा था, लेकिन उसमें से चाय की खुशबू नहीं, देशी शराब के भभके उठ रहे थे। उसने एक गिलास मेरी तरफ बढ़ाया और दूसरा अपने होंठों से लगा लिया। एक ही साँस में पूरा गिलास खाली करने के बाद उसने शर्ट की बाँह में मुँह पोंछा और बहुत अजीब नज़रों से मुझे देखा। उसकी सुर्ख आँखों और उसके अराजक तरीकों से स्पष्ट था कि वह कल की तुलना में आज ज्यादा फॉर्म में है। उसका वह हाथ काँप रहा था, जिस हाथ में उसने मेरे लिए शराब का प्याला थाम रखा था।

"यह मेरा नहीं, रॉबर्ट मास्टर का कमरा है। तुम अभी मेरे नहीं, रॉबर्ट मास्टर के मेहमान हो। रॉबर्ट-घराने के सुबह की शुरूआत दारू से होती है। अगर तुम्हें इस घराने के अदब-कायदों को सीखना है तो गिलास मुँह से लगा लो।"

मैं धीरे-से मुस्काया और उसके हाथ से गिलास लेकर एक ही साँस में खाली कर दिया।

"वेरी गुड...वेरीगुड! तुम भी हमारी लाइन के आदमी हो। जमेगी... अपनी-तुम्हारी खूब जमेगी!"

उसने खुशी से चहकते हुए फिर दो गिलास तैयार किए और हमने उस दिन का आगाज़ एक ऐसे ढंग से किया जिसका अंजाम कुछ भी हो सकता था।

शराब का पहला प्याला किसी बाज़ की तरह झपटते हुए मेरे सीने में उतरा था, दूसरे प्याले की शराब ज़रा धीरे-धीरे किसी चील की तरह मँडराने लगी। मैं धीर-धीरे बहुत ऊपर उठता चला गया, लेकिन नीचे की तमाम चीज़ें मुझे उतनी ही साफ नजर आने लगीं। दूसरा गिलास खत्म करने के बाद मैंने दीवार पर लटकते वाद्यों को गहरी नज़र से देखा। इस बार मेरे देखने में कुछ फर्क था। कुछ ही देर पहले मेरे लिए ये चीज़ बेजान थीं, लेकिन अब उनमें से कोई अर्थ ध्वनित हो रहा था।

"मुझे अपने इन दोस्तों से नहीं मिलवाओगे?" मैंने वाद्यों की तरफ इशारा करते हुए पूछा।

बूढ़ा अपने गिलास में कँपकँपाती शराब को बड़े ग़ौर से देख रहा था। उसने भौंहें उठाकर मेरी तरफ देखा, फिर सीधे दीवार की तरफ नज़रें उठा दीं। वह बड़े अजीब ढंग से मुस्काया। गिलास खाली करके उसने मेज़ पर रखा और दीवार के पास चला गया। सबसे पहले तबले पर हाथ रखा, "ये रफीक खान है। उस्ताद सलीमुद्दीन खाँ साहब का सबसे छोटा और सबसे आवारा लौंडा। पहले कांग्रेस हाउस में किसी बाई के मुजरे में तबला बजाता था। बाद में फिल्म-लाइन में आ गया।" तबले को पीछे छोड़कर उसने सारंगी पर उँगली रखी, "और यह सलीम भी उसी का जोड़ीदार था। इनकी संगत में बाद में ये वासुकी प्रसाद और ये जमुनादास भी बिगड़ गए (उसका इशारा बाँसुरी और शहनाई की तरफ था)। ये चारों अपने फन और धुन के पक्के थे, मगर उनके जीवन में कोई लय-ताल नहीं थी। बहुत बेसुरे और बेताले थे चारों-के-चारों। मगर थे बहुत ईमानदार, इसमें कोई शक नहीं।" एक बार चारों वाद्यों को बहुत नाज़ और प्यार से देखने के बाद उसने जमीन पर पड़े हारमोनियम पर नज़र डाली, "यह नीतिन मेहता का हारमोनियम है। यह लौंडा सबसे ज्यादा चालू था। पाँच साल पहले हमारे पास सा-रे-गा-मा सीखने आया था और आज बहुत पॉपुलर म्यूज़िक डारेक्टर है, क्योंकि इसकी उँगलियाँ हारमोनियम से फिसलकर तुरंत सिंथेसाइज़र पर चली गई थीं और नीयत संगीत से उचटकर धंधे पर लग गई थी। हर तरह के चांस और स्कोप में अपनी टाँगें घुसेड़ेते हुए उसने एक ऐसा धँधरा घोर मचाया कि कुछ समझना मुश्किल हो गया। बाद में उसे एक सिंधी पार्टनर मिल गया। उसने संगीत के धंधे को बहुत बड़े पैमाने पर इन्वेस्टमेंट किया। पुराने साज़ और साज़िंदों की जगह नये यंत्र आ गए। पहले रिकॉर्डिंग के दौरान डेढ़-दौ सौ साज़िंदें जमा होते थे, पर अब तमाम साज़ों की आवाज़ों और उनके अलग-अलग इफेक्ट्स के लिए केवल एक ही इलेक्ट्रॉनिक यंत्र काफी है। उस यंत्र के खिलाफ,

मैंने और रॉबर्ट ने कई बार आवाज़ बुलंद की। कई बार हमने 'फिल्म आर्टिस्ट एसोसिएशन' को दरख़्वास्त दी कि इस यंत्र पर पाबंदी लगा दी जाए मगर अफसोस... न तो इस मामले में किसी ने हमारा साथ दिया और न आर्टिस्ट एसोसिएशन ने कोई कदम उठाया..."

अपने कुछ साथियों का परिचय देने और गुज़रे हुए हालात की लंबी तफसील पेश करने के बाद उसने सिगरेट का पैकेट जेब से निकाला, एक सिगरेट अपने होंठों के बीच रखकर उसने पैकेट मेरी तरफ बढ़ाया। मैंने भी चुपचाप सिगरेट सुलगा ली।

दो-तीन गहरे कश खींचने के बाद वह बहुत ग़ौर से और कुछ-कुछ सहानुभूतिपूर्ण नज़रों से वायलिन को देखने लगा- "सबसे ज्यादा मुझे दास बाबू पर तरस आता था... बेचारे ए ग्रेड के आर्टिस्ट होते हुए भी सी-ग्रेड की जिंदगी जीते थी। बहुत शर्मीले और संजीदा आदमी थे। ट्रेजिक धुनों के लिए उन्हें खासतौर से बुलाया जाता था। नीतिन मेहता जैसे हरामियों ने उसका बहुत मिसयूज़ किया। वह एक ही सिटिंग में उससे चार-पाँच धुनें रिकॉर्ड करवा लेता था। फिर उन धुनों को काट-छाँटकर अलग-अलग गानों और सिचुएशन्स में इस्तेमाल करता था। अपनी धुनों की इस दुर्गति से दास बाबू बहुत उदास हो जाते थे, मगर कभी किसी से शिकायत नहीं करते थे...

"एक बार एक गाने की कंपोज़िंग के दौरान वे वायलिन बजाते-बजाते रोने लगे। उस गाने के अंत में मुझे एक लंबा पीस बजाना था, मगर मैं उठ गया और दास बाबू की बाँह पकड़कर स्टूडियो से बाहर निकल आया।"

सिगरेट के ठूँठ को तिपाई पर पड़ी ऐश-ट्रे में मसलकर उसने कुर्सी नज़दीक खींच ली और अपने लड़खड़ाते हुए पाँव को संतुलित करते हुए कुर्सी पर बैठ गया, फिर बोला, "उस रात जब पूरी चाल सो गई, तब आधी रात के बाद मुझे दास बाबू की खोली से वायलिन की आवाज़ सुनाई दी और मैं देखे बग़ैर यह जान गया कि दास बाबू सिर्फ वायलिन नहीं बजा रहे थे, रो भी रहे थे। कुछ

देर तक मैं चुपचाप सुनता रहा। मैंने पहले कभी दर्दनाक स्वर नहीं सुने थे। आखिर मुझसे रहा नहीं गया। मैंने अपना सेक्सोफोन उठाया और उसकी पीठ सहलाने के लिए एक भारी स्वर उनकी खिड़की की तरफ उछाल दिया। मेरी हमदर्दी से पहले वे ठिठक गए, फिर उनका वायलिन एकदम फफक पड़ा। मैंने उसे रोने दिया। सेक्सोफोन के चौड़े सीने पर सिर रखकर रोती वायलिन की उस धुन को मैं कभी नहीं भूलूँगा... वह बहुत लंबी, घुमावदार और इतनी कातर धुन थी कि सेक्सोफोन जैसा दिलेर भी कुछ देर के लिए विचलित हो गया। लेकिन इससे पहले कि मैं अपना संतुलन खो देता, प्यानो के हल्के स्पर्श ने मुझे ढांढस बँधाया। रॉबर्ट का एक पुराना नोट हमारे स्वरों की तरफ बाहें फैलाते हुए आया और हम तीनों बगलगीर हो गए।...

"फिर हमारी यह तिकड़ी आगे बढ़ी, लेकिन कुछ ही देर बाद पीछे से सारंगी की आवाज़ आई और वह बहुत हड़बड़ी में हमारी तरफ दौड़ती चली आई जैसे हम उसका साथ छोड़कर कहीं जा रहे हों। हमने अपनी स्वरयात्रा में उसे भी शामिल कर लिया। हम उसे छोड़ नहीं सकते थे, क्योंकि वह बहुत भावुक थी और बात-बात में दुखी हो जाना उनके स्वभाव में शामिल था।.....

"फिर बाँसुरी और शहनाई की भी नींद खुल गई। उन दोनों की अलसाई-सी, अँगड़ाइयाँ लेती आवाज़ें पहले बहुत सुस्त कदमों से बाहर आईं, फिर यह देखकर कि हम बहुत दूर निकल गए हैं, दोनों ने एक-साथ अपनी चाल तेज़ कर दी और कुछ ही देर में वहाँ स्वरों का तूफान घुमड़ने लगा। बिना किसी उद्देश्य और बिना किसी रिहर्सल के खुद-ब-खुद वहाँ एक ऐसा आर्केस्ट्रा शुरू हो गया, जिसका कोई पूर्वनिर्धारित 'शो' नहीं था, जिसे सुननेवाला कोई 'रसिक श्रोता' नहीं था, क्योंकि यह कोई कंपोज़ीशन नहीं, कुछ आवारागर्दों की अराजकता थी। हम सब एक-दूसरे के साथ धींगा-मस्ती कर रहे थे। हर स्वर अपने प्रतिद्वंद्वी स्वर को पीछे छोड़ आगे निकल जाना चाहता था। प्यानो मदमस्त हाथी की तरह सबको कुचल रहा था। सारंगी प्यानो की टाँगों के बीच से

निकलकर उसे छकाती हुई आगे बढ़ गई। शहनाई की बेहद तेज़ और पतली धारवाली आवाज़ ने सारंगी के तार काट दिए, मगर साँस लेने के लिए जैसे ही शहनाई रूकी, बाँसुरी ने उस अँतराल में एक लंबी छलाँग लगाई और सबसे आगे निकल गई।...

"मैंने बाँसुरी को सबक सिखाने के लिए सेक्सोफोन होंठों से लगाया, मगर अकस्मात् मेरा ध्यान इस बात पर गया कि वायलिन की आवाज़ कहीं बिछड़ गई है। कुछ देर तक मैं ध्यान देकर सुनता रहा कि शायद दूसरी तेज़ आवाज़ों के कारण वायलिन की आवाज़ दब गई होगी, लेकिन नहीं, वह कहीं सुनाई नहीं दे रही थी। बाकी सब बहुत मस्ती में थे, इसलिए उन्हें कुछ पता नहीं चला, लेकिन मैं थोड़ा सजग था। ज़रा और ध्यान देने पर मुझे यह आभास हुआ कि संगीत की संगत में कहीं कुछ असंगत हो रहा है... मुझे किसी चीज़ के तोड़े जाने की आवाज़ सुनाई दे रही थी... ये स्वराघात बहुत भयानक थे। उनमें किसी चीज़ को हमेशा के लिए खत्म कर देनेवाला हत्यारापन था। दो-तीन बड़े आघातों के बाद वह आवाज़ बंद हो गई। मैं सोच में पड़ गया। मुझे हालाँकि यह समझ में नहीं आया कि वह किस चीज़ के पटकने या पीटने की आवाज़ थी, मगर यह तो साफ ज़ाहिर था कि वह आवाज़ दास बाबू की खोली से ही आई थी। मैंने सेक्सोफोन मेज़ पर रख दिया और दरवाज़ा खोलकर बाहर गैलरी में निकल आया। सामने की चाल में सब खिड़की-दरवाजे बंद थे। दास बाबू की खोली के दरवाज़े की दरारों से बल्ब की पीली रौशनी की लकीरें चमक रही थीं। बीच-बीच में उन चमकाती लकीरों को कोई परछाईं काट देती थी। वे लकीरें जब बार-बार और बहुत तेज़ी से कटने लगीं, तब मुझे मालूम हुआ कि अंदर कोई छटपटा रहा है... मैं तेज़ी से सीढ़ियाँ चढ़ गया। दास बाबू की खोली के बंद दरवाज़े के सामने पहुँचकर मैंने अपने धड़धड़ाते सीने को एक हाथ से थामा और दूसरे हाथ से दरवाज़े को धकेला। अंदर दास बाबू फर्श पर गिरे पड़े थे। वायलियन के टुकड़ों के बीच फर्श पर वे अपना सीना थामे छटपटा रहे थे। मैंने

लपककर उन्हें अपनी बाहों में ले लिया। मुझे देखकर उनके चेहरे पर हल्की-सी राहत आई, मगर अगले ही पल किसी अज्ञात शक्ति ने उनके चेहरे पर पोंछा मार दिया।"

दास बाबू के जीवन के अंतिम क्षणों का जो भयानक वर्णन बूढ़े ने किया, वह काफी देर तक एक फिल्म की तरह मेरी कल्पना में घूमता रहा। बूढ़े के चुप हो जाने के बावजूद उसके शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे। मैं उस संत्रस्त कर देने वाले असर के जब बाहर आया, तब मैंने देखा, बूढ़ा किसी गहरी सोच में डूबा था। मैंने उसके मौन पर कोई दरार नहीं पड़ने दी।

हम दोनों पता नहीं कितनी देर चुप रहते, अगर हमारे मौन के बीच वह चितकबरा कबूतर न चला आया होता। वह पहले कमरे की दहलीज़ पर बैठा कोतूहल-भरी आँखें मटकाते हुए बारी-बारी से हम दोनों को देखता रहा, फिर उड़कर बूढ़े की गोद में जा बैठा। बूढ़ा हालाँकि किसी खयाल मे खोया था, लेकिन उसके हाथ आदतन कबूतर के पंखों को सहलाने लगे।

"वे इतने परेशान क्यों रहते थे?" मैंने ज़रा संकोच से पूछा।

"कौन?" बूढ़े ने मेरी तरफ देखकर पूछा।

"दास बाबू?" मैंने कहा।

बूढ़ा इस सवाल से फिर अपसेट हो गया। उसने फिर कड़वा-सा मुँह बनाया और अचानक खड़ा हो गया। उसका हाथ फिर काँपने लगा। उस कँपकँपाहट को काबू में करने के लिए उसने मुट्ठी भींच ली। उसके चेहरे से लग रहा था कि वह फिर बिफर उठेगा, मगर वह कुछ नहीं कर पाया। अपने तशद्दुद से फड़फड़ाते होंठों से उसने दाँतों में भींच लिया।

उसकी हालत देखकर मैं भी सहम गया और कबूतर भी। उसने भयभीत नज़रों से बूढ़े को देखा और तुरंत पर फड़फड़ाते हुए कमरे से बाहर उड़ गया।

कुछ देर बाद मुझे पेट में मरोड़ हुई। मैं काफी देर से अंडकोष के दबाब

को भी टाल रहा था, लेकिन जब सहन नहीं हुआ तो मैं उठा और बीच में लटकते पर्दे को सरकाकर कमरे के दूसरे हिस्से में चला गया। वहाँ एक छोटी-सी रसोई थी और रसोई से लगा एक टीन का दरवाज़ा। रसोई के प्लेटफॉर्म पर बहुत-सी अंगड़-खंगड़ चीज़ें बेतरतीब पड़ी थीं। मैंने किसी चीज़ पर ध्यान नहीं दिया। मेरा ध्यान सिर्फ उस टीन के दरवाज़े पर था जिसके पीछे मेरी तात्कालिक यंत्रणा का निकास था।

संडास से बाहर आने के बाद मैंने ध्यान से सब चीज़ों को देखा। उन चीज़ों की अलग-अलग पहचान नहीं थी। वे सब एक संयुक्त कबाड़ में बदल चुकी थीं। आकार में बड़ा होने के कारण सिर्फ प्यानों अलग से पहचान में आ रहा था। मैं उसके पास गया, उसके ऊपर पड़े समान को इधर-उधर किया और ग़ौर से देखा, उसके दोनों फुट-पैडल टूटे हुए थे। की-बोर्ड की अधिकांश चाभियाँ भी उखड़ गई थीं। मैंने उसकी अंदरूनी हालत देखने के लिए लकड़ी के ढक्कन को ऊपर उठाया और अगले ही पल मुझे ढक्कन बंद कर देना पड़ा। अंदर कुछ भी नहीं था। न गद्दियाँ, न स्ट्रिंग्स, न फेल्टहेमर। सिर्फ खालीपन था और उस खालीपन में से एक अजीब-सी बू आ रही थी। वहाँ कुछ मर गया था, जो सड़ रहा था...

पर्दा हटाकर मैं वापस कमरे के अगले हिस्से में आ गया।

"यह प्यानो क्या रौंबर्ट मास्टर का है?" मैंने बुढ़ऊ से पूछा।

उसने हाँ में सिर हिलाया और चेहरा झुका लिया।

"वह इतना घायल क्यों है?" मैंने फिर एक मूर्खतापूर्ण सवाल कर डाला, मैं नहीं जानता था कि मेरा यह सवाल कितना ग़ैरवाजिब और ग़ैरज़रूरी था। उसने झल्लाई हुई नज़रों से मुझे देखा, फिर कुर्सी से उठा, कमरे से बाहर निकला, तेज़ कदमों से गैलरी पार की और धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतरने लगा। मैं पहले तो हतप्रभ रहा गया, फिर किसी अज्ञात ताकत से वशीभूत होकर मैं भी उसके

पीछे भागा। मैं जब तक सीढ़ियाँ उतरकर गली में आया, तब तक वह गली पार कर चुका था, और जब मैं गली से बाहर निकला तब वह सड़क क्रॉस कर रहा था। मैंने अपनी रफ्तार तेज़ की, आते-जाते वाहनों से खुद को बचाते हुए सड़क पार की और दौड़कर उसके पास पहुँच गया।

"सुनो!" मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर हल्के दबाव से उसे अपनी ओर खींचा।

मेरी इस रूकावट से उसकी चाल लड़खड़ा गई- "क्या है?" उसका स्वर बहुत बिफरा हुआ था- "क्यों मेरे पीछे पड़े हो? जाओ रास्ता नापो... मुझे किसी की हमदर्दी की जरूरत नहीं है।"

"लेकिन तुम जा कहाँ रहे हो?"

"मैं कहीं भी जाऊँ, तुम कौन होते हो पूछनेवाले? तुम्हें क्या मतलब है?"

"मतलब है।" मैंने इस बार ज़रा कड़ी आवाज़ में कहा, "तुम क्या मुझे कोई चूतिया समझते हो?" मैंने उसकी शर्ट को अपनी दोनों मुट्ठियों में भींच लिया।

मेरी इस अकस्मात् चिड़चिड़ाहट से वह ज़रा ढीला पड़ गया। उसने मुँह बिचकाकर एक निश्वास छोड़ा और मैंने अपनी मुट्ठियाँ और कस लीं, "मैं जानता हूँ कि तुम बिल्कुल गए-गुज़रे और नाकाम आदमी हो और इस भ्रम में जी रहे हो कि तुम्हारे जैसा तीसमारखाँ इस दुनिया में और कोई नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम ज्यादा दिन जीनेवाले नहीं हो, क्योंकि तुम चाहते हो कि तुम्हारी मौत इतने दर्दनाक ढंग से हो कि दुनिया चौंक जाए। तुम इस तरह जो बदहाल ज़िंदगी जी रहे हो, वो इसलिए नहीं कि तुम बदहाल हो, इसलिए कि लोगों को अपनी तरफ आकर्षित कर सको... तुम अपने शरीर पर इन चिथड़ों को उसी तरह सजाकर रखते हो जिस तरह रंडियाँ अपने चेहरों को सजाती हैं...."

नशे में चूँकि मैं भी था, इसलिए थोड़ा लाउड हो जाना स्वाभाविक था, "गो

एंड फक योर आर्ट।" मैंने चिल्लाकर कहा, फिर तेज़ी से पलटकर तेज़ कदमों से चौराहे की तरफ जाने लगा। कबूतरखाने के पास जाकर मैं स्टेशन की तरफ जानेवाली सड़क पर मुड़ने ही वाला था कि मुझे अपने कंधे पर उसके हाथ का दबाव महसूस हुआ।

मैंने मुड़कर देखना ज़रूरी नहीं समझा।

"तुम्हें परेशान करने का मेरा इरादा नहीं था।" उसकी आवाज़ में हल्का कंपन था, "तुम मेरी वजह से बहुत परेशान हो गए... जाओ अब कभी मेरे जैसे घनचक्करों के फेर में मत पड़ना।"

मैंने पलटकर उसके दोनों कंधों पर अपने हाथ रख दिए, "देखो, मैं जानता हूँ रॉबर्ट और दास बाबू के बिना जीने में तुम्हें कितनी तकलीफ हो रही है, लेकिन शराब और व्यर्थ के चुतियापों में डूबकर क्या तुम उस महान् दुःख का अपमान नहीं कर रहे हो? क्या उस दुःख को तुम सेक्सोफोन के स्वरों के साथ सब्लीमेट (उदात्तीकरण) नहीं कर सकते?"

उसने बहुत विवश निगाहों से मुझे देखा और नकारात्मक ढंग से सिर हिलाने लगा, जैसे मैंने उससे किसी मरी हुई चीज़ को ज़िंदा करने का आग्रह किया हो। मैं उसके आसक्ति-शून्य चेहरे को देखता रहा। वहाँ कोरी शून्यता थी। न कोई चाव था, न कोई भाव। अपने चेहरे को मेरी नज़रों से बचाने के लिए उसने मुँह फेर लिया और कबूतरों के झुंड को देखने लगा।

वे सब चुग्गा चुग रहे थे - शहर की भाग-दौड़, आपा-धापी और परेशानियों से निर्लिप्त और बेखबर। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा और लोहे की ग्रिल के पास जा खड़ा हुआ। अंदर उस गोल घेरे में फड़फड़ाते असंख्य सलेटी, सफेद और चितकबरे पंखों के शांत सौंदर्य में से वह कुछ खोज रहा था, कोई ऐसी चीज़ जो उसकी तात्कालिक तकलीफ को ढँक दे।

वह काफी देर तक यूँ ही खड़ा रहा। इस बीच उसने कमीज़ की बाँह से दो बार अपनी आँखें पोंछी। उसकी पीठ मेरी तरफ थी, इसलिए देख नहीं पाया

कि उसने अपनी आँखों में से क्या पोंछा था। कुछ देर बाद वह पलटा और सीधे मेरी आँखों की तरफ अपनी आँखें उठा दीं। उसने बहुत प्यार से मेरी तरफ देखा, फिर आगे बढ़कर अपनी बाँह मेरे कंधे में डाल दी और वापस मुझे अपने घर की तरफ ले-जाने लगा। घर पहुँचाते ही वह किसी नदीदे की तरह चीज़ों पर टूट पड़ा। उसने एक पुराना कपड़ा उठाया और जो चीज़ हाथ मे आई उसकी धूल झाड़ने लगा। फिर छत के कोनों में लटकते मकड़जालों पर झाड़ू फेर दिया। पूरे कमरे को अच्छे से झाड़ने-बुहारने के बाद उसने एक साफ कपड़े से तमाम वाद्यों को रगड़-रगड़कर चमका दिया। इस तमाम सफाई-अभियान के दौरान वह लगातार सीटी बजाता रहा। उसकी फूँक में धीरे-धीरे वजन बढ़ता गया और कुछ ही देर में उसने अपनी देह और आत्मा के बिखरे हुए स्वरों को एक तरतीब में 'ट्यून' कर लिया।

कुछ देर बाद पर्दा हटाकर पीछे चला गया। उसके किचन-कम-बाथरूम से काफी देर तक पानी बहने की आवाज़ आती रही। इस बीच मैंने कमरे की नई व्यवस्था पर निगाह डाली। अब सारे साज़ अपनी गरीबी और फटेहाली के बावजूद पूरे सम्मान के साथ चमक रहे थे। सिर्फ साज़ ही नहीं, पूरा असबाब अपनी असली रंगत में निखर आया था, सिर्फ एक एलबम को छोड़कर, जो कोने में पड़ी टेबल के एक किनारे उपेक्षित-सा पड़ा था। उसके कवर पर धूल जमी थी। मुझे उसकी बोसीदगी एतराज़ हुआ। मैंने कपड़ा उठाकर उसकी गर्द झाड़ दी और बिना कुछ सोचे-समझे उसे खोलकर देखने लगा। उसमें बहुत पुरानी तसवीरें थीं- उसके तमाम यार-दोस्तों की।

कुछ तसवीरें स्टेज-प्रोग्राम के दौरान खींची गई थीं और कुछ रिकॉर्डिंग स्टूडियो में। कहीं-कहीं पर एकाध प्राइज़-डिस्ट्रीब्यूशन और पार्टी के भी चित्र थे। वे उन दिनों के चित्र थे जब बूढ़ा जवान था। वह उन चित्रों में जिंदादिली और जवाँमर्दी की मिसाल की तरह मौजूद था।

लेकिन मध्यांतर के बाद एलबम की तस्वीरें ज़रा शांत, थोड़ी उदास और

अंत में बहुत पीड़ादायक होती चली गईं। एलबम में अंतिम पृष्ठों में दो पार्थिव शरीर शवयात्रा पर जाने से पहले की अंतिम घड़ियों के ज़ोरदार विलाप के बीच शांत पड़े थे। एक शरीर अर्थी पर था, दूसरा ताबूत में। ताबूतवाले भाव के दोनों हाथ नदारद थे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। क्या यह रॉबर्ट मास्टर की तस्वीर है? क्या उसके दोनों हाथ???...

इससे पहले कि मैं इस खूनी अचंभे के बारे में कुछ सोच पाता, बूढ़ा पर्दा हटाकर बाहर आ गया और इस बार मैं उसे देखते ही रह गया। उसके शेव किए हुए चेहरे पर गजब की रौनक थी। उसने स्वेड की भूरे रंग की पतलून और सफेद शर्ट पहन रखी थी, जिसमें कहीं काई दाग-धब्बा नहीं था। उसकी इस सेहतमंद, साफ-सुथरी और पुरज़ोर एंट्री से मैं थोड़ा आश्वस्त हुआ। मुझे लगा कि वह अब स्थितियों की फेस करने की स्थिति में है।

वह पंखा खोलकर अपने लंबे बाल सुखा रहा था। उसके सफेद और मुलायम बाल उसके लंबे और गोरे चेहरे पर सिर्फ लहरा ही नहीं, बल्कि तैर-से रहे थे।

"तुम अब बिल्कुल सही लग रहे हो।" मैंने कहा।

उसने बालों पर ज़ोर-ज़ोर से उँगलियाँ चलाते हुए मेरी तरफ देखा - "क्या अब तक मैं ग़लत था?"

"नहीं।" मैंने मुस्कराते हुए कहा, "अब तक तुम गलत और सही के बीच थे।"

उसने सिर झटककर अपने बाल पीछे किए और बड़े ग़ौर से मेरी तरफ देखने लगा, "यार, तुम तो बड़े गुरू आदमी हो। तुम्हारे अंदर जो बैलेंस है, मुझे उससे जेलेसी हो रही है।"

"मैं एक बनिये का बेटा हूँ।" मैंने हँसते हुए कहा, "इसलिए तराजू हमेशा साथ लेकर चलता हूँ, हालाँकि नाप-तोल में मुझे बहुत नफरत है। मैं तुम्हारी

अनबैलेंस्ड और फक्कड़ ज़िदगी से आकर्षित हुआ था और तुम मेरी बनियागिरी से प्रभावित हो, यह बड़ी विचित्र बात है!"

थोड़ी देर तक वह मुझे निहारता रहा। फिर पहली बार उसने मेरे व्यक्तिगत मामले में दिलचस्पी दिखाई- और बहुत संजीदगी से पूछा, "तुम करते क्या हो?"

"मैं फिलहाल कुछ नहीं कर रहा हूँ।" मैंने कहा।

"नहीं। मैं कैसे मान लूँ कि तुम फिलहाल कुछ नहीं कर रहे हो? तुम फिलहाल और कुछ नहीं तो एक बूढ़े और सनकी आदमी को तो बर्दाश्त कर ही रहे हो न?" वह हँसने लगा।

"नहीं।" मैंने भी उसकी हँसी का साथ दिया, "मैं तुम्हें बर्दाश्त नहीं, एन्ज्वाय कर रहा हूँ। तुम बहुत स्वादिष्ट और पचाने में उतने ही कठिन आदमी हो। तुम्हारे बाहर से कुरकरे और भीतर से रसीले स्वभाव में एक खास तरह का ज़ायका है।"

वह और भी ज़ोर से हँसने लगा, फिर उसने अपना सेक्सोफोनवाला बैग उठा लिया। मेज़ की दराज़ से एक गिफ्ट पैकेट निकाला और मेरा हाथ पकड़कर घर से बाहर आ गया।

"तुम्हारा घर मुझे घर-जैसा कम, रिहर्सलरूम-जैसा ज्यादा लगता है।" मैंने ज़ीना उतरते हुए का।

"दरअसल," उसने सीढ़ियों से नीचे उतरने के बाद मेरे कंधों पर हाथ रखते हुए कहा, "यह कमरा हम सबने मिलकर किराए पर लिया था, रिहर्सल के लिए। लेकिन बाद में यह ऐयाशी का अड्डा बन गया और उन लोगों के लिए तो इससे बड़ी कोई पनाहगाह नहीं थी, जो घर से अलग हो गए थे या अलग कर दिए गए थे। मेरा और रॉबर्ट का खाना-पीना, नहाना-धोना, सोना-उठना सब यहीं होता था..."

वह एक बार फिर अपने विगत में लौट गया, लेकिन इस बार की वापसी कुछ अलग तरह की थी। उसके लहजे में किसी सदमे के तात्कालिक बयान की बौखलाहट नहीं, स्थिरता थी, एक व्यवस्थित प्रवाह था–

"बावजूद हर तरह की बदसलूकी के, हम सब आपस में एक थे। हमारे झगड़े कई बार मार-पीट की नौबत तक भी पहुँचते थे, लेकिन जब 'संगत' होती थी तब सारी बातें भुला दी जाती थी; लेकिन एक अर्से बाद जब संगीत के धंधे में चेंज आया तो सब कुछ बदल गया। हमारा ग्रुप बिखर गया। सिर्फ एक ग्रेड के कुछ आर्टिस्ट बच गए। लेकिन सीनियर होने के बावजूद मुझे और रॉबर्ट को काम के मौके बहुत कम मिलते थे, क्योंकि जिस तरह की कंपोज़िंग नए दौर में चल रही थी, उसमें नकल पर आधारित चुतियापों की बौछार थी और प्यानो या सेक्सोफोन जैसे गंभीर वाद्यों की अकेले पीस के लिए कोई जगह नहीं थी।"

चलते-चलते वह रूक गया। फिर मुझे खींचने लगा। उसने सड़क पार की और हम एक कैफे में घुस गए। नाश्ते का ऑर्डर देने के बाद वह कुछ देर चुप बैठा रहा। फिर बिना मेरी ओर देखे कुछ बुदबुदाने लगा, जैसे मुझसे नहीं, खुद से बातें कर रहा हो, "साले नीतिन मेहता, एक तुम्हीं होशियार निकले। बाकी सब बेवकूफ थे। अच्छा किया तुमने जो तबले-पेटी को लात मार दी। अगर तुमने नए साज़ और नए तौर-तरीके नहीं अपनाए होते तो तुम्हारा भी यही हाल होता। हम लोग चूतिये थे जो साज की आन और स्वरों की शुद्धता का राग अलापते रहे। रॉबर्ट तो अपने-आपको बहुत तीसमारखाँ समझता था, क्योंकि उसके जैसा प्यानो-मास्टर पूरे मुंबई में कोई नहीं था। उसने तुम्हारे नए यंत्रों का मज़ाक उड़ाया था। वह उसे बच्चों का खिलौना और कंप्यूटर गेम कहता था। लेकिन आज उसी बच्चों के खिलौने के उसके 'हाथी' के चारों पाँव उखाड़ दिए। सिर्फ रॉबर्ट ही क्यों, उस समय तो ए ग्रेड का हर आर्टिस्ट इसी घमंड में रहता था कि उनके 'स्किल' को कोई मात नहीं दे सकता। लेकिन उनके 'स्किल' और मार्केट की जरूरत की बीच जो गैप आ गया था वो उन्हें दिखाई नहीं दिया।"

बूढ़ा अपनी रौ में बोल रहा था और बटर-ब्रेड के साथ कॉफी की घूँट भी ले रहा था। मुँह के इस दोहरे इस्तेमाल के कारण उसके गले में ठसका लग गया। मैंने तुरंत पानी का गिलास उठाकर उसके मुँह से लगा दिया। पानी के प्रवाह मे गले में फँसा ब्रेड का टुकड़ा नीचे उतर गया। थोड़ी देर खाँसने-खखारने को बाद उसने गहरी साँस ली और बड़ी हिकारत से सिर हिलाया, "आखिर उनका घमंड ही उनके लिए खतरनाक साबित हुआ। सब गए भाड़ में। कौन बचा अब पुरानों में? कौन कहाँ है और क्या कर रहा है कुछ पता नहीं। कभी मिल भी जाते हैं तो कतरा के निकल जाते हैं। एक बार मैंने वासुकी प्रसाद को चौपाटी में बाँसुरी बेचते देखा। उसने बाँसकी पतली-पतली कमाचियों में बाँसुरियाँ सजारखी थीं। वह बाँसुरी बेच भी रहा था और बजा भी रहा था। मैं उससे मिला नहीं। सिर्फ उसका बजाना-बेचना देखता रहा। अचानक मेरे भीतर से एक सवाल उठा कि अगर सेक्सोफोन पीतल के बजाय बाँस का होता और उसकी लागत भी बहुत कम होती, तो क्या मैं भी गली-गली में सेक्सोफोन बेचता फिरता? मुझे अपने भीतर से हाँ या ना में कोई जवाब नहीं मिला..."।

"और लाजवाब होना मेरे लिए हमेशा घातक होता है। हारकर मैंने खूब ज्यादा शराब पी ली और मेरे पैर लड़खडाने लगे। खुद को किसी तरह सँभालते हुए मैं चर्नी रोड के एक ओवरहेड रास्ते को पार कर रहा था। रास्ता पार करने के बाद मैंने सीढ़ियाँ उतरने के लिए जैसे ही पहली सीढ़ी पर पैर रखा, मुझे सबसे अंतिम सीढ़ी पर रॉबर्ट मास्टर दिखाई दिया। उसने भी सहारे के लिए रेलिंग पकड़ रखी थी और नाराज़ नज़रों से सीढ़ियों की ऊँचाई को देख रहा था। वह अपनी नशे में डोलती लंबी-चौड़ी देह, हाइ-ब्लड-प्रेशर से धकधकाते सीने और थकान से चूर पैरों की बिखरी हुई ताकत को बटोर रहा था। सीढ़ियाँ चढ़ना तो दूर, वह खड़े रहने लायक हालत में भी नहीं था; मगर मुझे भरोसा था कि वह सीढ़ी चढ़ जाएगा। वह हार माननेवालों में से नहीं था, चाहे जीत जानलेवा ही क्यों न साबित हो।...

"आखिर उसने होंठ भींच लिये और एक-साथ दो-दो सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। जब वह ऊपर आया तो मैंने हाथ बढ़ाकर उसे अपनी तरफ खींच लिया। और बहुत चिंतित स्वर में पूछा, "कहाँ से आ रहे हो? कहाँ थे इतने दिनों तक?"

वह सिर्फ हाँफता रहा। उसकी नजरें बैग में टँगे मेरे सेक्सोफोन पर थीं। उसने पूछा, "तुम स्टूडियो से आ रहे हो?"

मैंने ना में सिर हिला दिया। अगर मैं हाँ कहता तो वह मेरी जेब में हाथ डालकर जबरदस्ती मेरी दिन-भर की कमाई छीन लेता। मेरे पास रूपए इतने कम थे कि झूठ बोलने के सिवा कोई चारा न था। मगर झूठ बोलना हर किसी को नहीं आता। वह फौरन समझ गया कि मेरी जेब खाली नहीं है। उसने हाथ से झपटकर मेरा कॉलर पकड़ लिया और दूसरे हाथ से मेरी जेब टटोलने लगा - "साले झूठ बोलता है? ला निकाल सौ रूपए।"

"कॉलर छोड़ पहले।" मैंने प्रतिरोध किया। उसका मेरे कॉलर पर कसा पंजा ढीला पड़ गया। मैंने पैंट की जेब से जितने रूपए थे उतने निकालकर बहुत गुस्से और नफरत के साथ उसके हाथ में थमा दिए और अपना कॉलर छुड़ाकर बिना कुछ बोले सीढ़ियों की तरफ बढ़ा।

उसने फिर झपटकर पीछे से मेरा कॉलर पकड़ लिया। रूपए वापस मेरी जेब में ठूँस दिए और मुझे एक तरफ धकेल दिया, "साले, दोस्ती के लिहाज़ से उधार माँग रहा था। कोई भीख नहीं माँग रहा था। जा, आज के बाद कभी नहीं डालूँगा तेरी जेब में हाथ।"

मेरा गुस्सा उसकी इस हरकत से और भड़क गया। मैंने सीढ़ी चढ़कर दोनों हाथों से उसकी कमीज़ को दबोच लिया और उसे रेलिंग तक धकेलते हुए ले गया। मैंने उसे ऊँची आवाज़ में फटकारा, "दो साल से तेरी तानाशाही सह रहा हूँ। दो साल से न तू खुद चैन से जी रहा है, न मुझे जीने दे रहा है। बोल, क्या चाहता है तू? तकलीफ क्या है तुझे-यह बता!"

"उसने बहुत नाराज़ नज़रों से मुझे देखा। फिर नाराज़गी कम हो गई और विवशता डबडबा आई। उसने सिर झुका लिया। बहुत देर तक वह यूँ ही खड़ा रहा। उसकी चुप्पी ने मुझे बेसब्र कर दिया। नशे और गुस्से की रौ में मैंने उसे तीन-चार तमाचे जड़ दिए। मेरे इस आकस्मिक हमले से बचने की उसने कोई कोशिश नहीं की; केवल लिए लटकाए खड़ा रहा। वह अपने भीतर चकराती किसी चीज़ को पकड़ने की कोशिश कर रहा था। कुछ देर बाद उसने सिर ऊपर उठाया और मेरी बाँह पकड़कर मुझे घसीटने लगा।....

"हम जिस अपपटे ढंग से सीढियाँ उतर रहे थे, उसमें कभी भी गिर पड़ने का खतरा था। न तो वह खुद को सँभाल पा रहा था, न मुझे सँभलने का मौका दे रहा था। आखिर हम दोनों के पाँव एक-दूसरे से उलझ गए और उस उलझन ने हम दोनों को सरेआम तमाशा बना दिया-एक ऐसा तमाशा जिसे दिखने की फुरसत भी किसी को नहीं थी।....

"न उसने उस हास्यास्पद स्थिति की परवाह की, न मेरे सिर से बहते खून की। वह फुर्ती से उठा, मेरी कमीज़ का कॉलर पीछे से पकड़कर मुझे खड़ा किया और भीड़ को धकेलते हुए मुझे बीच सड़क में ले आया। मैंने अपने-आपको छुड़ाने की बहुत कोशिश की, मगर रास्ते-भर वह मुझे घसीटता रहा और एक नाइट बीयर बार के सामने ले-जाकर उसने मुझे ऐसे धकेला जैसे कोई हवलदार किसी मुजरिम को लॉकअप में धकेलता है।...

"बार के अंदर बजते तेज़ संगीत की सनसनाहट और जलती-बुझती रंगबिरंगी रौशनियों की चकाचौंध ने एक पल के लिए मेरे दिलो-दिमाग को चकरा दिया। हड़बड़ी में मैं एक बेट्रेस से टकरा गया। मैंने सहारे के लिए उस टेबुल के कोने को पकड़ लिया। कुछ देर के बाद मेरे सिर की चकराहट ज़रा कम हुई, मगर मुझे समझ नहीं आ रहा था कि रॉबर्ट मुझे वहाँ क्यों धकेल गया।...

"बाद में एक चीज़ मुझे सबसे पहले समझ में आई कि वहाँ डांसिंग फ्लोर

पर जिस पॉपुलर फिल्मी गाने पर मुजरा चल रहा था, उसकी धुन नीतिन मेहता ने कंपोज़ की थी। वही नीतिन मेहता जिसके लिए रॉबर्ट के दिल में नफरत के सिवाय कुछ नहीं था।...

"तभी वह गाना खत्म हो गया। एक पल की खामोशी के बाद एक बहुत तेज़ और धमाकेदार डिस्को गीत शुरू हुआ। यह गीत भी उसी फिल्म का था। नीतिन मेहता ने स्टीवी वंडर के एलबम से इसकी धुन लिफ्ट की थी और उसमें राजस्थान का चोली-घाघरा, भोजपुरी की कामुक ठुमकी, गुजरात का गरबा और पंजाब के भाँगड़े को बहुत भोंडे और अश्लील ढंग से मिलाकर एक बहुत ही अजीब कॉकटेल तैयार किया था। बेहद असरदार और तुरंत दिमाग पर हमला करने वाले हैवी मैटल के स्ट्रोक्स के साथ डांसिंग फ्लोर पर जो लड़की आई, उसे देखते ही हुल्लड़ मच गया। उसने बेहत तंग चोली और घाघरा पहन रखा था। चोली के पिछले हिस्से में कपड़ा नहीं था; सिर्फ एक पतली-सी डोर थी। दर्शकों की तरफ पीठ फेरे वह अपनी कमर और नितंब मटका रही थी। कुछ देर बाद ढोलक की एक तेज़ थाप से साथ उसने अपना मुँह घुमाया और उसका चेहरा देखते ही मैं सन्न रह गया। वह रॉबर्ट मास्टर की बेटी विनी थी। लोग उसे ललचाई नज़रों से देख रहे थे; हाथों में नोट निकालकर उसे अश्लील इशारों से अपने पास बुला रहे थे। वह नाचते-नाचते नोट दिखानेवाले के पास जाती और बड़ी अदा से मुस्कराकर रूपया ले लेती। नोट के आदान-प्रदान के दौरान दो हाथों के बीच जो एक लिज़लिजी-सी चीज़ थी, उसे देखकर मेरे अंदर से एक बहुत तिलमिला देनेवाली और बेसँभाल उबकाई उठी। मैं बार से फौरन बाहर निकला और भीतर का सारा कुछ सड़क पर उलीच दिया। उस उल्टी के तुरंत बाद मुझे यह समझ आ गया कि रॉबर्ट क्यों खुद को चैन से जीने नहीं दे रहा है।"

एक लंबी बातचीत के बाद जब हम कैफे से बाहर निकले, तब दिन करवट बदल रहा था। धूप की पारी समाप्त हो रही थी और भाम के लंबे साए सड़कों पर फैलते जा रहे थे। रॉबर्ट की याद बूढ़े की खुशमिज़ाजी पर फिर किसी काले

साए की तरह छा गई। वह चुपचाप चलता चला जा रहा था। कुछ देर बाद वह अपने-आपमें इतना खो गया कि उसे ध्यान न रहा कि मैं उसके साथ हूँ। चलते-चलते वह बीच-बीच में कुछ बड़बड़ा भी रहा था। उसकी बड़बड़ाहट मेरी समझ से बाहर थी। साफ जाहिर था- वह अपने प्रतिसंसार में चला गया था- एक दूसरी दुनिया में, जिसमें सिर्फ स्मृतियाँ और काल्पनिक यथार्थ होता है, वर्तमान की ठोस वास्तविकता से एकदम परे।

वह पोर्चुगीज़ चर्च की लंबी पटरी पर बहुत सुस्त कदमों से चल रहा था। मैंने उसे चुपचाप चलने दिया। उससे कोई संवाद करने के बजाय मैं केवल उसकी आकृति को निहारता रहा। उसकी स्वेड की शानदार भूरी पैंट, सफेद शर्ट और शर्ट के पीछे गेलिस की क्रॉस पट्टी, ब्लैक कैप और कैप के नीचे लहराते सफेद बाल, कंधे पर लटकता चमड़े का बैग और बैग से झाँकता सेक्सोफोन का गोल मुँह। उसकी आकृति आज एस्थैटिकली इतनी रिच थी कि बीते हुए कल की चिक्कट कंगाली का कहीं कोई अभास नहीं था।

वह पटरी पार करके बाईं तरफ मुड़ गया। थोड़ी दूर जाकर उसने फूलवाले की दुकान से फूल खरीदे और नज़दीक के एक बस-स्टॉप के क्यू में खड़ा हो गया। मैंने उससे यह पूछना ज़रूरी नहीं समझा कि वह कहाँ जाना चाहता है। मैं भी उसके पीछे क्यू में खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद एक बस आई और हम दोनों उसमें फुर्ती से चढ़ गए। तीन-चार स्टॉप के बाद हम एक उजाड़ इलाके में उतर गए। बस-स्टॉप के ठीक समाने एक सिमिट्री थी। व सिमिट्री के अंदर दाखिल हुआ और सीधे उस कब्र के सामने जाकर खड़ा हो गया, जिसके सफेद पत्थर पर काले अक्षरों से रॉबर्ट के जन्म और मृत्यु के बीच का अंतराल अंकित था।

उसने कंधे के बैग उतारकर ज़मीन पर रख दिया और फूल कब्र के पत्थर पर रख दिए। कुछ देर के मौन के बाद उसने अपने बैग से सेक्सोफोन निकाला और उसके बाद गिफ्ट पैकेट। जब उसने पैकेट पर रैपर खोला तो उसमें से

पीटर स्कॉट की बोतल निकली। वह बोतल उसने एक अर्से से सँभाल रखी होगी, किसी खास मौके के लिए। बोतल का ढक्कन जब वह खोल रहा था तब मैंने देखा, चेहरे पर वही कल वाली आक्रामक बेचैनी थी, बल्कि उसका चिकना और साफ-सुथरा चेहरा कल से भी ज्यादा घातक परिमाणों के पूर्व का संकेत दे रहा था। ढक्कन खोलने के बाद उसने शराब और सेक्सोफोन को आमने-साामने किया और पूरी बोतल सेक्सोफोन में उड़ैल दी। शराब सेक्सोफोन की पतली-दुबली रीप में से बहती हुई माउथपीस से बाहर निकली और पूरी कब्र कर फैली गई।

खाली करने के बाद उसने पूरी ताकत से बोतल सिमिट्री के एक कोने में उछाल दी। बोतल हवा में लहराती हुई सीधे एक कब्र से सलीब से टकराई और काँच के टूटने-बिखरने की आवाज़ ने सिमिट्री के सन्नाटे को झकझोर दिया।

फिर एक पल की खामोशी के बाद उसने अपने साज़ को ग़ौर से देखा। इस देखने में एक ऐसी चुनौती थी, जो किसी प्रतियोगी की आँखों में अंतिम राउँड के दौरान दिखाई देती है।

और अब उसने साज़ को होंठों से लगाया, तब पहली ही फूँक से जो आवाज़ निकली वह किसी भोंपू से निकली भोंडी भर्राहट से भी बदतर थी। बूढ़े ने गंदी गली बकते हुए साज़ को जोर से झटक दिया । अंदर बची हुई शराब की बूँदें बाहर छिटक गईं। उसने माउथपीस को रूमाल से रगड़कर साफ किया और एक लंबी फूँक लगाई, जो सेक्सोफोन की देह में अपना काम कर गई। उसने उस फूँक को सँभालकर सिमिट्री के सन्नाटे में आगे बढ़ाया और लय की एक लंबी रेखा खींची। पहले नीचे से हल्के और महीन, फिर ऊपर जाकर चौड़े और वज़नदार स्वरों का सीधा फैलाब, जिसमें सम से सम पर लौटने की आवृत्तिमूलक मजबूरी नहीं थी, कहीं पीछे लौटने की गुंजाइश नहीं थी - सिर्फ आगे और किसी अज्ञात अंत की तरफ बढ़ती अराजकता, न उसे कोई रोक सकता था, न थाम सकता था।

कुछ ही देर में मुझे मालूम हो गया कि वह बजा नहीं रहा है, बल्कि कब्रिस्तान में भटकती किसी लय या बीते दिनों की खून-खराबे से सनी यादों से अपने उत्तप्त और क्षुधित फेफड़ों को शांत कर रहा है।

मेरे लिए यह ज़रूरी था कि तुरंत उसे रोक दूँ, मगर वह धुन न तो मुझे सुनाने के लिए बजाई जा रही थी, न मैं उसका एकमात्र श्रोता था। मेरे अलावा वहाँ उस संगीत कान्फ्रेंस में कुछ कब्रें थीं, कुछ सलीबें थीं और कुछ उजड़े हुए बूढ़े दरख्त भी थे, जो उसके असली श्रोता थे।

कुछ देर बाद जब साए लंबाई की आखिरी हद तक पहुँच गए, प़रिंदे दरख्तों पर वापस लौट आए और अँधेरा आहिस्ता-आहिस्ता कायनात को घेरने लगा, तब अचानक बूढ़े ने सेक्सोफोन से मुँह हटा लिया। कुछ देर तक वहाँ सब-कुछ थम-सा गया, जैसे किसी छटपटाती हुई चीज़ ने अभी-अभी दम तोड़ा हो। बूढ़ा बहुत तेज़ी से हाँफ रहा था। उसकी नसें अभी तक तनी हुई थीं। वह बड़ी मुश्किल से चार-पाँच कदम आगे बढ़ा और एक पेड़ के तने से पीठ टिकाकर बैठा गया। मैं उसके नज़दीक गया तो उसने मुझे भी अपने पास बैठने का इशारा किया। मैं उसकी बगल में बैठ गया।

"यह एक बिटनिक धुन थी।" साँस सँभलने के बाद उसने कहा, "रॉबर्ट बिटनिक के खूँखार कारनामों का भक्त था।"

"और तुम?" मैंने पूछा, "तुम कौन-से पंथ के हिमायती हो?"

"मैंने जाज़ और इंडियन क्लासिकल के बीच का खाली रास्ता चुना था और आज भी उसी रास्ते पर चल रहा हूँ।

"यह रास्ता कहाँ जाकर खत्म होता है?"

"वहीं जहाँ से वह शुरू होता है।"

"यानी?"

"यानी सम से सम पर।"

"तुम्हें इसलिए ऐसा नहीं लगता क्योंकि मेरा साज़ सेक्सोफोन है और फेफड़ा ठेठ हिंदुस्तानी। मेरा साज़ जाज़ के भड़काऊ प्रभावों में आकर कभी-कभी बहक जाता है, पर मेरा फेफड़ा उसे पकड़कर फिर वापस कायदे पर ले आता है।"

"लेकिन अभी तुम जो बजा रहे थे, उसमें कहीं हिंदुस्तानी कायदे की पकड़ नहीं थी।"

"हाँ।" उसने स्वीकृति में सिर हिलाया। फिर किसी सोच में पड़ गया।

"क्या तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारी धुनें 'कायदे' से छुटकारा पाकर किसी ग़लत रास्ते में अटक गई हैं?"

उसने एक झटके से मेरी तरफ सिर घुमाया और कुछ आश्चर्य से मुझे देखने लगा। फिर नज़रे झुका लीं और बहुत संजीदगी के साथ कहा, "यह गड़बड़ी रॉबर्ट की मौत के बाद शुरू हुई... मैंने रेल की पटरी पर उसकी लाश देखी थी। उसके दोनों हाथ कट गए थे और एक हाथ को एक कुत्ता उठा ले गया था. .. उस दृश्य ने मेरी साँस को खरोंच डाला... मेरी फूँक में अब पहले जैसी सिफ़त नहीं रही।"

"सिफ़त है..." मैंने ज़ोर देकर कहा, "उतनी ही जितनी किसी कलाकार के भीतर होनी चाहिए। कोई भी हादसा कलाकार के अदंर की ख़लिश को खत्म नहीं कर सकता, अगर उसके अंदर ज़रा-सी भी ईमानदारी है।"

"ईमानदारी" उसने घूरकर मुझे देखा।

"हाँ, जब हम अपनी कमज़ोरियों का दोष समय पर मढ़ने लगते हैं, तब हम किसी और के साथ नहीं, खुद अपने साथ बेईमानी करते हैं।"

उसने गुस्से से फनफनाते हुए मेरा कॉलर पकड़ लिया। चेहरे से लगा कि अभी मुझे तमाचा जड़ देगा, मगर अगले ही पल उसका हाथ शिथिल हो गया, जैसे उसके भीतर से कुछ स्खलित हो गया हो, और उस स्खलन में सिर्फ तात्कालिक उत्तेजना का ही नहीं, बल्कि एक पूरी उम्र से अर्जित अकड़ का अंत था।

"मुझे अब साँस लेने में तकलीफ होती है।" उसने बहुत विवश निगाहों से मुझे देखा, "मैं जितनी तेज़ी से साँस छोड़ता हूँ, उतनी ही तेज़ी से साँस खींच नहीं पाता..."

"अगर तुम खींचते कम हो और छोड़ते ज्यादा हो तो खिंची हुई छोटी साँस एक लंबी फूँक के रूप में कैसे बाहर आती है?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"मुझे मालूम नहीं यह कैसे होता। सिर्फ यह महसूस होता है कि हर फूँक के साथ मेरे भीतर से कुछ गलकर बह रहा है।"

और तब पहली बार मझे उस पर दया आई। मैं देर तब उसका चेहरा देखता रहा। मुझे तुरंत समझ में आ गया कि उसके भीतर से गल-गलकर क्या बह रहा है। मैंने उसके हाथ से सेक्सोफोन ले लिया - "कुछ दिनों तक इसे मत बजाओ। केवल लंबी साँसें लो। अपने-आपको पूरा समेटकर अपनी मैग्नेटिविटी को बढ़ाओ। फिर तुम देखना, सब-कुछ वापस भीतर आ जाएगा। जो कुछ गलकर बह गया है, वह रिकवर हो जाएगा। तुम कोशिश करो... मैं इस मामले में तुम्हारी मदद करूँगा।"

"मैं किसी भी तरह की मदद से बाहर हो गया हूँ और अब कुछ भी हासिल नहीं करना चाहता।"

"क्या?... क्या चाहते हो तुम?" उसका स्वर ज़रा ऊँचा हो गया।

"मैं देखना चाहता हूँ कि..."

"क्या देखना चाहते हो? यह कि मैं कैसे दम तोड़ता हूँ? कि कैसे मेरे मुँह से खून की उल्टी होती है।?"

"नहीं, मैं देखना चाहता हूँ कि तुम सेक्सोफोन बजा सकते हो कि नहीं। अभी तक तो वह तुम्हें बज़ा रहा था।"

उसकी भौंहें फिर तन गईं। चुनौतीपूर्ण आँखों से कुछ देर तक वह मुझे

देखता रहा, फिर मेरे चेहरे से नज़रें हटाकर सेक्सोफोन पर निगाह डाली। अपनी गोद में लेकर प्यार से उसे दुलराया, फिर वापस अपने बैग में रख दिया और उठ खड़ा हुआ। बैग को एक हाथ से कंधे पर लटकाने के बाद उसने हाथ मेरे कंधे में डाल दिया और हम दोनों सिमिट्री के बोसीदा अँधेरे से बाहर निकलकर शहर की जगमगाती रौनक में आ गए।

हम पटरी पर चल रहे थे। उसकी बाँह अब भी मेरे कंधे पर थी। मुझे उसके हाथ का दबाव पहले की तुलना में कुछ नर्म-सा लगा। उसकी चाल में भी अब पहले जैसी अकड़ नहीं, खम था।

"घर की तरफ लौटते हुए मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मैं अपने लक्ष्य की तरफ लौट रहा हूँ।" उसने बहुत धीमी आवाज़ में कहा।

"तुम्हारा लक्ष्य क्या है?" मुझे उम्मीद थी कि वह अपनी किसी बहुत गहरी महत्त्वाकांक्षा को उकेरेगा या बरसों से सोए हुए स्वप्न को जगाएगा।

मगर उसका जवाब बहुत संक्षिप्त था - "सेक्सोफोन बजाना।"

हालाँकि उसने यह बात बहुत सहज ढंग से कही थी, मगर उसमें एक छुपा हुआ अर्थ था। मैंने उस अर्थ की गंभीरता को बनाए रखा। रास्ते-भर मैंने उससे कोई बात नहीं की।

शहर की तमाम चीज़ें अब भी उतनी ही कठोर, निरूत्साही और अश्लील थीं, लेकिन अब किसी भी चीज़ से उलझने-टकराने या उसे तोड़-मरोड़ देने की उसके भीतर कोई तलब नहीं थी। उसकी इस गंभीरता से मैं ज़रा आश्वस्त हुआ। उससे विदाई लेते समय मुझे यह भरोसा था कि वह बिना किसी परेशानी के अपने घर पहुँच जाएगा।

(हंस, 1995)

मनोज रूपड़ा

अपने नये शिल्प के लिए जाना जाने वाले मनोज रूपड़ा का जन्म 16 दिसम्बर 1963 को खेतपुर, गुजरात में हुआ। मनोज निजी व्यवसाय करते हुए साथ-साथ साहित्य को साधने का काम करते रहे। प्रायः लम्बी कहानियां लिखीं और उनमें एक अलग तरह की भाषा, एक अलग तरह की शिल्प के साथ मजबूत विषय को पकड़ने की कोशिश की। 'दफन और अन्य कहानियां' तथा 'साज-नासाज़' दो कथा संग्रहों के अतिरिक्त एक उपन्यास 'प्रतिसंसार' प्रकाशित है।

सम्पर्क :- 'रब्न-नूर' लेन नं. -1, प्लाट नं. - 165,
क्रिश्चन कॉलोनी, मेकोसाबाग़, नागपुर, महाराष्ट्र
फोन - 0712-2767428

गलत

योगेन्द्र आहूजा

कभी किसी काम से आपको उस दुकान तक जाना पड़े, जहाँ बोर्ड लगा होता है, अलानी प्रापर्टीज़ या फलाने एसोसियेट्स का, मतलब किसी प्रॉपर्टी डीलर के पास, तो याद रखिएगा, वह झूठ का पुलिन्दा होता है, उसके भीतर सिर्फ झूठ भरा होता है, ढेरों झूठ। रजिस्टरों, फाइलों और दीवार पर चिपके मकानो और कालोनियों के चित्रों और नक्शों के बीच घूमती कुर्सी पर बैठा हुआ जब वह कहेगा कि फलानी जमीन, मकान या फ्लैट बस आखिरी बचा है, सिर्फ आपके लिए, यह झूठ होगा। वह उनकी जो कीमत या किराया बताएगा वह झूठ होगी। जब वह कहेगा कि उस मकान के मालिक माथुर साहब हमेशा के लिए विदेश जा रहे हैं, इसलिए औने-पौने में जल्दी-से-जल्दी उसे बेचना चाहते हैं, यह झूठ होगा, हो सकता है वह मकान माथुर साहब का हो ही न। जब वह आपसे कहेगा कि यह जमीन या मकान इससे सस्ते में मिल ही नहीं सकता और आप जल्दी फैसला कर लें, क्योंकि उसके लिए तीन और जने भी इच्छुक हैं, यह सफेद झूठ होगा। जब वह अपनी पत्नी को चिपकाकर उसके कानों में दिलरूबा, जानेमन जैसे प्यार-भरे शब्द कहता है, वे झूठ होते हैं, वह अपनी पत्नी से नफरत करता है, और कभी बहुत खुश होकर उन्मुक्त हँसी और आह्लाद-भरे स्वर में अपने बच्चों से जब वह कहता है, बोलो क्या चाहोगे, वह भी झूठ होता है, उस वक्त वह चाहता है कि वे दूर चले जाएँ उसकी आँखों के सामने से। जब वह कहता है कि फलाने काम से दिल्ली जा रहा हूँ, तब वह मुजफ्फरनगर जा रहा होता

है, या ज्यादा से ज्यादा मेरठ तक पहुँचकर उसे रूक जाना होता है। जब वह दाँतों में दर्द बताता है तब उसे सर्दी जुकाम, मुँह में छाले या पेट में मरोड़ या गुदगुदी, कुछ भी हो सकता है, या कुछ भी नहीं। जीवन-भर कही गयी उसकी हजारों-लाखों बातों में से कोई एक संयोगवश सच होती है, शेष सब झूठ होती हैं, या अनर्गल, कल्पनाप्रसूत और बेमतलब, इसमें इस धन्धे में आने से पहले की गयी बातों को छोड़ दिया जा सकता है। दोनों तरह से झूठ बोलता है। वह, जानते-बूझते, और वे, जो किसी न किसी तरह के अज्ञान से उपजते हैं, और वे तमाम गलत बातें भी, जो कई बार विद्वत्ता के आधिक्य का नतीजा होती हैं। उसे कभी रोता देखें तो दया दर्शाते हुए उसकी ओर न बढ़ जाएँ, वह अपने भीतर खिलखिलाकर हँसता हुआ दोहरा हो रहा होगा। अगर कभी वह बीमार पड़ा हो, और उसकी हाँफती, टूटती साँसों से संकेत मिले कि वह बस, जानेवाला है, तब भी डॉक्टर को बुलाने की कोई जरूरत नहीं, ठीक उस क्षण जब दम घुटने की आवाज आएगी और पास में खड़ी उसकी परेशान, पस्तहाल बीवी का विलाप फूट पड़ने को होगा, उसकी आँखों की पुतलियों में एक नामालूम हरकत होगी, फिर उसके होंठ हौले से हिलेंगे, एक डूबती, धीमी आवाज से वह कहेगा... पानी (शानदार ऐक्टिंग, एक भाववेगपूर्ण ड्रामा), फिर चन्द क्षणों में वह फुर्ती से उठ बैठेगा, और अपने कुत्ते को आवाज देगा।

इतनी नफरत से भरकर केशव उन दिनों तमाम प्रॉपर्टी डीलरों के बारे में ऐसा कहा करता था। सन् 80-81 के उन दिनों में इस शहर में जमीनों की कीमतें अचानक आकाश छूने लगी थीं और कुकुरमुत्तों की तरह हर सड़क पर, हर गली में प्रॉपर्टी डीलरों की दुकानें खुल गयी थीं। उसके बड़े भाई अपनी रजिस्ट्री ऑफिस की क्लर्की छोड़कर इस धन्धे में आ गये थे, और अपने बीवी बच्चों के साथ अलग रहने लगे थे, बाकी परिवार को उसके हाल पर छोड़कर। सालभर में उनके पास लाल रंग की मारूति आ गयी थी, और घर में न जाने क्या-क्या सामान। सर्वेश्वर उसकी बातें सुनकर कहता था कि यह सच है, मगर

एक बेपरदा, खुलेआम जाहिर सच, इसे इतना जोर से कहने की क्या जरूरत है।.... उन खुशनुमा मौकों को छोड़कर, जब वह एक तरह के सागरीय उल्लास में, स्वप्निल आवाज में लगातार बोलता जाता था, खून से उठती और खून तक उतरती बातें। आमतौर पर नहीं, और तब उसके बीमार चेहरे पर चिपकी उसकी रक्तमय आँखें बोलती थीं, मगर तब उसे समझ पाना, पढ़ पाना मुश्किल लगता था, जैसे कोई अज्ञात इबारत हो किसी प्राचीन भाषा में लिखी। कोने की चटाई पर वह लेटा रहता था, कमरे में होने वाली दूसरी बातों से बेखबर, और शिरीष शर्मा, जिसकी लेखक बनने की तमन्ना थी, उसकी तरफ इशारा कर कहता था, "श.....श...., दिवंगत आत्माओं से वार्तालाप में व्यस्त है वह, उसे मत छेड़ो।"

वह दुबला-पतला सूखा-लड़का था, जिसकी हड्डियों में बहुत कम फास्फोरस, मगर विचारों और सपनों का बहुत ज्यादा आवागमन था, और उसके रक्त में अत्यधिक उफान और असंयम। हाथों का तकिया बनाये वह लेटा रहता था और उसके भीतर, आदमी की अमरता के गान जैसा, बंजारनों का एक ढोल बजता रहता था, या कोई कविता, जिसमें शब्द बेशक मामूली, सबसे साधारण हों, मगर खूब रोशनी हो, चौंधिया देने वाली चमक, और जिसे पूरा पढ़ते हुए साँस रूकने लगे।... कोने में एक हीटर था जिस पर बार-बार चाय बनायी जाती थी। एक टूटी-सी चारपाई दूसरे कोने में। उस कमरे में वे सब पढ़ाई करने के बहाने से जुटते थे और बन्द दरवाजों के पीछे दुनिया जहान की बातें चलती रहती थीं - पत्तियों की सरसराहट की तरह चलनेवाली लड़कियों के बारे में, दुनिया भर के साहित्य में से छाँटी गयी उम्मीद जगाने और हसरत भड़काने वाली कविताएँ, और राजनीति और संस्कृति के बारे में, और बेस और सुपरस्ट्रक्चर के सम्बन्धों जैसे फिलॉसॉफिकल सवालों पर। तीखी चीखती आवाजों में बहसें होती थीं जिनका अन्त होता था कभी एक शोकातुर किस्म की खामोशी में जिसके बाद सब लोग आहिस्ता उतरते अँधेरे में धीमे-धीमे सिर झुकाये बाहर निकलते थे - कभी एक

बेरोक, उल्लसित रक्त-प्रवाह के साथ बारात जैसी दमकती रोशनी में जिसमें आपका मन चाहता है खूब शोर हो, चुप्पी को आईनों की तरह तोड़ देनेवाला कोई तेज रफ्तार संगीत, और थोड़ी-सी पी ली जाए। उसका घर कॉलेज के सबसे करीब पड़ता था और बाहर गली की तरफ खुलने वाला उसकी नीची, सीली छत और मटमैली दीवारों वाला कोठरीनुमा कमरा बैठकों और बहसों का एक स्थायी ठिकाना था। आते-आते वहाँ झाँक जाने का एक नियम-सा बन गया था। आदेश अवस्थी, जो अब बीमा एजेण्ड बन गया है, अलोक श्रीवास्तव डॉक्टर, एक बड़े नर्सिंग होम का मालिक, गुरविन्दर सिंह बैंक में कैशियर, शिरीष शर्मा जो उत्तर-आधुनिकतावादी लेखक है, पहले मार्क्सवादी था और जिसका विवाह अभी पिछले दिनों हुआ है, बाकी सब जनों में सबसे देरी से, और केशव, वह तो...., और शुक्ला और घोष, और तमाम दूसरे लोग जो उस जमाने में छात्र थे, वहाँ जुटते थे शाम से देर रात तक, उनमें से कोई कभी-कभी रात भर। वह पन्द्रह साल पुराना समय था, अब मन के सुनसान तलघर में कहीं उसकी काठ-कबाड़-सी स्मृतियाँ हैं, जिन्हें कभी-कभी सपने में हरकत करता, पसीजा हुआ हाथ छूता, टटोलता, फिर वैसे ही रख देता है- पुरानी एक तस्वीर, एक फ्रेम, एक शतरंज बोर्ड जिसके साथ कुछ टूटी-फूटी मुहरें, एक बेंत की कुर्सी जिसकी धज्जियाँ उड़ चुकीं, एक कभी की रूक चुकी दीवार घड़ी, और एक अपनी चिमनी की याद में सूख चुकी लालटेन का पिंजर, मगर वहीं कोने में पड़ी है एक वायलियन भी, जो वैसी ही बजती है, उतनी ही शानदार, केवल पहले से बहुत धीमी, मद्धिम आवाज में, जिसे सुनने को साँस रोकनी पड़ती है।

वह छोटी-छोटी ईंटों से कोई सौ साल पहले बना एक पुराना, जर्जर मकान था जिसमें दो मंजिले थीं और तैंसीस कमरों में दस या बारह किरायेदार। ऊपर की मंजिल में एक कतार में सीलन-भरे, खस्ताहाल फर्शवाले बरसाती जैसे कमरे थे जिनमें कबाड़ भरा रहता था, और सर्वदा एक गहन चुप्पी। नीचे की मंजिल में सर्वेश्वर के परिवार के अलावा दफ्तरों के बाबू, एक टैक्सी ड्राइवर, एक

मास्टर साहब, एक होम्योपैथी के डॉक्टर और एक अकेला आदमी रहता था जिसकी चाय की दुकान थी, और उसके कमरे पर हमेशा ताला लगा रहता था। वह पता नहीं कब आता और चला जाता था। हाँ, एक नाई की दुकान भी तो, एक ही कमरा जो उसका घर भी था, दुकान भी, उसमें आना-जाना पीछे की सड़क से होता था, वहाँ दीवार पर हीरोकट चेहरे थे और रेडियो हमेशा चीखता रहता था। और एक अकेले, अँधेरे कमरे में एक स्मगलर रहा था, मिचमिची आँखों और चौकन्ने चेहरेवाला एक अधेड़ आदमी जो बिल्ली की तरह दबे पाँव चलता था और बुलाने पर चौंककर देखता था- बीच-बीच में वह कई दिनों के लिए गायब हो जाता था, उन दिनों में वह जगलों मे गैर-कानूनी रूप से लकड़ियाँ कटवाता, लदवाता था, पुलिस और जंगलात के अफसरों को पटाता था, यही उसका धन्धा था और उसे स्कूल में पढ़ी महादेवी वर्मा, दिनकर और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की बहुत सारी कविताएँ याद थीं। कभी-कभी वह इन लोगों को चाय पिलाने अपने कमरे में ले जाता था। उसका परिवार बहुत दूर मुजफ्फरनगर में रहता था, जहाँ वह बताता था कि उसके भाइयों ने उसकी बेशुमार सम्पत्ति हड़प कर रखी थी, जिसे वापस पाने की वह कोशिश कर रहा था, और वह उसे वापस मिलने ही वाली थी, बस अगले चन्द दिनों या महीनों में, उसके बाद तो जिंदगी भर ऐश होगी। वह कहता, 'तुम लोग भी साथ चलना, मौज करना।' फिर वह कुछ पैसे उधार माँगने की कोशिश करता था। केशव ने एक बार कहा कि उस स्मगलर के मुँह से कविताएँ सुनना, अजीब, अशुभ जैसा कुछ लगता है, किसी अनिष्ट का सूचक, और वह किसी दिन उसे गली में रोककर कहेगा कि वह उन सारी कविताओं को अपने दिमाग से पोंछ डाले, चुपचाप एक शरीफ आदमी की तरह कविताओं के विश्व से बाहर चला जाए - और वह ऐसा कर देता अगर उन्हीं दिनों कॉलेज में यह फुसफुसाहट न फैल जाती कि साहित्य पढ़ानेवाला एक प्रोफेसर अपनी बीवी को लात-जूतों से पीटते हैं।

...वह मकान किसी जमाने में किसी पुराने रईस या अँग्रेज की हवेली रहा होगा, और तमाम मालिकों के नाम दाखिल खारिज होते हुए अब सेना से रिटायर एक सूबेदार साहब के पास था, जिन्होंने तीन कमरे अपने पास रखकर बाकी को किराये पर चढ़ा दिया था, जिनमें से दो में उनका परिवार रहता था, और एक में थी एक प्रिंटिंग प्रेस जहाँ के फीके अँधेरे में एक कम्पोजीटर लोहे के अक्षर बीनता रहता था, और बीड़ी और स्याही की गन्ध भरी रहती थी। रोज सुबह और शाम हर किरायेदार के मकान के आगे अँगीठियाँ जलती थीं, कोयले की गन्ध और सफेद धुआँ आँगन में और हर कमरे में भर जाता था और होम्योपैथी का डॉक्टर चीखते-चिल्लाते बाहर आता था, और बकने-झकने के बाद अपना कमरा बन्द कर लेता था, क्योंकि उसकी दवाइयाँ धुएँ से खराब हो सकती थीं।

रात हो जाने पर वह मकान अन्धकार में एक जगमग जलयान जैसा लगता था- हर खिड़की पर रोशनी का एक चमचमाता चकत्ता होता था और तमाम तरह की आवाजों का शोरगुल उठता रहता था- बिगुल की तरह बजता रेडियो, उसकी उठती-गिरती आवाज, कोने से आती प्रिंटिंग प्रेस की लगातार खट-खट, किसी को चिल्लाकर बुलाता कोई, और बच्चों का रोना-चीखना। बाकी गली खामोश रहती थी, केवल तेज हवा में खिड़कियों के पर्दे साँय-साँय बाहर को लपकते थे। सर्वेश्वर का कमरा बन्द रहता था और भीतर बहुत तेज और जहीन दिमागों वाले ऊपर लिखे और बहुत सारे लोग फुसफुसाहटों में बातें करते थे - बेआवाज समय के भीतर जो पक रहा था उसके और बहुत दूर पर स्थित किसी सुनहरे सूर्योदय के बारे में, ताजा पढ़ी किताबों और मार्क्सवाद के बारे में, और शहर भर की वे लड़कियाँ, या वह कोई एक लड़की, जो इतनी खूबसूरत हो कि उसके लिए एक ही शब्द दिमाग में आए-नृशंस, जिसके बारे में जल्दी से बताना चाहता है यह लेखक कि वैसी एक, मगर केवल एक ही-लड़की हिन्दुस्तान की नगर और कस्बे में है, किसी अन्य समय में जीनेवाली, अपने साम्राज्य की मलिका-और वे स्त्रियाँ, जिनकी बदचलनी के किस्से फैलने लगे थे क्योंकि वे

आकाश गंगाओं तक जाना चाहती थीं, और.... और सर्वशक्तिमान के बारे में। हाँ, ईश्वर भी, और क्यों नहीं। बेअक्ल और बुद्धू लड़कों को छोड़कर उसके होने न होने के बारे में बीस-बाईस बरस की उम्र में हर व्यक्ति बहसें करता, करना चाहता है-सुबह से कुछ देर बाद की तीखी और अकलुष धूप जैसी उस उम्र में जब शरीर के गोपन भेद और महान किताबों के मतलब धीरे-धीरे खुलना शुरू होते हैं। तमाम प्रचलित धारणाओं की तरह यह झूठ है कि ईश्वर से मतलब केवल उन्हें होता है जिन्हें उम्र काफी थका या छका चुकती है, यानी बूढ़ों को-कभी चुपके से बीस बरस के लड़कों की बातें सुनिए। अधिक से अधिक पच्चीस बरस की आयु तक उसके बारे में किसी न किसी नतीजे पर पहुँच जाया जाता है - या तो माता-पिता और परम्परा से मिलने वाला वही बहुत पुराना, पुराकालीन, एण्टीकनुमा ईश्वर, विचारों को बहकने से रोकने वाला खानदानी कनटोप या फिर आज तक के मानवीय इतिहास में जीवन की क्रूरता के प्रतिवाद में जो रचे, सोचे गये, उन ऊष्णतम विचारों और शक्तिशाली शब्दों का एक दीर्घावधि तक रक्त में घुलते रहना, किसी एक रात अँधेरे में तीन बजे की नींद में कोई आवाज सुनकर उठ बैठना, और ईश्वर की बाधा को पार कर जाना। उस निःशब्द घुप अँधेरी रात में तुम देखते हो चारों तरफ, हृदय में एक भयग्रस्त उथल-पुथल होती है, मन काँपता है, तेज हवाओं में फँसकर जैसे कोई पौधा या पत्ती फड़फड़ाती है- मगर फिर कहीं से आता है एक चिरयुवा अनश्वर हाथ, कन्धों पर दोस्ताना तरीके से थपथपाता है। वह सब कुछ से विदाई लेने का क्षण होता है... निकल पड़ने का कम्पास और एटलस लेकर, झोले में कुछ किताबों के साथ, दुस्साहसी, विश्वव्यापी यात्राओं पर। ....मगर इसका सिर्फ इतना ही मतलब है, या होना चाहिए, कि तब ईश्वर अपने तमाम आध्यात्यिक और रहस्यमय अर्थों को तजकर मानवीय माने धारण करता है। वह जो अँधेरे में कहीं से आता है अचानक, उसका भी नाम खुदा होता है, कुछ और थोड़े ही-यूँ तो कोई फर्क नहीं पड़ता उसे कुछ नाम दे दिया जाए। यह याद रखना जरूरी है,

हमेशा, हमेशा, हमेशा... कि भरी दुपहरी लालटेन लेकर ईश्वर की मृत्यु की घोषणा जिस दार्शनिक ने की थी, बाद में उसकी किताबे फासीवादियों की पाठ्य पुस्तकें थीं-बेशक यह भुलाते हुए नहीं कि सारी दुनिया में फासीवादियो की सबसे ज्यादा, सबसे पहली कोशिश होती है कि खुदा उनकी तस्दीक करे, उनके समर्थन में हाथ खड़ा करे।... ईश्वर उसके बाद भी सपनों में आता है, इस बार भिखारी-सा चेहरा, लाठी पकड़े, चीथड़े पहने और काला-कलूटा। केवल उसकी गहरी आँखें नीली, पूर्व से पश्चिम तक। आप उससे कुछ कहना चाहते हैं, मगर एक अधटूटी हकलाहट में कुछ कहा नहीं जाता, और वह चला जाता है, और आपको बहुत शर्म आती है।

यह ईश्वर के बारे में इस नैरेटर के खयाल नहीं, सर्वेश्वर पुराण था जिसे वह कभी-कभी किसी गरमी की दोपहर में, जब सूर्य नीचे झुक आता था, और पृथ्वी की पपड़ी सुलगने लगती थी, कबाड़ी बाजार या लाइब्रेरी से लायी बहुत सारे ज्ञात-अज्ञात लेखकों, ज्ञानियों, विद्वानों की किताबों के बीच फर्श पर बैठकर सुनता था, जिसे सुनकर शिरीष शर्मा उसकी पीठ पीछे कहता था कि वह दरअसल 'डीपली रेलीजियस' है, और उस वक्त जबकि वह एक उदास चुप्पी में मार्क्सवाद बुदबुदाता है, उस वक्त भी उसके दिमाग में मेटाफिजिक्स होती है, और, कि इस आदमी का जीवन बीतेगा बस खूबसूरत शब्दों की खुसर-फुसर में, उनसे वह अपनी आजीविका भी कमा लेगा, मगर इससे ज्यादा कुछ नहीं। और खुदा न खास्ता वह लेखक, कवि या प्रोफेसर अध्यापक जैसा कुछ बन गया तो उसके पाठकों और छात्रों की आत्माएँ और मस्तिष्क हरदम लबालब रहा करेंगे, एक महान रचनात्मक शक्ति से भरे हुए - मगर उस वक्त जब वे तैयार होंगे इस देश और समाज में हर समय, हर घड़ी चल रही उस बहुत बड़ी लड़ाई में उतरने को, दिमाग में उसके शब्द और वाक्यांश दोहराते हुए, वह उस समय वैष्णोदेवी जानेवाली ट्रेन के बैठा होगा। शिरीष शर्मा ने सर्वेश्वर को इन बातों का जवाब देने का कभी मौका नहीं दिया, मगर केशव ने उसे एक बार दीवार के

पास रोककर साफ-साफ समझाया था कि ये टिप्पणियाँ ओछी और बेवकूफाना थीं, क्योंकि सर्वेश्वर की बातों से ऐसा कोई नतीजा नहीं निकलता, दूसरे, हर हाल में यह बेहतर है कि ईश्वर से शुरूआत में निबट लिया जाए क्योंकि शुरूआत में उससे कतराने का नतीजा होता है आखिर में उसी तक लौट आना, और फिर खुदा और खुदा में भी फर्क होता है। शिरीष अपनी खाली-खाली आँखों से उसे खामोश ताकता रहा था।

शिरीष शर्मा के बारे में थोड़ी तफसील से यह, कि वह इस मण्डली में अभी कुछ ही दिन हुए दाखिल हुआ था। उसका छोटा-सा गाँव पहाड़ों के पीछे कहीं था जहाँ इण्टमीडिएट की पढ़ाई करने के बाद आगे की पढ़ाई करने वह यहाँ आया था और बतौर पेइंग गेस्ट पी.डब्ल्यू.डी से रिटायर एक इंजीनियर साहब की बड़ी-सी शानदार कोठी के एक कमरे में रहता था। इन इंजीनियर साहब के पिता उसी के गाँव में किसी सुदूर जमाने में रोजी-रोटी की तलाश में यहाँ आये थे, उन्हें गुजरे हुए भी अब एक लम्बा अरसा हो चुका था। अपने गाँव का जब वह जिक्र करता था तो लगता था कि ग्रहों के शुभाशुभ कितने योग जुड़े हैं उससे मसलन वहाँ धीमे-धीमे हिलते पेड़ थे, पहाड़ी हवाओं में फँसकर जो यूँ फड़फड़ाते थे जैसे निर्बाध भागती एक अश्व-सेना.... उसके घर के सामने एक चुपचाप नदी बहती थी और उसमें सूर्य के परावर्तित होते सिन्दूरी रंग के प्रकाश में शिकारी कुत्तों की तरह एक-दूसरे का पीछा करती, मगर एक ही विराट रचना के अंशों की तरह विलक्षण रूपाकृतियाँ प्रकट होती थीं, उस नदी पर बने एक पुराने पुल पर चढ़ना ऐसा होता था जैसे किसी भग्न रोमन किले की कगार पर, और वहाँ से नीचे झाँकना ज्यों काल में ताकना, मतलब यह कि बेहिसाब अभिव्यक्तियाँ जीवन की-मगर कई बार कहने के बावजूद वह कभी किसी को अपने गाँव नहीं ले गया जिसकी वजह वही जानता होगा। वह किसी को कभी अपने कमरे पर भी नहीं ले गया, क्योंकि वह बताता था कि वह मैला-कुचैला कमरा है, और वहाँ चाय का भी कोई इन्तजाम नहीं है, हालाँकि सबको मालूम था कि उसकी चाय,

खाना, नाश्ता किराये में शामिल है, और उस जे.ई.की बेटी (उसका नाम भी मालूम था सबको, डॉली) जब उसके कमरे में नाश्ता लेकर आती है तो वह उसकी उँगलियाँ सहला देता है, और वह लड़की भी... और कोई आँख मारकर कह भी देता था, यार सबसे ज्यादा मजे तो तेरे ही हैं। यह लड़की मुहल्ले के एक हीरोनुमा लड़के के साथ अभिनेत्री बनने मुम्बई भागकर जा चुकी थी, और उनके पीछे-पीछे जे.ई.भी गया था और हफ्ता-भर उसे हर स्टूडियो में और समुद्र तटों पर तलाशता रहा था। आखिर वह फिल्मिस्तान स्टूडियो के बाहर उसी लड़के के साथ एक चाय की दुकान में चाय पीती मिली थी। वह उसे समझा-बुझाकर किसी तरह वापस लाया था, लड़का वहीं रह गया था।.... शिरीष शर्मा उन सबमें सबसे ज्यादा जहीन था, सबसे ज्यादा पढ़ता था, और उसके पास बहुत तेज, तर्कशील, विश्लेषणपरक दिमाग था, हालाँकि दूर की कौड़ी लाने और अलग दीखने की चाह में अकसर उसके तर्क बेहूदे होते थे, पिट जाने के बाद भी जिन्हें वह पीटता चला जाता था, मसलन, किसी ने एक बार कहा कि क्रान्ति के बाद सोवियत संघ से गोगोल की 'ओवरकोट' के मुकाबले की एक भी रचना नहीं आयी, अधिकतर जो लिखा गया वे ट्रैक्टरों और सामूहिक फार्मों पर लिखी कचरा कविताएँ थीं। सर्वेश्वर ने इसका जवाब दिया यह कहकर कि क्रान्ति के बाद शताब्दियों में पहली बार लाखों जनगण को जुबान मिली थी और यह स्वाभाविक था कि पहली कोशिश में उनकी रचनाएँ रद्दी हों, और किसी ने शोलोखोव, गोर्की, मायकोवस्की, पास्तरनाक और येस्येनिन का जिक्र करना चाहा, मगर शिरीष शर्मा, सुनिए, शिरीष शर्मा कहता है कि उन तमाम कूड़ा रचनाओं को क्रान्ति की सफलता के प्रमाण के रूप में देखा जाना चाहिए क्योंकि महान गौरवग्रन्थ वहीं रचे जाते हैं जो समाज पाप और पतन में डूबा होता है। इस पर केशव ने उसे इतनी जोर से चीखकर चुप कराया कि उसका चेहरा फक पड़ गया।

बहसें चलती रहती थीं, और बीच-बीच में सर्वेश्वर तमाम उत्सुक चेहरों

और तन्मय तकती आँखों के जमाव के बीच अपनी शान्त और अविचलित आवाज में कविताएँ, प्रेम से सराबोर कविताएँ होती थीं, अग्निशिखा-सी उन काल्पनिक कन्याओं को सम्बोधित, जिनकी आँखों में विषाद और कामनाएँ होती थीं। यह श्मशान में मन्त्रपाठ की तरह किन्हीं गुमसुम रहस्यों को टटोलना था, या दुरात्माओं को भगाने के लिए सहस्त्रनाम का पाठ। कविताओं में सबसे प्रिय लगता था 'प्रिय' शब्द, जब भी वह आता था हर्षनाद की एक हल्की गूँज-सी उठती थी और 'द्वन्द्ववाद' शब्द बातचीत में सबसे ज्यादा आता था। कविताओं की अति हो जाने पर घोष बीच-बीच में जरूर कह देता था कि यार किस चक्कर में पड़े हो, यह बताओ कि पढ़ाई पूरी होने के बाद धन्धे-पानी का क्या जुगाड़ होगा। यह घोष, जिसके पिता की लोहे के सामान और हार्डवेयर की एक छोटी-सी दुकान थी, कॉमर्स का छात्र था और शाम को लाइब्रेरी जाकर पूरे मनोयोग से फाइनेंशियल एक्सप्रेस जैसे अखबार और टाइम्स ऑफ इण्डिया का 'बिजनेस एण्ड इकॉनामी' पेज पढ़ा करता था, माथे पर गहरी लकीरें डालकर किसी जासूस की तरह टोह लेते हुए कि मुल्क की अर्थव्यवस्था किस तरफ जा रही थी और उसका अगला मुकाम कौन-सा था। वह अकसर रात के समय आता था और कमरे में बेआवाज प्रवेश करता था, दीवार पर उसकी वृहत्काय, काली छाया पड़ती रहती थी। कोने में खड़ा रहकर वह कहता था कि तुम लोग ब्रेख्त और प्लेखानोव के साथ क्या मगजमारी करते हो, जिसका कहीं से कोई जवाब न आने पर, देर तक खामोशी छायी रहने के बाद, वह अपने कुबड़े कन्धों और काली छाया को समेटकर चुपके से अँधेरे में चला जाता था।

बीच का जर्जर, झूलता दरवाजा हमेशा बन्द रहता था। उस दरवाजे में छेद और दरारें थीं, और ठीक उस समय, जब किसी मुश्किल-सी लगती कविता के मानी मुट्ठी में पकड़ने को ही होता था हाथ, पता नहीं किसका चेहरा झाँकता नजर आ जाता था, किसी बदसूरत डायन जैसा, चुड़ैल जैसा चेहरा... यह गरीबी के लिए लिखा जा रहा है - सबकी आँखों में घूरकर देखता था, इस तरह कि उनकी

हँसी उनके चेहरे पर ही जम जाए। सर्वेश्वर का विकलांग बाप दिन-भर धूप में एक तख्त पर लेटा रहता था और अपने बड़े बेटे और उसकी बीवी को माँ-बहन की बुरी-बुरी गालियाँ देता रहता था कि साले हरामी हैं, कामचोर, निकम्मे। उसके भाई का एक साल का बच्चा अपने घुटनों पर आँगन में इधर-उधर डोलता रहता था, जहाँ-तहाँ टट्टी कर देता था। भाई बेराजगार था, आस-पड़ोस में छोटे-मोटे काम करता था, जैसे शादियों में शामियाने, सजावट आदि का इन्तजाम और दो-चार सौ रूपये बना लेता था। बाप बिजली विभाग से रिटायर्ड था, लोग कहते थे कि वह बिजली के धक्के से एक टाँग खो बैठा था और फिर निकाल दिया गया था। एक बहन थी जिसकी उम्र उस समय बारह-चौदह साल थी। उसे बेहोशी के दौर पड़ते थे, जिसका इलाज करने को पड़ोस के उन डॉक्टर साहब की गोलियाँ बिल्कुल बेअसर साबित हो रही थीं। तब उसका चेहरा एकदम पीला पड़ जाता था। बहुत देर तक पानी के छींटे मारने के बाद वह होश में आती थी और पानी एकटक, थकन-भरी आँखों से आसपास जमा लोगों को ताकती थी। उन दिनों उसके भाई की पत्नी फिर पेट से थी और केवल पेटीकोट में आँगन में इधर-उधर चलती हुई वह बहुत भद्दी नजर आती थी।

पन्द्रह साल पुराने वे सभी दिन एक जैसे थे इसलिए कभी-कभी लगता था जैसे समय एक जगह ठहर गया हो, मगर वह लगातार बीतता जा रहा था, वैसे ही जैसे सिनेमा में प्रोजेक्टर के पहिये अपनी उसी रफ्तार से चलते जाते हैं, उस समय भी जब पर्दे पर कोई जमा हुआ फ्रीज शॉट दर्शाया जा रहा हो। लेकिन भीतर के गहरों में कहीं इच्छाओं की हलचल शुरू हो चुकी थी, जिन्हें बढ़ते जाना था अब एक जल्दबाजी और उतावलेपन के साथ। सर्वेश्वर के अलावा सब लोग किसी रोमांच के घटित होने की प्रतीक्षा में थे। वे नाटकीय और आश्चर्य-भरी घटनाओं के जमावड़े और शोरगुल के बीच एक रोमांच से दूसरे तक दौड़ते हुए जाना चाहते थे, इन्तजार था बस, कि परवरदिगार आए, सीटी बजाए। शिरीष शर्मा चाहता था अपने प्रथम संकलन का प्रकाशन। घोष का तय था कि बी.कॉम.

के बाद अपने पिता की दुकान पर बैठेगा। आलोक श्रीवास्तव सी.पी.एम.टी. में सफल होने के बाद डॉक्टरी पढ़ने किसी दूसरे शहर चला गया था। कुछ लोग प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे थे। आदेश अवस्थी की जेब से एक बार बीड़ी निकालने के साथ गिरा था बम्पर प्राइज वाला कोई लॉटरी का टिकट। उन्हीं दिनों एक दुर्घटना हुई थी। केशव के बड़े भाई अपने अनाड़ीपन में अपनी लाल मारूति को पहाड़ों में बहुत ऊँचाई पर ले गये थे जहाँ सड़कें हिमपात से भीगी, शीशे की तरह चिकनी थीं। कार सैकड़ों फीट नीचे पहाड़ की तली में जा गिरी थी, और उतनी ऊँचाई से नजर आने लगा था खून का एक छोटा-सा छींटा। उसमें से लाश निकालने के लिए अगले दिन और तेज धूप का इन्तजार करना पड़ा था। रोने-धोने का दौर समाप्त होने के बाद केशव की भाभी ने थकान लदे चेहरे और थमे हुए आँसुओं के साथ उससे विनती की थी कि वह मकानों-जमीनों के अधूरे छूट गये सौदों को पूरा कर दे जिनमें उनका अपना भी काफी पैसा फँसा हुआ था, इसमें अपना कमीशन वह जितना चाहे खुद तय कर ले, मगर अचानक टूट पड़ी उस विपदा में वह उनकी मदद न करेगा तो वे लोग.....।

सर्वेश्वर सब लोगों के बीच से, चलती बहस के बीच, एक दिन बुलबुले की तरह गायब हो गया। उसे पूरब के एक सीमान्त जिले के किसी दूरदराज गाँव में स्कूल मास्टर की मामूली-सी नौकरी मिली थी, वह बाकी सबको बिना बताये, बिना किसी से मिले, चुपके से वहाँ चला गया था। उसके बाद वह कभी लौटकर नहीं आया, अपने घरवालों से मिलने भी नहीं। अपने घरवालों को वह शुरू के दो-तीन साल दो-चार सौ रूपये भेजता रहता था, फिर वह नौकरी पता नहीं किन कारणों से उससे छिन गयी, मगर उसके बाद भी वह वापस नहीं आया। बस आधी-अधूरी खबरें आती थीं जिन्हें अन्दाजों से पूरा करना होता था। कई सालों के बाद सुना गया कि उसने वहीं पर विवाह भी कर लिया था, फिर यह कि वह बेहद तंगी में था, मतलब यह कि एक जकड़दार जीवन के बीच-मगर

शायद हताश या परेशान नहीं, इसलिए कि वह जहाँ भी था, अपने जैसे बहुत सारे साथियों के बीच था। वे कुछ राजनीतिक, विचारात्मक काम करते थे-नुक्कड़ नाटक, सभाएँ, गोष्ठियाँ, छात्रों और दिहाड़ी पर खटने वालों के बीच कुछ काम, एक छोटे से अनियतकालीन अखबार का प्रकाशन भी-वह और उसकी पत्नी दोनों, और उनके बहुत सारे संगी-साथी। उनके पास फुरसत कहाँ थी। इस शहर से उसका नाता पूरी तरह टूटा चुका था। कभी वहाँ से छपनेवाली पत्रिका में उसका कोई लेख, उसके बारे में कोई समाचार देखने को मिल जाता था। प्रकाश और छाया के बीच की दरारों में से साल गुजरते गये, निःशब्द बेहवा दुपहरियाँ और कालिख-भरी रातें। इस बीच यहाँ पर उसका वह सौ साल पुराना मकान गिर गया था- बीच में इस इलाके में जो एक बड़ा भूकम्प आया था, जिसमें व्यापक विनाश हुआ था और उसकी खबरें अखबारों में छायी रही थीं - उसमें वह एक मलबे के ढेर में बदल गया था। सर्वेश्वर उस समय भी नही आ पाया था, हाँ उसने अपने एक साथी को जरूर भेजा था जो कुछ दिन उसके घरवालों के साथ रहा था। मकान के मलबे में फँसकर बहुत सारे लोग घायल हुए थे। होम्यापैथी के डॉक्टर छत के एक बड़े टुकड़े की चोट से दवा की बारीक सफेद गोलियों और अल्कोहल की गन्ध के बीच मारे गये थे। वह स्मगलर भी घायल हुआ था और मरहम-पट्टी के बाद सीधे मुजफ्फरनगर वापस चला गया था। सर्वेश्वर का बाप भी घायल हुआ था क्योंकि वह बैसाखी समेत जल्दी से बाहर नहीं भाग पाया था। वह दस-पन्द्रह दिन अस्पताल में रहा था। फिर वे बाद में किसी दूसरे मुहल्ले में किसी और मकान में किराये पर रहने लगे थे। मकान के मालिक सूबेदार साहब को एक खरोंच भी नहीं आयी थी, न उसके घरवालों में से किसी को-और उसे यह फायदा हुआ था कि बरसों से जमे हुए किरायेदार रातोंरात मकान खाली कर गये थे और अब वहाँ कुछ भी बनवाया जा सकता था, कोई मार्केटिंग काम्पलेक्स या अठमंजिला इमारत। पन्द्रह साल के बाद आदेश अवस्थी के पास सर्वेश्वर की एक उत्तेजित, भड़कते हुए आवेगों से भरी चिट्ठी आयी थी जिसमें उसने लिखा था कि इस जगह से एक लम्बी अनुपस्थिति ने उसे

किस कदर व्याकुल कर दिया था, और वह चन्द दिनों के लिए घर आ रहा था। उसकी बहन की शादी थी। उसके जाने और आने के बीच जो समय बीत गया था वह पन्द्रह साल का एक बेहद, बेहद लम्बा वक्फा था, मगर दूसरी तरह से देखा जाए तो, बस थोड़ी ही देर तो।

उस दिन सुबह से बारिश हो रही थी। अवस्थी ने एक बेचैन, ऐंठी हुई नींद के बीच अपनी आँखें खोलीं, और कमरे के सूनेपन में उसके दिमाग की परतें फाड़ते, जैसे भागकर चले आये बहुत सारे डरावने शब्द और विचार। वे रात-भर कुत्ते की तरह उसके सिरहाने बैठे रहते थे... सुबह बढ़ाते थे अपनी लारदार जुबान और दोस्ताना पंजा। वह बीमा एजेण्ड था, और उसका काम इन्हीं शब्दों से चलता था जैसे दर्जी का कैंची से चलता है और नाई का उस चमड़े की पट्टी से जिस पर रगड़कर वह अपना उस्तरा चमकाता है। वह दिन-भर शहर के घरों, दुकानों, दफ्तरों में लोगों से मिलता, उन्हें एक हॉरर कथा सुनाता घूमता था कि मौत दबे पाँव उसके पीछे चल रही थी, कभी भी, कहीं भी झपट्टा मारने को तैयार, और वे मर गये तो उनके बाल-बच्चे... इस कहानी को वह अधिक से अधिक डरावनी बनाता था, और होता यह था कि जब वह यह कहानी सुनता था तो खुद सुनता भी था, और इसकी वजह से उसके भीतर व्याप गया था एक खिंचा हुआ सन्नाटा और काई की तरह जमी रहनेवाली घिग्घी। वह हर दूसरे-चौथे महीने अपने नाम से एक नयी पॉलिसी लेता था, खुद अपना सबसे बड़ा कस्टमर था वह और उसका लगभग सारा वेतन बीमे की किश्तों में चला जाता था। वह उठकर धीरे-धीरे सुबह के काम निपटाने लगा। वह बारिश रूकने की राह देख रहा था और सोच रहा था कि दफ्तर जाए या नहीं, कि हाथ में छाता पकड़े वह ठेकेदार आया था जो उसका मकान बनवा रहा था। वह तीन-चार तरह की टाइलें उससे पसन्द करवाने लाया था जो उसके बाथरूम में लगनी थीं। तभी पड़ोस की एक बच्ची एक गीली चिट्ठी गेट के पास फेंक गयी, यह कहकर कि पिछले दिन डाकिया गलती से उनके घर दे गया था। बारिश में

जाकर उसने वह चिट्ठी उठायी और भागते हुए वापस आया। वह काफी देर तक उसकी हैण्डराइटिंग पहचानने की कोशिश करता रहा। एक साँस में चिट्ठी पढ़ डालने के बाद ठेकेदार से उसने कहा कि वह सब उठाकर ले जाए। यह सब बाद में देखा जाएगा।

"चिट्ठी में कोई ऐसी-वैसी खबर है?" ठेकेदार ने जाते-जाते पूछा।

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं, सब ठीक है। अभी आप चलें।" उसने कहा।

उसके घर में बड़े-बड़े बालों और बार्बी डॉल जैसे चेहरे वाली एक गोरी चिट्टी औरत, उसकी बीवी जो एक बड़े शहर और अमीर बाप की लड़की थी, खिड़की के पास मूढ़े पर बैठकर बाहर को देख रही थी, झमाझम बारिश। उसके पास तिपाई पर टेलीफोन था। अवस्थी ने डॉ आलोक श्रीवास्तव को फोन मिलाया जो उस वक्त शहर के दूसरे किनारे पर अपने क्लीनिक में एक काफी मांसल मरीज औरत से झींक रहा था। वह मोटी औरत बदमिजाज और चिड़चिड़ी भी थी और कह रही थी कि वह उससे छह महीने से इलाज करवा रही थी, अभी तक उसके हाथ-पैरों की झनझनाहट ठीक क्यों नहीं हुई, और उसके खून से लबालब भरे सीने में खाली-खाली-सा क्यों लगता है, मगर मुँहलगी थी क्योंकि डॉक्टर के एक परिचित की बीवी थी। "कौन?" डॉक्टर ने फोन में कहा। अवस्थी ने कहा, "मैं अवस्थी।" "कौन अवस्थी?" डॉक्टर ने फिर कहा।

"अवस्थी को छोड़ो पहले मेरी बात का जवाब दो।" मोटी मरीज औरत ने बीच में कहा, बेतमीज जो थी, और बेसब्र। "मैं आदेश अवस्थी। मेरी आवाज नहीं पहचानी?" "बारिश की वजह से आवाज साफ नहीं आ रही।" "सर्वेश्वर आ रहा है। शायद कल या परसों, उसकी बहन की शादी है।" "कौन सर्वेश्वर?" यह उसकी बीवी थी जो टेलीफोन पर कान लगाये हुए थी। "कौन सर्वेश्वर?" डॉक्टर ने पूछा। "अब यह भी बताना होगा? सर्वेश्वर...." अवस्थी ने कहा। "कौन सर्वेश्वर?" बीवी ने फिर कहा, वह उससे टेलीफोन छीन लेना चाहती थी, मगर

वह उसे एक हाथ से किसी तरह रोकते हुए जल्दी-जल्दी बात करता रहा। उधर उस मोटी मरीज औरत ने फिर बीच में कुछ कहना चाहा। डॉक्टर ने फोन पर हाथ रखकर उसे झिड़कते हुए कहा, "चुप बैठिए थोड़ी देर।" "कौन है यह सर्वेश्वर?" बीवी ने फिर एक चीखती आवाज में कहा। अवस्थी अपने को न रोक सका, उसने एक हाथ से उसे पीछे धकेलते हुए झुँझलाकर कहा कि यार जरा चुप रहो, बात करने दोगी?

बीच में दो झगड़ालू और कटखनी औरतों की चिल्ल-पों से परे उसने किसी तरह यह खबर दूसरी तरफ पहुँचायी कि सर्वेश्वर दो-एक दिनों में आ रहा है। जब उसने टेलीफोन रखा तो उसकी बीवी बिल्ली की तरह उस पर झपटी और पास के दीवान पर उसे गिरा दिया। "कौन है यह सर्वेश्वर, कब आ रहा है, कहाँ से आ रहा है, मुझे सारी बात मालूम होनी चाहिए।" उसने कहा। इसके पीछे की कहानी दरअसल यह थी कि उसके दोस्तों में काफी आवारा, शराबी और लेखकनुमा लोग थे। शादी के बाद वह एक साल तक सब कुछ खामोशी से देखती रही थी, और फिर उसे कहना शुरू कर दिया था कि वह यहाँ से ट्रांसफर कराए, और उसके दोस्तों में से किसी के आने पर वह उनके मुँह पर दरवाजा बन्द कर देती थी। यही नहीं उसने मुहल्ले के दो-चार लड़के भी तैयार कर लिये थे कि वे कहीं आसपास नजर आएँ तो उन्हें छिपकर कंकड मारे जाएँ तो वह उन्हें इनाम देगी। अब कोई नहीं आता था। उसने कहा, "तुम्हारे सारे फालतू-नाकारा दोस्तों को मुश्किल से भगाया है। अब दुबारा वहीं चक्कर शुरू हुआ तो मुझे भाग जाना होगा।" वह इस बात पर भी नाराज थी कि वह इस शहर में मकान बनवा रहा था, कहीं और क्यों नहीं, जहाँ लेखकों-कलाकारों का कोई चक्कर न हो। उधर वह मोटी औरत मिट्टी के ढूह की तरह अब बिल्कुल खामोश बैठी थी। डॉक्टर ने उससे कहा कि आप भीतर जाकर दवा ले लें। फिर उसने घण्टी बजाकर अटैण्डेण्ट को बुलाया और कहा कि मैं आधे घण्टे के लिए जा रहा हूँ। मरीजों को रोके

रखो। वह अपने घर गया जो क्लीनिक से जुड़ा हुआ था, और बेडरूम में जाकर बड़े-से बिस्तर पर खामोशी से लेट गया, ताबूत में लेटने की तरह, उसकी इच्छा शीशे में अपना चेहरा देखने हुई, आँखों के नीचे की लकीरों से अन्दाजा लगाने की कि वह कौन-सा समय था, और कितनी उम्र बीत चुकी थी, कितनी बाकी बची थी।

अवस्थी की बीवी खराब मूड में बिस्तर पर औंधी लेटी हुई थी। वह स्टेट बैंक ऑफ पटियाला में गुरविन्दर को फोन मिला रहा था, जो उस समय इतने सारे रूपयों के बीच था कि उन्हें एक के ऊपर एक लगाया जो छत को फोड़ती वह मीनार काफी ऊँचाई तक जाती। फोन पाकर उसने कहा, "सर्वेश्वर! इतने सालों के बाद? कब आ रहा है?"

"कल या परसों ही। चिट्ठी कुछ लेट मिली है।"

"अच्छा? इतने सालों के बाद उससे मिलना पता नहीं कैसा लगेगा। उसने तारीख नहीं लिखी?"

"उसकी बहन की शादी छह तारीख को है, परसों। उस दिन तो वह यहाँ होगा ही। उसके एकाध दिन के बाद हम लोग, सब पुराने दोस्त, कहीं पर मिलेंगे। एक लम्बी बैठक होगी, रात-भर। ठीक है न! बस यही सूचना देनी थी।"

"बाकी सब लोगों को बता दिया है?"

"मैं कोशिश कर रहा हूँ, फोन पर! हाँ, शिरीष को तुम बता देना, उसके पास टेलीफोन नहीं है। उसका घर तुम्हारे घर के नजदीक ही है।"

फोन में केवल गूँ....गूँ की गूँजती आवाज थी। सींखचों वाली खिड़की के पार कुछ डबडबायी आँखें उसे ताक रही थीं। उसने खिड़की बन्द कर दी और मैनेजर के नाम आधी छुट्टी की दरखास्त लिखी। परेशान चेहरे और अपलक आँखों वाला मैनेजर अपने केबिन से उसके पास आया और पूछा, "क्या बात है? अचानक छुट्टी किसलिए?"

"मेरी तबीयत ठीक नहीं है। मुझे सिर में चक्कर आ रहा है। कोई आदमी यहाँ लगाइए जो सारे रूपये गिन ले।"

खिड़की के परे धक्का-मुक्की शुरू हो गयी थी। मैनेजर ने हताश भाव से भीड़ की तरफ देखा और उससे कहा कि वह खिड़की पर खड़े लोगों को निपटाए, वह कोई इन्तजाम करता है। थोड़ी देर के बाद एक अन्य व्यक्ति आया और तेजी से उँगलियाँ चलाते हुए नोट गिनने लगा। वह चुपचाप बैंक के बाहर चला आया। बाहर अब बारौनक आसमान था जहाँ बवण्डर बादलों को धक्का मारकर छितरा रहा था और सूर्य की पतली तप्त किरणें झाँकने लगी थीं। बरसात अब बिल्कुल रुक चुकी थीं उसने एक टैम्पो पकड़ा और सवारियों के बीच फँसा हुआ, वाहन की थरथराहट के साथ काँपते हुए, थोड़ी ही देर में अपने घर पहुँच गया। यह तीन कमरों का छोटा-सा मकान शहर के बिल्कुल बीच एक कालोनी में था, जहाँ उसका परिवार रहता था - माँ पिता, पत्नी और दो बच्चे।

"आज इतनी जल्दी कैसे?" उसकी पत्नी ने उसे देखकर पूछा।

"कुछ नहीं, तबीयत खराब थी, छुट्टी लेकर आ गया।"

"कुछ नहीं, कोई ऐसी चिन्ता की बात नहीं है। मैं थोड़ी देर भीतर जाकर लेटता हूँ। बच्चों से कह देना, शोर न करें। दोपहर के बाद शायद घोष आएगा, तब मुझे उठा देना।"

वह भीतर के कमरे में जाकर लेट गया, शवासन की मुद्रा में। वह एक घण्टे तक सोता रहा, एक स्वप्न देखता रहा। उस स्वप्न में भी वह उसी मुद्रा में लेटा हुआ था जिसमें सचमुच और उस स्वप्न में उसे नींद नहीं आ रही थी। वह बेनींद सपना उसकी नींद के भीतर इस तरह घुस रहा था, जैसे खंजर म्यान में सरकता है, खटाखट... बहुत देर के बाद जब वह उठकर बैठा तो उसने जाना कि वह सोया नहीं था, एक पल के लिए भी।

घोष के घर में उस वक्त तेज आवाज में टेलीफोन बज़ा था, जिसमें वहाँ

से दो-तीन घण्टे की दूरी पर एक दूसरे शहर से बदहवास आवाज में यह सूचना थी कि वहाँ रहनेवाली उसकी बहन उस दिन सुबह छत पर कपड़े फैलाते हुए सीढ़ियों पर फिसलकर लुढ़कते हुए नीचे आ गिरी थी और खून में सने कपड़ों में तेजी से अस्पताल ले जायी गयी थी। दो-तीन घण्टे के ऑपरेशन के बाद वह बच गयी थी मगर अभी तक बेहोश थी, मगर उसके गर्भ का बच्चा मर चुका था। आप फौरन पहुँचने की कोशिश करें। घोष स्तब्ध, टेलीफोन को घूरता रह गया था, एक घुटी-सी चीख उसके गले से निकली थी। फिर वह भीतर के कमरे में लपका था जहाँ उसके पिता उस वक्त अपनी दोपहर की नींद ले रहे थे। वह चुपचाप उन्हें देखता रहा, एक विचित्र तरीके से स्याह पड़ गये उनके नाक-नक्श और मृतक की-सी निष्प्राण नींद। अभी दो महीने पहले ही तो उनकी माँ, हमेशा दुखियारी, खीजी हुई, परेशान रहनेवाली माँ-तब भी जब उनकी पुरानी, पुश्तैनी दुकान से कुछ खास निकलता न था और तंगी बनी रहती थी, और फिर उसने इतना सारा पैसा कमाकर दिखा दिया था, तब भी...हमेशा एक पीली, भूरी, मनहूस उदासी का एप्रन पहने रहनेवाली- उन्हें छोड़कर गयी थी। जब वह मरी थी केवल उस वक्त उसने उतारा था अपना वह जीवन-भर का लबादा, और उसकी लाश थी स्फटिक-सी सफेद। उसके जाने के बाद घर में मरघट जैसा सन्नाटा छाया रहता था और नींद में चलते आदमियों या अन्धों जैसी वीरान आँखों से वे एक-दूसरे को ताकते रहते थें। अचानक उसे कुछ याद आया और वह कपड़े बदलकर बाहर निकाला और चन्द ही क्षणों में सड़क पर चला आया। सड़कों पर गडढ़ों में बारिश का पानी जमा था, बीच में कहीं-कहीं सड़कें पूरी तरह पानी में डूबी हुई थीं। गुरविन्दर के घर तक पहुँचने में उसे काफी समय लग गया।

"कहाँ हैं सरदार जी?" उसने भीतर घुसते ही कहा।

"भीतर लेटे हैं। आप बैठो, मैं उन्हें बुलाती हूँ।" गुरविन्दर की पत्नी ने कहा।

गुरविन्दर सिंह भीतर के कमरे के दरवाजे पर नजर आया। वह बहुत थका और पीला लग रहा था। उसकी आँखों में अधूरी नींद थी।

"मैं इस समय बहुत जल्दी में हूँ। तू वह बैंक में खाता खुलवाने वाले फार्म लाया?"

"नहीं, मैं भूल गया।"

घोष हताश भाव से सोफे पर बैठ गया।

"भूल गया का क्या मतलब? आज तय नहीं हुआ था कि....। मैं केवल इसी काम के लिए तेजी से भागता आया हूँ, जबकि आज बहुत बुरी खबर आयी है। मेरी बहन का ऐक्सीडेण्ट हो गया है, वह हास्पिटल में बेहोश पड़ी है। अभी पिताजी के साथ वहाँ जाना है। अभी उन्हें बताया भी नहीं है।"

"क्यों, क्या हुआ? बहन बेहोश पड़ी है, और तूने घर में किसी को बताया नहीं, और तू खाता खुलवाने के लिए...."

"अभी टेलीफोन पर खबर आयी थी। मैंने सोचा पहले उनके दस्तखत करवा लूँ, फिर बताऊँ, लेकिन तू फार्म्स ही नहीं लाया।"

"क्यों? बताया क्यों नहीं?" गुरविन्दर ने गुस्से में कहा।

"यार, मदर के जाने के बाद उनकी किसी चीज में दिलचस्पी नहीं रह गयी है। अध्यात्म जोर मारने लगा है। हरिद्वार, ऋषिकेश में किसी आश्रम में जाकर रहने की बात करते हैं। अब यह खबर सुनकर सीधे बोरिया-बिस्तर उठाकर चल ही न दें, फिर....। अच्छा पार्टनरशिप डीड पर ही दस्तख्त हो जाएँ, मैं साथ लाया हूँ। तू भाभी को बुला...."

सरदारनी किचन में जाकर चाय बनाने लगी थी, बाहर की बातचीत पर कान लगाये हुए।

"नहीं, आज कोई दस्तखत नहीं होंगे। तुझे फौरन जाना चाहिए। आज नहीं..."

"लेकिन क्यों?"

"बस आज नहीं, फिर देखा जाएगा।"

"लेकिन आज क्यों नहीं?"

"आज तेजी बहन जिन्दगी और मौत के बीच है। ऐसे समय में यह सब नहीं, तुझे फौरन वहाँ जाना चाहिए।"

गुरविन्दर सिंह के पिता का एक छोटा-सा जमीन का टुकड़ा शहर से कोई दस-बारह कि.मी. की दूरी पर था। वह इलाका इण्डस्ट्रियल एस्टेट के रूप में विकसित किया जा रहा था। घोष ने उससे कहा था कि वह जमीन वह उसे बेच दे, जितना उसका दाम है, चाहे तो उससे दस-बीस हजार ज्यादा पर, मगर गुरविन्दर बहुत चालाक था (नहीं, वह नहीं, दरअसल उसकी बीवी जो एक खानदानी बिजनेस परिवार से थी और शादी के बाद से ही उसकी जान खाये जाती थी कि वह नौकरी छोड़कर कोई व्यापार करे और रातों में वे सेक्स के साथ एक-दूसरे के कानों में पैसे और व्यापार की बातें उच्चारा करते थे, फुसफुसाहटों में नींद आने तक, फिर वे साथ-साथ सपना देखते थे, एक ही सपना-एक के ऊपर एक रखी हुई नोटों की गड्डियों का) उसने कहा था कि वह उस जमीन को मुफ्त में अपने पास समझे, और बदले में वहाँ मिनरल वाटर की जो फैक्ट्री लगाने जा रहा था उसमें उसे 25 प्रतिशत का हिस्सेदार बनाए। घोष नहीं माना था, उसने कहा था, यार तू पचास हजार, एक लाख ज्यादा ले ले, मगर गुरविन्दर के कान में सरदारनी प्रेत की तरह पंजाबी में फुसफुसाती रहती थी, अड़े रहो, झुकना मत और आखिर में घोष को झुकना पड़ा था। गुरविन्दर सरकारी नौकरी में था और उधर घोष के साथ टैक्स का कोई लफड़ा था, इसलिए इस फैक्ट्री में घोष के पिता और गुरविन्दर की बीवी को पार्टनर बनाना था। कल रात गुरविन्दर की बीवी ने बच्चों की कॉपी में कैलकुलेटर से बहुत देर तक कोई हिसाब लगाया था, फिर परेशान होकर पीले, जर्द, पसीने से सराबोर

चेहरे के साथ उससे कहा था कि 40 प्रतिशत से कम के हिस्से पर राजी होना घाटे का सौदा है।

"बस अब जाऊँगा ही। इसमें पाँच मिनट लगेंगे। तू बुला तो भाभी को।" घोष ने कहा।

"नहीं, आज नहीं, कह दिया न। इस बारे में फिर बात करेंगे तसल्ली से।"

"बात क्या करनी है!"

"कल-परसों तक अगर तू लौट आया, तब तसल्ली से बैठेंगे। तभी दस्तखत हो जाएँगे। आज नहीं।"

घोष उसे खाली-खाली से देखता रहा। उसका चेहरा पसीने से लथपथ था, और साँसें फूली हुईं। फिर वह उठा और हताश, हौले कदमों से बाहर चला गया। इस समय तक अँधेरा पूरी तरह घिर चुका था। धीमी रफ्तार से सरकती हुई उसकी कार गली के मोड़ पर ओझल हो गयी। उसके जाने के बाद गुरविन्दर कुछ देर यूँ ही खाली बैठा रहा, कुछ सोचते हुए। फिर घड़ी पर उसकी निगाह गयी तो वह उठकर बाहर जाने के लिए कपड़े बदलने लगा। भीतर के कमरे से उसकी पत्नी आयी और उसे सवालिया आँखों से देखने लगी जिस पर उसने कहा कि वह अभी थोड़ी देर में लौट आएगा। उसने स्कूटर निकाला। थोड़ी ही देर में वह पड़ोस की एक कालोनी में एक बड़ी-सी कोठी में पहुँचा, जो इस वक्त अँधेरे में डूबी हुई थी। कोठी के बाहर के हिस्से में एक दुकान थी जो इस वक्त बन्द थी, केवल एक मद्धिम बल्ब की रोशनी में उसका बोर्ड चमक रहा था- डॉली ब्यूटी पार्लर। शिरीष शर्मा, उत्तर-आधुनिकतावादी लेखक, यहीं पिछवाड़े की तरफ किराये के कमरे में रहता था। गुरविन्दर ने बाहर से शिरीष के आवाज दी, जिसका कोई उत्तर न मिलने पर वह गेट खोलकर पीछे की तरह जाने लगा। उसी क्षण उसे लगा जैसे मकान के भीतर से कुछ लड़ाई-झगड़े की आवाजें आ रही हों, फिर वे सहसा रूक गयीं, मगर एक दबी हुई सिसकी, अँधेरे में कही से आती हुई, उसके साथ-साथ चलती रही। दाहिनी

तरफ से अचानक उसे एक आवाज सुनाई दी, "किससे मिलना है आपको?" उसने अँधेरे में आँखें गड़ाकर देखा, शिरीष का मकान मालिक, वह जे.ई. कुर्सी पर काली या कत्थई शॉल लपेटे बैठा हुआ था जैसे किसी का इन्तजार कर रहा हो। वह उठकर उसके पास चला आया। कहीं दूर से आती एक पतली प्रकाश किरण में वह बहुत बूढ़ा लग रहा था, और उसके कन्धे झुके हुए थे।

"शिरीष...." उसने कहा।

"वह तो शायद नहीं है।" बूढ़े ने एक हाँफती, परेशानी आवाज में कहा।

"कहाँ गया है?"

"पता नहीं।"

कुछ देर के लिए खामोशी छा गयी। एक खिंचता हुआ सन्नाटा।

"मैं थोड़ी देर इन्तजार कर लेता हूँ। शायद अभी आ जाए।"

शिरीष के कमरे के बाहर अँधेरा था, भीतर खिड़कियों के शीशों के पीछे से हल्की रोशनी नजर आ रही थी। उसने आवाज दी, शिरीष, लेकिन भीतर खामोशी रही। उसने दरवाजे को धक्का दिया और वह खुल गया। उसे मालूम था कि कहीं आसपास जाने पर शिरीष कमरे में ताला नहीं लगाता था। वहाँ उसका बिखरा हुआ बिस्तर था और कुर्सी-मेज, जमीन पर एक चटाई और बहुत सारी किताबें, पत्रिकाएँ वगैरह। कमरे में आदमियों की गन्ध भरी हुई थी, जैसे कोई अभी-अभी, जल्दी में कहीं उठकर गया हो। वहाँ एक और बन्द दरवाजा था, मकान मालिक के हिस्से में खुलनेवाला। वह बिस्तर पर बैठकर बहुत देर इन्तजार करता रहा, मगर उसके आने का कहीं से कोई संकेत न मिलने पर उसने एक कागज पर सर्वेश्वर के आने की सूचना लिखी और उसे पेपरवेट के नीचे दबाकर चुपचाप दबे कदमों से वापस चला आया। बाहर उसका मकान मालिक गेट के पास वैसे ही खड़ा था। उसने कहा, "शिरीष मिला?"

"नहीं, वह तो अपने कमरे में नहीं है।" उसने कहा।

बूढ़ा जैसे सन्तुष्ट हो गया। उसने कहा, "उससे कुछ कहना हो तो..."

"मैंने उसके लिए एक मैसेज उसकी मेज पर छोड़ दिया है।" गुरविन्दर ने कहा।

उसके जाने के एक मिनट के बाद शिरीष के कमरे का बीच का दरवाजा भड़ाक से खुला।

बेतरतीब बालों घबराये हुए चेहरे के साथ शिरीष, और उसके पीछे चमड़े की जैकिटों में बेरहम चेहरोंवाले दो आदमी बाहर आये। शिरीष के चेहरे का रक्त निचुड़ा हुआ था, वह कालिख पुता लग रहा था जैसे आदमी न हो, अँधेरे का एक टूटा टुकड़ा हो, और उसकी आँखों के सामने भी अँधेरा छा रहा था। अँधेरा फैलता-सा लग रहा था, जैसे किसी फूटे हुए बल्ब से फूटता है, इर्द-गिर्द, भीतर बाहर और सब तरफ। वह बिस्तर पर बैठ गया, और वे दोनों उसे घेरकर खड़े हो गये।

"क्या चाहते हो तुम लोग?" उसने थकान भरी, काँपती आवाज में कहा।

खामोशी से, दबे पाँवों वे दोनों गुण्डे थोड़ी देर पहले शिरीष के कमरे में घुसे थे। वह उस वक्त कुर्सी-मेज पर बैठा कुछ पढ़ रहा था। अचानक उन्हें देखकर वह चौंक गया था, एक छोटी-सी चीख उसके गले से निकली थी। उनमें एक काफी कम उम्र का कमसिन जवान था, दूसरे की फ्रेंच कट दाढ़ी थी। वे उसे घेरकर खड़े हो गये थे और धमकियों भरी तेज आवाज में उससे कुछ कहते रहे थे। वह चुपचाप सुनता रहा था। बाहर से बुलाये जाने की आवाज आने पर उसने 'प्लीज' के साथ उनसे मिन्नत की थी कि जो भी आया है, उसे चला जाने दें, उसके सामने कोई तमाशा नहीं होना चाहिए। उन लोगों ने उसकी बात मान ली थी, और वे तीनों भीतर के दरवाजे के पीछे छुप गये थे, साँस रोके।

"क्या फिर से बताने की जरूरत है?" उनमें से एक ने चीखती आवाज में कहा।

"देखिए, आप पढ़े-लिखे लेखक टाइप आदमी हैं। सुना है आपकी कहानियाँ भी छपती रहती हैं। हम लेखकों की बहुत इज्जत करते हैं, इसलिए शराफत से पेश आ रहे हैं।"

"हम आपसे यह नहीं कह रहे कि अभी या कल ही कमरा खाली हो जाए।" दूसरे आदमी ने कहा, "आराम से कोई दूसरा मकान देख लीजिए, हफ्ते, दस-पन्द्रह दिन में, चाहें तो एक महीना ले लीजिए। देखिए, आपके यहाँ रहने से आपकी भी बदनामी है, डॉली की भी। लोग क्या-क्या बातें करते हैं, आप जानते हैं?"

उधर अँधेरे में वह जे.ई. कुर्सी पर शॉल लपेटे बैठा था। उसकी आँखें गेट पर लगी थीं और कान पीछे के कमरे में।

"या फिर उससे अगर वाकई इश्क है तो शादी कर लो। इसमें क्या बुराई हैं? फिर आराम से रहते रहो, बिना किराये के। जितना आप अपनी नौकरी और कहानियों से कमाते होंगे, उससे ज्यादा ही कमाई होगी ब्यूटी पार्लर की। भाई साहब, आप तो...मैं आपकी जगह होता तो..." फ्रेंच कट दाढ़ीवाला हँस रहा था, कमीना।

शिरीष सिर झुकाये बिस्तर पर बैठा रहा। वे दोनों शान्ति से कमरे से बाहर चले गये। उसका दिल तेजी से धड़क रहा था और साँस तेज चल रही थी वह अपनी साँसों को स्थिर करने की कोशिश करता हुआ लेट गया। पटाखे की आवाज के साथ उसके भेजे की चर्बी में बहुत सारे विचार और खयाल धँसे थे, छर्रों की तरह, गडमड और बेतरतीब। वह उन्हें तरतीबवार लगाना, बारी-बारी सोचना चाहता था। उसके घर से एक कि. मी. दूर एक मन्दिर से शाम की घण्टियों की आवाज उसके कानों में पड़ने लगी थी, इतनी दूर से बहुत मद्धिम और मुलायम। उसने अन्दाजा लगाया, उस जे.ई. के रिटायर होने पर उसे कितना मिला होगा और ऊपर की कमाई कहाँ जमा की होगी, और इस मकान की कीमत कितनी होगी, और डॉली की उम्र कितनी।

उसकी निगाह अचानक मेज पर पेपरवेट के नीचे दबे कागज पर गयी। उसने उसे उठाकर पढ़ा। भड़ाक से उसके ऊपर पुरानी, बीती हुई बातों का एक ढेर आकर गिरा, और फिर कमरे के सन्नाटे में एक साथ बहुत सारा समय बीत गया। पुनःस्मरण के प्रयास में उसके सीने में दाहिनी तरफ एक दरार फैलने लगी, पहले पतली और धीरे-धीरे बड़ी होती हुई। उसने कागज दुबारा पढ़ा, सर्वेश्वर कल या परसों आ रहा था। उसे ध्यान आया, परसों ही तो टाउन हाल में वह कथा-सम्मेलन होनेवाला था जिसमें दिल्ली से एक बड़े उत्तर-आधुनिकतावादी व्याख्याकार को सदारत करने आना था। उस सम्मेलन का सारा इन्तजाम शिरीष के जिम्मे था, उसी की कोशिशों से वह यहाँ पर हो रहा था और हफ्ते भर से वह उसी की दौड़-भाग में लगा हुआ था, चन्दा लेना, पोस्टर, पर्चे, निमन्त्रण पत्र छपवाना वगैरह। सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं, अब केवल यू.पी. रोडवेज की डीलक्स बस में गाजे-बाजे और धूमधाम के साथ उत्तर-आधुनिकतवादी व्याख्याकार का आना बाकी था। वह तेजी से उठा, तैयार हुआ। बाहर के अँधेरे में तेज कदमों से चलता हुआ वह सड़क के पार चला आया जहाँ एक पी सी ओ की छोटी-सी दुकान थी। उसने दुकान में बैठे आदमी को कागज पर नम्बर लिखकर पकड़ाया। लाल अंक मॉनिटर पर उभरे। आवाज आयी, इस तरफ की सभी टेलीफोन लाइनें व्यस्त हैं, कृपया थोड़ी देर बाद फोन करें। वह उत्तर-आधुनिकतावादी व्याख्याकार को कहना चाहता था कि सम्मेलन वाले दिन उसे अचानक एक बहुत जरूरी काम से बाहर जाना पड़ रहा था, वह उसमें हाजिर नहीं हो सकेगा, और कुछ और जरूरी बातें। उसने फिर नम्बर मिलाया, फिर वही आवाज आयी। कई बार नम्बर मिलाने के बाद दूसरी तरफ घण्टी बजी, बहुत देर तक बजती रही। उत्तर-आधुनिक व्याख्याकार अपने घर पर नहीं था, कहाँ गुम था, खुद जाने-दिल्ली एक विराट शहर था, जहाँ सब कुछ विराट, विशाल, विकराल था-विराट सड़कें, इमारतें, मोटरें, बसें, धूल, धुआँ, इतना शोर, इतना साहित्य, हे ईश्वर, और इतनी साहित्य-चर्चा, इतनी संस्कृति, कला, इतनी

भाषा और इतने लोग। उस अकल्पनीय रूप से विराट नगर के एक खाली, खामोश कमरे में एक घण्टी बहुत देर तक किसी खतरे या चेतावनी की घण्टी की तरह बजती रही, फिर शिरीष ने टेलीफोन रख दिया, और थके, क्लान्त कदमों से अपने कमरे में वापस आकर बिस्तर पर लेट गया। थोड़ी देर लेटे रहने, कुछ सोचते रहने के बाद उसने किताबों की ऊँची शेल्फ के सामने स्टूल खिसकाकर सबसे ऊपर के खाने से दो-तीन पुरानी, धुल सनी, फटे पन्नों वाली पुस्तकें निकालीं। दो-तीन बार बिस्तर के किनारे पर उन्हें फटकार कर उसने धूल साफ की, और फिर मेज पर बैठकर उन्हें पढ़ने की कोशिश करने लगा, पहले मन-ही-मन, फिर जोर-जोर से, जैसे खोयी हुई याददाश्त को जगाने की कोशिश कर रहा हो... जैसे इम्तहान की तैयारी में बच्चे पढ़ते हैं और समय को तेजी से बीतता देखकर भयभीत हो जाते है, जल्दी-जल्दी पलटते हैं पन्ने। उन किताबों में से एक थी अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के औद्योगिक क्रान्ति से पहले के ग्रामीण, खेतिहर जीवन के बारे में बहुत धीमी गति से चलनेवाला एक मोटा उपन्यास, जिसकी जिल्द गायब थी, और दूसरी मायकोव्स्की की कविताओं का एक संकलन, जिसमें वह कविता थी, जिसमें ग्रीष्म की गर्मी में धधकते सूरज को चिल्लाकर कहता है कवि, अबे लो लोफर नीचे उतर। और तीसरी, उसे आश्चर्य हुआ, कविता कहानी की किताबों के बीच वह कोई पुराना मेडिकल जनरल....शायद डॉ. आलोक श्रीवास्तव कभी भूल गया हो, उसमें इन्सान के जन्म और प्रसव-पीड़ा के बारे में कुछ लेख थे, जिनके बीच स्त्री के आन्तरिक अंगों के रेखाचित्र थे और उन्हें देखते हुए एक छटपटाती निर्वसन स्त्री का चित्र दिमाग में उभरने लगता था, जिसके कन्धों को कसकर थामे हुए कोई नर्स या दाई, और उसके भिंचे हुए दाँतों के बीच से बहती हुई एक दबी भिंची चीख...गों...गों....गों....गों....

उसकी निगाह अचानक दायीं तरफ की दीवार पर लगे दर्पण पर गयी। उसने देखा धुँधले प्रकाश में उसका चेहरा पीतवर्णी, पसीने से तरबतर था और

लग रहा था जैसे वह संसार का एकदम अकेला, बिल्कुल तन्हा प्राणी हो। वह काँपते हुए हाथों से हलकोर रहा था अपनी कई दिनों की, उलझी हुई दाढ़ी। उसे अचानक महसूस हुआ कि वह बूढ़ा हो गया था, उसके कमरे की छत कुछ नीचे झुक आयी थी, दीवारों से पलस्तर झड़ने लगा था, फिर उसके नीचे की नंगी, सूखी दीवारें चटखने लगी थीं, भरभराकर ढह जाने को तैयार.... देखते-देखते उसका कमरा खँडहर के तब्दील हो गया था जिसमें मकड़ी के जाले नीचे तक लटक रहे थे और उनके बीच अपनी कुर्सी पर बैठा वह आस्तीन से आँसू पोंछ रहा था, बुखार की तरह बढ़ती, लहू की लकीर की तरह जमती इस इच्छा के साथ कि किसी भी तरकीब से दूर से नजर आने वाली अनाच्छादित पहाड़ियों के पीछे अपने गाँव वापस पहुँच जाए... जहाँ धीमे-धीमे हिलते पेड़ थे, पहाड़ी हवाओं में फँसकर जो, और उसके सामने एक चुपचाप नदी... .उस पर बना पुराना पुल। मगर पाँच फुट सात इंच लम्बे सैंतीस साल के आदमी के रूप में नहीं जो चालीस नम्बर की बनियान पहनता था, दस साल का बच्चा बनकर, सर्दियों में जिसकी नाक बहती रहती थी, और सारा किस्सा फिर से, नये से शुरू करना...।

आदेश अवस्थी रात को सोने के लिए पलंग पर मच्छरदानी लगा रहा था कि उसे ध्यान आया, अरे, केशव तो रह ही गया। उसने टेलीफोन के पास से नम्बरों की डायरी उठायी, पन्ने पलटकर उसका नम्बर निकाला। केशव का दफ्तर या दुकान, जो चाहें कह लें, उसका प्रॉपर्टी डीलर (प्रॉपर्टी डीलर) का धन्धा जवाहर नगर में मेन चौराहे के सामने एक अधूरे बने मकान के एक कमरे में था - दफ्तर भी क्या, बस एक कुर्सी मेज, और एक टेलीफोन और दोपहर में नींद आए तो झपकी लेने के लिए बिस्तर भी। थोड़ी देर पहले बिजली चली गयी थी और वह अँधेरे में टटोलते हुए दफ्तर का ताला लगा रहा था कि टेलीफोन घनघनाने लगा था। ताला दुबारा खोलकर अँधेरे में ही उसने टेलीफोन उठाया था। उधर अवस्थी था, उसकी वह पहचानी-सी आवाज, जिसे वह कई बरसों के बाद

सुन रहा था, "पहचाना, मैं अवस्थी!" केशव ने कहा था, "यार ऐसी कमजोर नहीं है याददाश्त (झूठ बोल रहा था, उसकी याददाश्त बहुत कमजोर थी), बड़ी मुद्दत के बाद याद किया, कहाँ से बोल रहा है?" "यहाँ से, और कहाँ से।" अवस्थी ने कहा था। "सर्वेश्वर आ रहा है, दो-एक दिन में। उसकी बहन की शादी है, उसमें भाग लेने के लिए। तो उसके एकाध दिन के बाद हम कहीं पर मिलते है। सर्वेश्वर ने लिखा है कि वह सब पुराने दोस्तों से मिलना चाहेगा। मैंने आज दिनभर में सबको खबर दे दी है।" केशव खामोश रहा था, काफी देर तक कोई आवाज न सुन पाने पर अवस्थी ने कहा था, "केशव, सुन रहा है न?" तब केशव ने कहा था, "कौन सर्वेश्वर?"

"तू सर्वेश्वर को भूल गया? सर्वेश्वर... अपना पुराना दोस्त। जो..."

"वह तो मर गया कब का?"

"कैसी बात कर रहा है?"

"उसे तो मरे दस साल हो गये। वह अभी जिन्दा है?"

"......................"

"अगर वह जिन्दा है तो यहाँ आने का कोई इरादा नहीं रखता, और रखता है तो यहाँ पहुँच नहीं पाएगा। कहीं रास्ते में ही...."

टेलीफोन तारों पर चढ़कर एक हाँफती-सी आवाज उसके कानों तक आयी थी, और फिर टेलीफोन तारों की अपनी, काँपती हुई, अनिष्टकर-सी आवाज। अँधेरे में अपना दफ्तर बन्द कर वह अपने घर चलने लगा था जहाँ एक खाली, सुनसान बैठक उसकी प्रतीक्षा में थी। उसकी पत्नी, बच्चे किसी शादी में शहर से बाहर गये थे। वह अँधेरे में घूरता हुआ, तेज कदमों से चल रहा था, जैसे कोई उसके पीछे-पीछे चलता हुआ, उसे धक्का दे रहा हो। वह चाहता था सीधे घर जाकर बिस्तर मे लेटकर एक कोमल लोरी या ठण्डे चुम्बनों जैसी नींद सोना (क्या पता चाहता हो सिर्फ शराब के नशे में बेसुध और स्मृतिहीन पड़ा रहना,

प्रॉपर्टी डीलरों की इच्छाओं का भी क्या भरोसा), मगर जानता था कि रात को जो नींद आएगी वह घरघराहट भरी होगी जैसे सीने में घास-फूस या रद्दी कागजों का कचरा भरा हो। वह तब तक का समय सावधानीपूर्वक खर्च करना चाहता था। वह रेलवे स्टेशन के पास उस बार की तरफ चलने लगा जहाँ पोखरियाल, एक ठेकेदार और तिवारी, एक और प्रॉपर्टी डीलर, उसके धन्धे का साथी, उसका इन्तजार कर रहे थे। तिवारी ने उस दिन एक होटल बेचा था। और पचास-साठ हजार का कमीशन कमाया था, और थोड़ी देर पहले केशव को फोन किया था कि आ जा प्यारे, आज तो...। बार में घुसते ही मक्खियों की भनभनाहट जैसे शोर ने उसे घेर लिया। पोखरियाल और तिवारी कोने की मेज पर बैठै थे वहीं से उन्होंने उसे भीतर घुसते देखा और आवाज देकर पास बुला लिया। वहाँ हल्के नीले अँधेरे में अलग-अलग मेजों पर प्रेतों की तरह लोग फुसफुसा रहे थे। कोने में टेबल लैम्प की रोशनी में काउण्टर पर एक झुका हुआ सिर पैसों का हिसाब कर रहा था। वे काफी देर पीते रहे, पीते-पीते उसकी चेतना पर धुन्ध छाने लगी, उसने आँखें बन्द कर पीछे कुर्सी पर पीठ टिका दी, जैसे नींद में हो। चाहता था शराब की नैया में कहीं दूर बहते जाना, मगर उसने किसी खन्दक में उतरते जाने जैसा महसूस किया, और तेजी से बढ़ती थकान। बीच में बहुत सारे क्षण यूँ ही बीत गये, फिर उसे महसूस हुआ कोई उसे हिलाकर जगा रहा है। उसने आँखें खोलीं। पोखरियाल और तिवारी उसके ऊपर झुके हुए थे, और तिवारी कह रहा था, "तबीयत तो ठीक है न?"

पूँजीवाद और इतिहास के नमक के बारे में वह कुछ कहना चाहता था, और पेरिस कम्यून, महान लेनिन और गोर्की, और अठारह सौ सत्तावन के आजादी के संग्राम और चेकोस्लावाकिया के बारे में, जहाँ 'लिडिस' एक गाँव था जहाँ छोटे-छोटे बच्चों के घुँघराले, सुनहरे बाल और निप्पल और नैपकिन एक म्यूजियम में प्रदर्शित थे जिन्हें फासियों ने गला घोंटकर मार डाला था। और भी बहुत कुछ जो इतिहास में गुजरा था और अब शराब-घर के घनतर अँधेरे में

दिमाग से रगड़ खाता गुजर रहा था। उसके पास इतिहास की मास्टर्स डिग्री थी जो उसने नकल या रट्टा मारकर हासिल नहीं की थी, मगर उसने कुछ भी नहीं कहा, कहता तो उसके मुँह से सब कुछ झूठ में सना हुआ-एक बहुत धीमी, कमजोर आवाज में उसने यही कहा कि मै चलता हूँ, बहुत थक गया हूँ। वहाँ से एक अँधेरी, निर्जन गली के छोटे रास्ते से वह सीधे अपने घर गया और बिस्तर पर लेटकर आँखें मूँद लीं। नींद आने से कुछ क्षण पहले उसने खिड़की के परे एक रोने की आवाज सुनी। उसने उठकर खिड़की खोलकर बाहर अँधेरे में झाँका। वहाँ कोई न था। वह खिड़की बन्द कर दुबारा लेट गया। वह आवाज फिर भी आती रही।

लोहे के तारों के गुच्छे या शरीर में खून की शिराओं की तरह बहुत सारी मोड़ों और मरोड़ों वाली वे गलियाँ एक-दूसरे में उलझी हुई थीं, जहाँ की भीड़भाड़ और शोर-शराबे के बीच आदेश अवस्थी बहुत देर से सर्वेश्वर का मकान तलाश रहा था। वह हर गली और सड़क से कई बार गुजर चुका था। गलियों में सब्जी के ठेले, मिठाइयाँ और चाय की दुकानें थीं, सड़क पर बरसात के दिनों का कीचड़ और मक्खियाँ और कचरे से कुछ तलाशते जानवर, और दुकानों के बीच इक्का-दुक्का मकान जो ताबूत के ढक्कन की तरह बन्द थे, दोपहर की नींद में गर्क, निःशब्द और एक दम एकाकी। वहाँ कोई ऐसा घर नहीं था जहाँ शादी की चहल-पहल हो या लाउडस्पीकर पर शोर। भीड़ और शोर भरी बेछोर गलियों में वह चलता रहा, बहुत देर तक। दोपहर का सूरज सरकता हुआ दूर चला गया और धीरे-धीरे झुटपुटा होने लगा।

सर्वेश्वर का मकान बहुत मुश्किल से मिला, एक लकड़ी की टाल के पीछे ठुँसे हुए मकान के एक हिस्से में। मैली काली दीवारों वाला वह एक बहुत पुराना मकान था, जहाँ नीचे एक कमरे के भारी-भरकम दरवाजे पर ताला लटक रहा था, और बरामदे के किनारे से लकड़ी की पेंचदार सीढ़ियाँ ऊपर चली गयी थीं।

हल्की धुन्ध-सा धुआँ फैला हुआ था वहाँ, पता नहीं कहाँ से आता हुआ। हिलती, काँपती सीढ़ियों पर चढ़कर वह ऊपर गया और दरवाजे पर दस्तक दी। कई बार खटखटाने के बाद भी भीतर कोई हलचल नहीं हुई। वह वापस मुड़ने वाला था कि भीतर से कुण्डी खड़कने की आवाज सुनाई दी। किसी बच्चे ने दरवाजा खोला था। वह उसे पहचानता नहीं था। वह खामोश उसे देखता रहा।

"सर्वेश्वर का घर यही है?" बच्चा कुछ न बोला, उसकी भावशून्य, एकटक आँखें उसके चेहरे पर जमी रहीं। भीतर से ठकूठक् की आवाज के साथ सर्वेश्वर का बाप उसकी बैसाखी पर चलते हुए आया। उसने किसी कोने में स्विच ऑन किया। पीले रंग की एक मद्धिम, मरी-मरी-सी रोशनी कमरे में फैल गयी।

"आपको किससे मिलना है?" सर्वेश्वर मे पिता ने पूछा।

"सर्वेश्वर..." उसने हथेलियों से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहा। गुच्छा-मुच्छा दरी को छोड़कर। वह बच्चा भीतर जाकर एक फोल्डिंग कुर्सी को कमरे में खिसका लाया। आदेश कुर्सी पर बैठ गया और सर्वेश्वर का पिता सावधानी से बैसाखियाँ हटाते हुए उसके सामने चारपाई पर।

"मैं सर्वेश्वर का दोस्त हूँ" उसने कहा, "उसकी बहन की शादी है न! उसकी चिट्ठी आयी थी। वह आ चुका है?"

पीछे घर में सन्नाटा था। एक अटल, असहनीय खामोशी।

"सर्वेश्वर आया या नहीं, मैं यह पता करने आया था।"

सर्वेश्वर के पिता ने सिर हिलाया। वे बिना कुछ बात किये काफी देर तक खामोश बैठे रहे।

"मैं चलता हूँ। कल फिर पता कर लूँगा।" उसने उठते हुए कहा।

सर्वेश्वर का पिता बैठा रहा। उसे लगा जैसे उसने सुना ही नहीं। वह चुपचाप बाहर चला आया।

सर्वेश्वर उस समय गाड़ी के दूसरे दर्जे के एक खचाखच डिब्बे में यात्रियों के बीच ठुँसा हुआ बैठा था। गाड़ी उस समय बस्ती और गोण्डा के बीच कहीं थी। वह बहुत धीमी रफ्तार से चल रही थी और हर स्टेशन पर खड़ी हो जाती थी। ट्रेन में भारी पेटियों और बिस्तरों के साथ बासी, गन्धाते कपड़ों में अधिकतर देहाती लोग थे, कुछ पतलून-कमीजों में बाबूनुमा आदमी भी। डिब्बे में हर तरफ लोग ठुँसे हुए बैठे थे, नीचे के फर्श पर भी, मगर एक अजीब, आसामान्य खामोशी थी, ट्रेन की अपनी आवाज के अलावा बियाबान जैसी निःशब्दता। उसके पास एक झोला था जिसमें एक डायरी, दो-तीन किताबें, और खाने का खाली डिब्बा और कुछ कपड़े थे। उसके नुकीली हड्डियों वाले चेहरे पर कई दिनों की बढ़ी हुई दाढ़ी थी, और थकान भरी दृष्टि से सामने देखता हुआ वह कुछ कमजोर लग रहा था।

गाड़ी जब आगे आती है, मन पीछे जाता है, भगोड़े की तरह तेज रफ्तार, जैसे छूटकर कहीं जाना चाहता हो, अपने पैरों पर भागता हुआ वह कहीं नहीं रूकता, ट्रेन के रूक जाने के बाद भी। बहुत देर से गाड़ी एक छोटे-से स्टेशन पर ठहरी हुई थी। बाहर एक सुनसान प्लेटफॉर्म था, और उनके पीछे दोपहर की धूप में सूखते खेत। उनके बीच की पगडण्डी पर बहुत दूर कोई साइकिल चलता आ रहा था। स्टेशन के ठीक पीछे एक एकाकी, ध्वस्त झोंपड़ी थी, और डिब्बे में कुछ खाँसने की आवाजें थीं, बाहर की निःशब्दता में इस तरह धँसती हुई जैसे पानी में पत्थर डूबता है, बेआवाज। सर्वेश्वर की आँखें भारी और उनींदी होने लगीं, उनकी चमक बुझ गयी। शायद उसी पल एकाएक, या उससे कुछ पल आगे-पीछे, या किसी और समय, कौन जाने, उसका हौसला पस्त होने लगा था। उसने अपने झोले से एक किताब निकाली और निरख-निरखकर पढ़ने की कोशिश करने लगा। लेकिन मन नहीं लगा, उसकी आँखों के सामने सब कुछ धुँधला हो रहा था और सीने में कोई बोझ उठता आ रहा था। वह उठकर लोगों के बीच जगह बनाते हुए, डिब्बे की दीवार का सहारा लेते हुए किसी तर टायलेट

में पहुँचा और वाश बेसिन में मुँह झुकाकर खड़ा हो गया। उसके पेट से एक प्रबल वेग के साथ कुछ उठा और वाश बेसिन में उलट गया, पीले पानी जैसा कुछ और उसमें रात के खाने के साथ खाने के साथ खून के दो-चार टुकड़े।

वह लड़खड़ाते पैरों से अपनी बर्थ पर लौटा और वहाँ की सँकरी जगह में अपने को अटाते हुए किसी तरह लेट गया, छत पर आँखें गड़ाये। फिर एक झटके से ट्रेन आगे बढ़ी और उसकी आँखें मुँद गयीं।

ट्रेन आधे घण्टे के बाद फिर जंगल में रूक गयी। सर्वेश्वर की आँखें ऊपर की चढ़ गयी थीं और थरथराहट ने उस पर काबू पा लिया था। कितनी दूर तक रह सकता है दिलेराना अन्दाज, और एक आदमी, थोड़े-से लोग, कितनी जिम्मेदारी उठा सकते हैं। उसे पत्ते की तरह काँपता देखकर सब यात्री उसके ऊपर झुक आये। औरतें कुछ दूर, आदमी कुछ पास। एक चीख की आवाज, उसके पीछे किसी बच्चे की अचानक रूलाई, और फिर बहुत सारी मिली-जुली आवाजों का शोर उठा, डिब्बा अचानक जैसे चौंककर नींद से जागा हो। "इसकी हालत खराब है, इसके साथ कोई है क्या?" कहीं से आवाज आयी और फिर थोड़ी देर चुप्पी छा गयी। धीमे-धीमे सरकती गाड़ी एक छोटे-से स्टेशन में घुसी और उसके रूकने से पहले ही मजदूर जैसे नाक-नक्शवाला एक आदमी प्लेटफॉर्म पर कूदा और एक डिब्बे में पानी भरकर ले आया। दौड़ता हुआ वह वापस आया और भीड़ में घुसते हुए पानी का कटोरा उसकी तरफ बढ़ाने की कोशिश करने लगा, मगर काफी हिलाने-डुलाने के बावजूद उसकी आँखें मुँदी रहीं, वह इस समय तक बेहोश हो चुका था। जब वह उसे पिलाने की कोशिश कर रहा था, तब ट्रेन के आखिरी डिब्बे से काफी लम्बे कद का पचास की उम्र के आसपास का एक आदमी जिसकी बड़ी-बड़ी बुद्धिमान आँखें थीं, झक सफेद दाढ़ी और दिमाग से पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ गुस्सा, डिब्बे के डण्डों को पकड़कर धीरे-धीरे प्लेटफॉर्म पर उतरा।

इस आदमी की धमनियों में जो तेज रफ्तार खून था, वह यूँ तो मिला था उसे हर व्यक्ति की तरह उसके माता-पिता से, मगर उसमें थोड़ा-सा, शायद एक छोटी परखनली जितना, मिला हुआ था मनुष्य जाति के कुछ सर्वोत्कृष्ट, सबसे शानदार और महान, तेजस्वी लोगों, पुरखों का चमकदार लहू-मानव जाति के बीच चुपके-चुपके चलता हुआ, कई कन्धे बदलकर उस तक पहुँचा था। (वह न कब्र की मिट्टी के रास्ते समुद्रों में जाकर मिलता है, न विद्युत शवदाह गृह में भाप बनकर उड़ता है। वह केवल आततायियों का मवाद मिश्रित खून होता है, जो जमीन पर बह जाता है। बाकी सब लोगों, साधारण लोगों और असाधारण, महान जनों का रक्त आगे यात्रा करता है, किसी घटिया, नस्लपरस्त आनुवंशिकी के नियमों के बाहर-कुछ का थोड़ी दूर तक, बहुत थोड़े से लोगों का बहुत दूर तक। इसी में कहीं तलाशने पर मिलेगा मूर्ख आध्यात्मिकों के इस सनातन सवाल का भी उत्तर, कि मरने के बाद देह कहाँ जाती है।) बहुत सारे मृत व्यक्तियों के शरीरों, आशाओं, सपनों, एकान्त में कहे गये शब्दों, ऊँचे-नीचे रक्तचाप और आँसुओं और खाँसियों को योगफल होता है हर व्यक्ति, और फर्क केवल इतना होता है कि कौन-से मृतक और कितने... जैसे इस व्यक्ति के थे। उनमें पैगम्बर या मसीहा या वे अति मेधावी लोग नहीं शामिल थे जो तत्त्वचिन्तन करते या ग्रन्थ बाँचते, किताबें लिखते हैं, न वे जो दूरबीनों में झाँककर अन्तरिक्ष और नक्षत्रों की गहराई, मोटाई नापते हैं- ये सब काम अपनी जगह पर बेशक जरूरी होते हैं, दरअसल बहुत जरूरी, मगर यहाँ पर जिनका जिक्र है वे कुछ दूसरी ही तरह के लोग थे, जो दूसरे मुल्कों मे मौत या बीमारी से लड़ने पहुँच जाते हैं जैसे डॉ. कोटनीस, या जो किसी बीमारी का इलाज ढूँढ़ने को पागल कुत्ते की लार सिरिंज से अपनी नसों में उतारने का चरम दुस्साहस कर सकते हैं, जैसे डॉ. लुईस पाश्चर, या जो रेडियम के विकिरण से अपने को छलनी कर लेते हैं, डॉ. मेरी क्यूरी और उनके पति की तरह, और दुत्कार कर भगा देते हैं, मल्टीनेशनल

कम्पनी के मोटे मैनेजर को जो माल कमाने की सम्भावनाएँ सूँघता हुआ उनके पास करेंसी नोट और व्यापारिक प्रस्ताव लेकर पहुँचता है, यह कहकर कि उनका अविष्कार पूरी मानव जाति के लिए है, बिल्कुल मुफ्त-और इसी तरह के बहुत, बहुत सारे लोग।

उदाहरण की तरह ऊपर बताये गये लोगों की तरह वह व्यक्ति भी पेशे से डॉक्टर था, मगर वैज्ञानिक नहीं, साथ ही वह एक बेहद गुस्सैल आदमी था, बेपनाह गुस्सा, और जीवन-भर साथी डॉक्टरों की चेतावनी सुनता आया था कि वे अपने क्रोध पर काबू पाए, चाहे इसके लिए ध्यान किया करे या शवासन, वरना किसी दिन ब्रेनहेमरेज होगा, चलते-चलते वह लुढ़क जाएगा और उसका चश्मा दूसरी तरफ। वह थोड़ी देर पहले साथ में सफर कर रहे एक दुकानदार से झगड़ पड़ा था कि उसने गत्ते के बहुत सारे डिब्बे इस तरह रास्ते के बीच रख दिये थे कि लोगों का आना-जाना असम्भव हो गया था। वह गार्ड से झगड़ने उतरा था इस बात पर, कि उस कम्पार्टमेण्ट में पानी नहीं आ रहा था और टट्टी-पेशाब रोके हुए बच्चे बुरी तरह चीख रहे थे। गार्ड साहब अपने डिब्बे में नजर नहीं आये तो वह स्टेशन मास्टर से मिलने के लिए उसके कमरे की तरफ आने लगा। तभी उसने सर्वेश्वर के डिब्बे के पास भीड़ देखी और भीतर घुसकर एक ही क्षण मे स्थिति को समझ लिया। वह कम्पार्टमेण्ट में ठुँसी हुई भीड़ को डाँट-फटकार कर लोगों को हटाता हुआ उसके पास पहुँचा और उसकी कलाई उठाकर धड़कनों का हिसाब देखने लगा, दूसरे हाथ से उसने उसकी खाल को चुटकी में पकड़कर खींचा। सर्वेश्वर की साँसें धौंकनी की तरह तेज चल रही थीं।

"कौन है इसके साथ, इसकी तबीयत तो बहुत खराब है। इसे लगता है लू लगी है, डीहाइड्रेशन...।" कहीं से कोई आवाज नहीं आयी। उसने कहा, "स्टेशन मास्टर को बुलवाना होगा, यहाँ रेलवे का डॉक्टर होगा शायद।" उसने पास बैठे एक धूप का चश्मा लगाये नौजवान को 'ए पतलून मास्टर' कहते हुए हाथ

पकड़कर खड़ा किया और कहा कि वह दौड़कर स्टेशन मास्टर को बुलाकर लाए और कुछ और लोगों को काफी तेज आवाज में डांटकर दूर कर दिया। एक आदमी की मदद से उसने उसके तपते हुए शरीर को खिड़की के पास खिसका दिया और जूते खोलकर नीचे रख दिये।

सफेद वर्दी में उस नौजवान के साथ स्टेशन मास्टर थोड़ी देर में आया।

"इस आदमी को उतारना होगा।" उसने स्टेशन मास्टर से कहा, "यह आगे सफर नहीं कर सकता।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"इसकी तबीयत काफी खराब है। बेहोश हो गया है।"

"जनाब, यह तो छोटा-सा स्टेशन है," स्टेशन मास्टर ने कहा, "आगे बाराबंकी या लखनऊ में ढंग का..."

"नहीं, वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते रात हो जाएगी," उसने सख्ती से कहा, "यहाँ रेलवे का अस्पताल..."

"यहाँ कोई अस्पताल नहीं है। यह छोटा-सा स्टेशन है।" स्टेशन मास्टर ने कहा और वापस जाने लगा। उस आदमी ने उसकी सफेद वर्दी को पकड़कर पीछे खींचा।

"मि. स्टेशन मास्टर..." उस आदमी का गुस्सा भड़क उठा था, "यहाँ लोग क्या कभी बीमार नहीं पड़ते? क्या करते हैं फिर वो?"

"देखिए, यहाँ एक छोटा-सा प्राइमरी हेल्थ सेण्टर है, जहाँ डॉक्टर हफ्ते में एक दिन आता है। आज तो...."

"कोई बात नहीं, मैं डॉक्टर हूँ। वहाँ कुछ दवाइयाँ तो होंगी। फौरन इसे उतरवाइए। कोई स्ट्रेचर, कुछ है.... दो एक आदमी बुलवाइए....देख क्या रहे हैं?" वह गुस्से में भर्रायी और तीखी आवाज में चीख रहा था। गाड़ी खड़ी रही।

इंजन बार-बार सीटी मार रह था। सब डिब्बों की खिड़कियों से बाहर सिर झाँक रहे थे।

"देखिए, वह हैल्थ सेण्टर तो इस समय बन्द होगा। उसकी चाभी..." स्टेशन मास्टर अब कुछ सहम गया था।

चाभी ढुँढ़वाइए, फौरन। और न मिले तो ताला तुड़वा दीजिए। देखिए, इस आदमी को अगर... "वह अब हकलाने लगा था। उसकी भूरी तरल आँखें भयानक लग रही थीं, और उसके चेहरे से लग रहा था कि कुछ देर और स्टेशन मास्टर बिना कुछ किये खड़ा रहेगा तो वह उसे थप्पड़ मार देगा। स्टेशन मास्टर अपने कमरे तक जाकर दो खलासियों को बुलाकर लाया। तेज-तेज कदमों से अपने डिब्बे तक जाकर डॉक्टर ने अपना सामान बाहर निकाल लिया। दो यात्रियों ने बेहोश सर्वेश्वर को स्ट्रेचर पर लिटाया। उसका झोला उसके सिर के पास रख दिया गया। इंजन ने फिर सीटी दी। गाड़ी हौले से खिसकने लगी।

स्टेशन मास्टर आगे-आगे चल रहा था, और उसके पीछे-पीछे दोपहर के भभकते सूरज के नीचे डॉक्टर स्ट्रेचर के साथ-साथ और पीछे एक कुली जिसने उसका समान उठा रखा था। प्लेटफॉर्म पार कर कुछ सीढ़ियाँ उतरने के बाद रेलवे के दो-चार मकानों के बीच वह छोटा-सा अस्पताल था। वह कोई पुरानी, टूटी-फूटी, भग्न, जर्जर जगह थी जैस ध्वंसावशेष हो उल्कापात के बाद का, या कोई कालातीती नगर उत्खनन में जमीन से निकला हुआ, सदियों पुरानी अजीब आबोहवा, और उस जमाने के लोगों की हड्डियों समेत। दो-एक मकानों के निवासियों ने खिड़कियों से देखा, और उत्सुकतावश धीरे-धीरे पास चले आये। अपनी हाँफती साँसों को सँभालने के लिए डॉक्टर एक क्षण ठहर गया, और तब उसने उनके चेहरों की तरफ देखा जो उसे महसूस हुए ममियों की मानिन्द उदासीन, अपलक भावशून्य-और तब अचानक उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। वह पहले ही जान लेता था, उसमें महसूसने की जैसे कोई

अतीन्द्रिय ताकत थी। स्टेशन मास्टर ने जेब से चाभी निकालकर कमरा खोला। भीतर के धूल, अँधेरे और ईथर की एक बासी गन्ध के बीच दोनों खलासियों ने सर्वेश्वर को एक ऊँची, लम्बी मेज पर लिटा दिया। डॉक्टर ने उसकी कलाई उठायी, वह बर्फ की तरह ठण्डी थी। एक रूई के रेशे को वह उसकी नाक के पास लाया। फिर वह जल्दी-जल्दी एक बदहवास तरीके से उसके सीने को मलने-दबाने लगा, काफी देर तक। फिर उसने अपनी चेष्टा छोड़ दी और हताशा में मेज पर एक मुक्का मारा, और भीड़ के बीच से होता हुआ तेजी से दूर जाने लगा, बाकी सब लोगों से अपना चेहरा छुपाने की कोशिश करते हुए, किसी एकान्त जगह की तलाश में। उसे अब बेहद गुस्सा था खुदा पर।

शिरीष शर्मा को सुबह ध्यान आया था कि खास करीबी लोगों के लिए शराब का इन्तजाम करने का उसे ध्यान ही नहीं रहा और शादी की व्यस्तता में पाँच मिनट निकालकर उसने पी सी ओ से गुरविन्दर को फोन किया था, और यह जिम्मेदारी उसी पर डाल दी थी। गुरविन्दर ने बैंक की एक पार्टी, आर्मी से रिटायर एक सिपाही को उसके घर से स्कूटर के पीछे बिठाया था, और उसके साथ आर्मी कैण्टीन जाकर चार बोतलों का इन्तजाम किया था। शाम को स्कूटर की डिक्की में बोतलों समेत वक्त से काफी पहले वह वहाँ पहुँच गया था, जहाँ उसका सारा मूड खराब हो गया था यह देखकर कि बारात शिरीष की कालोनी के किनारे के मन्दिर में सज रही थी। यह एक उल्टी बारात थी, घूमते-फिरते शिरीष के घर तक वापस आनी थी। वह मन्दिर में भी नहीं गया, बाहर से ही कानों के पर्दे फाड़ देने वाला भयानक शोरगुल सुनता रहा। भीड़ में उसे दूर से आदेश अवस्थी नजर आया तो उसने उसे इशारा कर अपने पास बुलाया और कहा, इस आदमी की अक्ल देखी, शादी के लिए उसे यही जगह मिली, अब पी लो मन्दिर में बैठकर। आदेश अवस्थी ने उसे दिलासा देते हुए कहा, "घबरा मत यार, अभी कुछ

इन्तजाम करता हूँ।" वे वहाँ से एक कि.मी. दूर शिरीष के रंग-बिरंगी रोशनियों से जगमगाते घर में वापस गये, जहाँ उसने भीड़ के बीच सफारी सूट के साथ गुलाबी साफा पहने से अन्दर-बाहर जाते जे.ई. को तलाशा और अंकल जी कहकर एक तरफ से ले गया। पता चला कि शिरीष के पीछे वाले कमरे में गाँव से आये उसके माता-पिता और रिश्तेदारों का सामान बन्द था और उसकी चाभी उन्हीं के पास थी। बहरहाल, फिर भी समाधान निकल आया, कोठी के आगे वाले हिस्से में जो ब्यूटी पार्लर था, वह किस काम के लिए था, जिसकी चाभी जे.ई ने चुपके से उसे यह कहते हुए थमायी कि प्लीज शोर न हो, देखिए घर में लेडीज़ हैं। थोड़ी देर के बाद एक छोटी-सी कोलाहल करती भीड़ में सारे लोग दुकान का शटर आधा उठाकर भीतर लिपस्टिक, नेलपालिशों और तमाम रंग-रोगनों की गन्ध के बीच वहाँ पड़ी हुई बेंच पर जम गये, एक आदमी ने अपने लिए शीशे के समाने की नाईनुमा कुर्सी हथियायी। लाउडस्पीकर दुकान के ठीक ऊपर लगा था, और फिल्मी गानों का इतना शोर हो रहा था कि सब लोगों को चिल्लाकर बातें करनी पड़ रही थीं। केशव कुछ देर से पहुँचा था, उसके पहुँचते ही दर्जन-भर गिलास उसके स्वागत में उठे थे। थोड़ी-सी जगह में वे सब ठुँसकर, एक दूसरे से चिपके हुए बैठे थे। केशव के लिए खिसककर जगह बनायी गयी और गुरविन्दर सिंह ने बैगपाइपर की बोतल से उसके लिए एक गिलास में डाली, तब उसने मना करते हुए कहा, नहीं, मैं नहीं लूँगा, मैंने छोड़ रखी है। सब जानते थे कि वह झूठ बोल रहा है, और जबरदस्ती उसके हाथ मे गिलास थमा दिया गया।

आदेश अवस्थी ने अपने कोने की जगह से केशव से चिल्लाकर कहा कि वह कई महीनों से मिलना चाहता था, मगर संयोग नहीं बन रहा था, उसे कुछ जरूरी बात करनी थी। घोष और अवस्थी ने अपनी जगहों की अदला-बदली की, और अवस्थी केशव से लगभग चिपककर बैठ गया। लाउडस्पीकर के कान

फाड़ते शोर में उसने कहा कि वह यह जानना चाहता था कि केशव को पहले से कैसे पता चल गया था कि सर्वेश्वर...। क्या उसके पास भविष्य को देख लेने की शक्ति थी। केशव को कुछ सुनाई नहीं दिया। आदेश ने उसके कानों के पास चीखते हुए कहा कि क्या उसके पास आनेवाली घटनाओं को जान-बूझ लेने की कोई सिद्धि थी, पहले से वह कैसे जानता था कि सर्वेश्वर...सफर के दौरान. ..। केशव बहुत मुश्किल से उसकी बात समझ पाया, और फिर उसने उसके कानों में कहा कि वह तो बस ऐसे ही कह दिया था, उसका कोई मतलब नहीं था। आदेश अवस्थी ने कहा, "जोर से, मुझे कुछ सुनाई नहीं दे रहा।" केशव उसके कानों के पास चिल्लाया, "बस ऐसे ही कह दिया था, उसके पीछे कोई विचार या तर्क नहीं था। जिस तरह हजारों, बिना सोचे-विचारे बातें करता है हर व्यक्ति, बस वैसे ही...।" अवस्थी को फिर भी कुछ समझ में नहीं आया तो उसने पास से गुजरते किसी लड़के को चिल्लाकर कहा, बन्द करो यार यह शोर, मगर न उस लड़के ने सुना न शोर बन्द हुआ। आदेश अवस्थी ने फिर पूछा, क्या कह रहा था। केशव ने फिर कहा, इस बार एक थकी-सी आवाज में, कि उसने बस यूँ ही कह दिया था, इसका मतलब नहीं कि वह पहले से जानता था या उसके पास कोई ताकत थी, बाद की घटनाओं को पहले देख लेने की। ऐसा कुछ भी नहीं था। आदेश कुछ कहना चाहता था कि अचानक बिजली चली गयी और घुप अन्धकार और सन्नाटा छा गया। उस खामोश अँधेरे में किसी प्रेत की तरह केशव की ठण्डी, डरावनी आवाज सुनाई दी कि वैसे यह जान लेने के लिए न भविष्यवक्ता की सिद्धि चाहिए थी, न आइन्स्टीन का दिमाग, वह विचारों और सपनों की विदाई का वक्त था, और सब विचारवान, स्वप्नलीन व्यक्तियों के एक-एक चिरन्तन वर्तमान, सर्वदा एक-सी भीड़-बाजारों में-और सूर्य आकाश के बीचोंबीच स्थिर हो जाएगा, और दुनिया की सारी घड़ियाँ रूक जाएँगी। तब तक जेनरेटर चालू कर दिया गया था ब्यूटी पार्लर के बिल्कुल पास रखा था। झटके के साथ रोशनी और शोर वापस आये, और दीवार पर लगे बड़े-बड़े

आईनों में उनके भूतों जैसे अक्स, जिनके बीच वहाँ मौजूद किसी ने, जो केशव को नहीं जानता था, पड़ोस में बैठे घोष से पूछा कि ये कौन साहब हैं। घोष ने उसे कहा कि वह केशव है, उसके बचपन का दोस्त। उस आदमी ने फिर पूछा कि काम-धन्धा क्या करते हैं, जिस पर घोष ने बताया कि वह नामी प्रॉपर्टी डीलर है, कभी कोई जमीन, मकान, हवेली, खेत, होटल, कोई सिनेमाघर, अस्पताल, कब्रिस्तान, मीनार जितनी ऊँची बिल्डिंग या मीनार, या मकबरा, कुछ भी खरीदना, बेचना हो तो....

(पहल, 1998)

✷ ——————— ✷

योगेन्द्र आहूजा

कथाकार योगेन्द्र आहूजा का जन्म 11 दिसम्बर 1959 को बदायूं उत्तर प्रदेश में हुआ। योगेन्द्र ने कम ही कहानियां लिखी हैं लेकिन जितनी लिखीं काफी ठोस। अपनी कहानियों में इन्होंने अपने समय के सच को बारीकी से पकड़ा है और उस पर गहराई से विचार किया है। कहानियाँ थोड़ी जटिल हैं लेकिन जटिलता यथार्थ को पकड़ने की कोशिश भी करती हैं। योगेन्द्र ने अपनी कहानियां में शिल्प में बहुत कुछ नया दिया और उसे अर्थवान बनाया। अभी तक में मात्र एक कहानी संग्रह 'अंधेरे में हंसी' प्रकाशित है। कई पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। 'गलत' कहानी के लिए 1999 का कथा पुरस्कार। वर्ष 2003 का 'परिवेश सम्मान'। 'स्त्री विमर्श' कहानी पर वर्ष 2007 का रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार। वर्ष 2008 का विजय वर्मा कथा सम्मान।

सम्पर्क :- 11/63, सैक्टर-3, राजेन्द्र नगर,
साहिबाबाद, उत्तर प्रदेश
मो. - 9899398693

सिफैलोटस

रघुनन्दन त्रिवेदी

(यह एक विषैला, मांसभक्षी पौधा है जिसमें एक ढक्कन-सा होता है जो वर्षा के पानी को रोकता है ताकि वह पानी उसके विष को हल्का न कर दे)

खाली बरस

मोहल्ले में इतने घर थे कि कुछ न कुछ होता ही रहता था। कभी कहीं ब्याह-सगाई का धूम-धड़ाका तो भी कहीं मौत का मातम। शायद ही कोई बरस था जो घटनाओं के लिहाज से खाली गया हो। और कुछ नहीं तो एक रसोई में जीमनेवाल भाई ही आपस में झगड़कर अलग हो जाते और मोहल्लेवालों को बातचीत के लिए विषय मिल जाता। अकेले दिवाकर के यहाँ मेरे देखते-देखते कितना-कुछ हुआ! दिवाकर के बड़े भैया डॉक्टर बने। उनकी शादी हुई। उन्होंने शंकर नगर में बंगला बनवाया। अपनी माँ और बाबू के साथ दिवाकर वहाँ रहने गया और छह-सात महीने बाद वापस लौट आया।

परन्तु यह कैसा घर था हमारा कि यहाँ कुछ होता ही नहीं था! न शरद भैया का ब्याह, न तनु दी की सगाई और न किसी के जन्म-दिन का कोई उत्सव ही। ये तो खैर बड़ी घटनाएँ थीं मुझे तो कोई छोटी-सी घटना भी याद नहीं जो उन बरसों मे हमारे यहाँ हुई हो। रोज एक ही तरीके से जागना, एक ही तरीके से सोना। और जीवन का यह ढर्रा इतना नियमित, इतना व्यवस्थित था कि लगता ही नहीं था कि यह कोई घर है जिसमें एक नहीं, हम पाँच जीवित प्राणी रहते हैं।

रोजाना दिन की शुरूआत माँ के जागने और फिर उनके भजन गुनगुनाने से होती है। रोजाना सुबह बाबू दो कप चाय पीते और ठीक आठ बजे घर से रवाना होकर दुकान चले जाते। रोजाना मैं और तनु दी स्कूल जाते और शरद भैया कॉलेज। रोजाना शाम को बाबू के घर आने तक मैं ज्ञान, दिवाकर और तनवीर के संग खेलता। तनु दी रसोई में माँ का हाथ बँटाती। शरद भैया अपने दोस्त परमजीत के यहाँ पढ़ने चले जाते। रोजाना बाबू के घर लौटने का समय एक ही होता-आठ से साढ़े आठ के बीच।

बाबू के आते ही तनु दी रसोई में से निकलकर दरवाजे तक जातीं। बाबू अपनी थैली तनु दी को देकर जूते खोलते। वे अपने जूते हमेशा दरवाजे के पासवाले आले में दायीं तरफ रखते। कभी भूल से या जल्दी में बाबू ने अपने जूतों को घर में किसी दूसरी जगह नहीं छोड़ा। बाबू के घर लौटने के थोड़ी देर बाद हम खाना खाते। खाना खाकर मैं और तनु दी सोने चले जाते। बाबू चौक में बैठकर अगरबत्ती के तिनके से दाँत कुरेदते या हाथ बाँधे टहलते रहते। करीब दस बजे शरद भैया परमजीत के घर से लौटते। उनके आने के थोड़ी देर बाद घर की बत्तियाँ गुल हो जातीं।

इस दिनचर्या में कभी हेर-फेर हुआ हो, मुझे याद नहीं। इस निश्चित, नियमित दिनचार्य का असर घर की बेजान चीजों और जगहों पर भी देखा जा सकता था। उस आले का फर्श, जहाँ शौच के बाद हाथ धोने के लिए वेकलू (रेत) पड़ी रहती थी, घिसकर ढलवाँ हो गया था। खाने के बाद थाली हटाकर रसोई के बाहर जिस जगह बाबू गीले हाथ फिराते थे, वह जगह चिकनी, काली और बदरंग-सी हो गयी थी।

जाने क्यों कभी ऐसा नहीं हुआ उन बरसों में कि किसी दिन बाबू या शरद भैया ने घर लौटने के अपने निर्धारित समय से ज्यादा देर की हो और माँ या तनु दी चिन्तित हुई हों।

उन दिनों घर में आकस्मिक कही जा सकने वाली घटना अगर कभी होती भी थी तो यही कि गर्मियों में किसी शाम पतंग के पीछे भागते हुए मैं किसी साइकिल से टकराकर अपने घुटने को जख्मी कर लेता और शरद भैया मुझे पीटते, या किसी-किसी दिन शरद भैया का दोस्त परमजीत अपनी बहन राजिन्दर कौर को लेकर हमारे घर आ जाता। घर में आपसी बातचीत के दौरान हम कभी हिन्दी नहीं बोलते थे और माँ को तो हिन्दी में बात करना आता ही नहीं था। लेकिन परमजीत या उसकी बहन राजिन्दर कौर से बात करते वक्त माँ टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेती थीं। परमजीत के जाने के बाद मैं और तनु दी उसका मजाक उड़ाया करते थे।

रेलवे स्टेशन नजदीक होने के कारण उन दिनों मैं, ज्ञानू, दिवाकर और तनवीर खेलते प्लेटफॉर्म पर चले जाते थे। दृश्य याद आता है। रँगी-पुती छक्-छक् करती लोगों को लाती-ले जाती रेलगाड़ियाँ और यार्ड में पड़ा वह टूटा बदरंग डिब्बा, जो हमारे छुपने की खास जगह था, बिल्कुल हमारे घर की तरह अलग-अलग और गतिहीन।

बचपन के वे बरस बिना घटनाओं वाले थे, इसलिए मैं उन्हें खाली बरस कहता रहा।

प्रतीक्षा के बरस और हताशा

ये वे दिन थे जबकि शरद भैया अपनी पढ़ाई पूरी करके नौकरी तलाश कर रहे थे और तनु दी कॉलेज जाने लगी थीं। इन्हीं दिनों मुझे यह लगने लगा था कि बरसों बाद में जब जल्दी ही कोई घटना होगी। लेकिन मैं ही क्यों, माँ और बाबू और शरद भैया भी तो यही सोचते थे।

उन दिनों मुझे कम से कम दो बड़ी घटनाओं की उम्मीद थी। पहली घटना तो मेरे ख्याल से यही हो सकती थी कि शरद भैया को नौकरी मिल जाती। और दूसरी घटना?

दूसरी घटना कीं बाबत सोचते हुए मैं अकसर उलझ जाता था, क्योंकि माँ और बाबू जो सोचते थे वह शरद भैया के सोचने से भिन्न था। माँ और बाबू की बनाई हुई भविष्य की योजना के मुताबिक शरद भैया की नौकरी लग जाने के दो-तीन साल बाद (जबकि थोड़ा पैसा जमा हो जाये) सबसे पहले मकान की मरम्मत होनी थी। बाबू चाहते थे कि ऊपर छत पर एक कमरा और एक स्नानघर बन जाये, रसोई का फर्श ठीक हो जाये और दीवारों पर फिर से पलस्तर चढ़ जाये। इस तरह जब घर मेहमानों के लायक हो जाये तो शरद भैया और तनु दी की शादियाँ एक-साथ हो जायें, ताकि तनु दी के जाने से रिक्त होनेवाली जगह शरद भैया की पत्नी के आने से भर जाये। भविष्य में होने वाली घटनाओं की इस काल्पनिक सूची में इन बड़ी घटनाओं के अलावा बाबू ने माँ के साथ किसी तीर्थ पर जाने की छोटी घटना को जोड़ा था और माँ ने तीर्थ की बजाय बाबू के एक्जिमा के इलाज को।

लेकिन मेरे ख्याल से माँ और बाबू की इस योजना में सबसे बड़ी बाधा थे खुद शरद भैया। नौकरी मिल जाने के बाद सबसे पहले शरद भैया तनु दी के दायित्व से मुक्त हो जाना चाहते थे। तनु दी से पहले या उनके साथ-साथ वे शादी नहीं कर सकते थे। कम से कम उस लड़की से तो हरगिज ही नहीं जिसे माँ और बाबू पसन्द करने वाले थे। यह बात माँ और बाबू भले ही नहीं जानते थे, मुझसे छुपी हुई नहीं थी। मैं कोई एकदम छोटा बच्चा तो था नहीं। शरद भैया एम.ए. कर रहे थे, मैं भी तो दसवीं में आ गया था, और यह बात मुझे खूब अच्छी तरह मालूम थी कि शरद भैया परमजीत की बहन राजिन्दर कौर से शादी करना चाहते हैं।

शरद भैया का किसी लड़की के साथ चक्कर है, यह बात पहली बार मुझे ज्ञानू ने बतायी थी। तब तक मैंने राजिन्दर कौर को देखा नहीं था, इसलिए ज्ञानू ने जब मुझे बताया कि पायल सिनेमा हॉल के सामनेवाली गली में उसने शरद भैया को एक लम्बी गोल-मटोल चेहरेवाली गोरी-लड़की के साथ, जिसने गहरे रंग की शलवार और वैसे ही रंग का पूरी आस्तीनवाला कुरता पहन रखा था, देखा तो मैं यह नहीं सोच पाया कि वह परमजीत की बहन हो सकती है। पर बाद में जबकि राजिन्दर कौर हमारे घर आने लगी और दो-एक बार मैंने उसे शरद भैया के साथ फोर्ट रोड पर घूमते देखा तो मैं समझ गया कि उस दिन ज्ञानू ने जिस लम्बी और गोरी लड़की का जिक्र किया था, वह राजिन्दर कौर ही थी।

राजिन्दर कौर के बोलने का लहजा एकदम परमजीत जैसा ही था। दोनों के चेहरे भी बहुत मिलते-जुलते थे। लेकिन राजिन्दर कौर का रंग उसके भाई की तुलना में काफी गोरा था और शायद यही वजह थी कि उसके होंठ और मुँहासे हमेशा लाल सुर्ख दिखाई देते थे। परमजीत की तरह उसके हाथ में भी स्टील का एक कड़ा रहता था जो मुझे बहुत पसन्द था और मैं सोचता था कि जब शरद भैया उसके साथ शादी कर लेंगे तो मैं उससे कड़ा माँग लूँगा।

लेकिन कुछ नहीं हुआ। शरद भैया को नौकरी मिली और राजिन्दर कौर की भी शादी हो गयी। राजिन्दर कौर ने शायद सारी बात अपने घरवालों को बता दी थी, तभी तो परमजीत ने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया और हममें से कोई भी राजिन्दर कौर की शादी के जलसे में शामिल नहीं हुआ। इस पूरे घटनाक्रम पर शरद भैया किस तरह सोचते थे, यह जानने का कोई साधन नहीं था क्योंकि वे भी बाबू की तरह शुरू से ही अन्तर्मुखी स्वभाव के थे। बाबू की भाँति वे न जोर से हँसते और न ऊँची आवाज में बोलते। सचमुच मैंने तब तक शरद भैया और बाबू को ठहाका लगाकर हँसते हुए नहीं देखा था, खैर।

राजिन्दर कौर की शादी के बाद भी जीवन पूर्ववत् चलता रहा, पूरे तीन बरस और, फिर कहीं जाकर वह साल आया तो पिछले सालों से अलग था।

घटना-वर्ष

यह साल पिछले सालों की तरह खाली नहीं था। इस साल एक के बाद एक चार घटनाएँ हुई जिनसे वह पुराना ढर्रा एकदम बदल गया।

उस साल पहली घटना मार्च के दुसरे सप्ताह में हुई थी और वह थी बाबू की दुकान से छुट्टी। हालाँकि यह कोई अप्रत्याशित बात नहीं थी, क्योंकि कोई सालभर पहले से ही एक्जिमा जैसी किसी बीमारी के कारण बाबू के दोनों हाथों की उगलियाँ लगभग सड़ गयी थीं। लगातार इलाज के बावजूद यह रोग ठीक होने की बजाय बढ़ता ही जा रहा था और अब तो बाबू की उँगलियों में से चिपचिपा पानी भी बहने लगा था, जिससे बहुत तेज दुर्गन्ध आती थी।

सेठ ने पहले तो इस ओर ध्यान नहीं दिया, लेकिन एक दिन जब बाबू एक गोरी, फैशनेबुल औरत के सामने कपड़े का थान खोल रहे थे तो उस औरत ने बाबू के हाथों की तरफ नजर जाते ही गिच-गिचाकर काउंटर पर ही उल्टी कर दी तथा यह कहते हुए वह दुकान से निकल गयी कि ऐसी गन्दी जगह से वह कपड़े नहीं लेगी, तब कहीं जाकर मजबूरन सेठ को बाबू से यह कहना पड़ा कि अब वे कपड़े की दुकान पर काम करने लायक नहीं रहे।

सेठ ने बाबू से यह भी कहा था कि अगर बाबू चाहें तो अपनी जगह अपने किसी बच्चे (शरद भैया, तनु दी या मुझे) को दुकान पर रखवा सकते हैं, लेकिन बाबू ने सेठ का प्रस्ताव नहीं माना। इस इनकार का कारण यह था कि हालाँकि शरद भैया को अपनी पढ़ाई पूरी किये करीब चार बरस हो चुके थे और अभी तक वे बेरोजगार ही थे, परन्तु फिर भी बाबू उन्हें ऐसी किसी प्राइवेट नौकरी में फँसना नहीं चाहते थे जिसमें सुबह के आठ से रात के आठ बजे तक काम करने के बावजूद न तो ढंग की तनख्वाह मिलती हो और न बूढ़े हो जाने पर पेंशन।

तनु दी लड़की थीं और बाबू को लड़कियों को नौकरी करना (कम से कम

किसी कपड़े की दुकान पर जहाँ कई तरह के लोग आते हों) पसन्द नहीं था इसलिए तनु दी भी बाबू की जगह नहीं ले पायीं; रहा मैं, तो मेरे लिए बाबू यह सोचते (और कहते भी) थे कि अभी मेरी उम्र नौकरी के लायक नहीं, इसलिए फिलहाल मुझे सिर्फ मन लगाकर पढ़ना चाहिए।

तो जब बाबू हम तीनों में से किसी एक को भी अपनी जगह दुकान पर रखने के लिए तैयार नहीं हुए, तब उस साल मार्च के दूसरे सप्ताह में एक दिन सेठ ने बाबू को पूरे महीने की तनख्वाह के अलावा एक छड़ी, सूट का कपड़ा और पाँच सौ एक रूपए नकद देकर दुकान से छुट्टी दे दी।

दूसरी घटना जुलाई में हुई थी और वह थी एक सेमी गवर्नमेंट डिपार्टमेंट में शरद भैया की नियुक्ति की घटना। शरद भैया की नौकरी लगने पर माँ और बाबू ने राहत की साँस ली, क्योंकि उनके ओवरएज होने में सिर्फ तीन-चार महीने ही रह गये थे।

शरद भैया को वह नौकरी बाबू और हमारे पड़ोस में रहनेवाले बद्री काका के प्रयासों से मिली थी। अगर बाबू और बद्री काका बोर्ड के चेयरमेन बतरा साब के घर न गये होते और बतरा साब की दस हजार की डिमांड पूरी नहीं की गयी होती तो....

मई में इन्टरव्यू था। इन्टरव्यू देने के बाद हर बार की तरह कहा तो शरद भैया ने यही कहा था कि इन्टरव्यू अच्छा हुआ है और उन्हें पूरी उम्मीद है कि उनका चयन हो जायेगा, लेकिन बाबू नहीं माने। वे रिजल्ट की प्रतीक्षा करने की बजाय कोई 'सोर्स' ढूँढ़ना चाहते थे जो उन्हें जल्दी ही मिल गया। फिर एक दिन वे बद्री काका के साथ बतरा साब के घर गये और जब लौटे तो प्रसन्न थे। उन्होंने बतरा साब की डिमांड के बारे में बताया जिसे सुनकर एकबारगी माँ भड़क गयी। माँ को नौकरी के लिए पैसा देने की बात जँची नहीं। जहाँ मैं और तनु दी यह सोच रहे थे कि शरद भैया के भविष्य को देखते हुए दस हजार कोई

बहुत बड़ी रकम नहीं, वहाँ माँ इस बात से नाराज थीं कि बाबू ने एक-एक पैसा जोड़कर जो रूपये जमा किये थे, वे यों ही खर्च हो जायेंगे। माँ के विचार से उन रुपयों का सही उपयोग तनु दी की शादी के समय ही हो सकता था। पर माँ की आनाकानी ज्यादा टिक नहीं पायी। मैं, तनु दी और बाबू इसे एक अच्छा अवसर बताते हुए एकमत थे। शरद भैया चूँकि चुप थे, इसलिए माँ अकेली पड़ गयी और बाबू रुपया दे आये। फिर बीच जुलाई में शरद भैया को अप्वॉयंटमेंट मिल गया।

जिस दिन शरद भैया पहली बार ऑफिस गये, माँ ने मीठे चावल बनाये थे। शाम को शरद भैया के लौटने पर घर में जो बैठक जमी, वह देर रात तक चलती रही। बद्री काका भी सपरिवार हमारे यहाँ आमंत्रित थे। पूरे तीन महीने घर पर इस घटना का असर रहा, फिर एक और घटना हो गयी।

अक्टूबर के दूसरे सप्ताह अचानक एक दिन शरद भैया को नौकरी से हटा दिया गया। कारण कि बतरा साब ने जो नियुक्तियाँ की थीं, उनके लिए न तो उन्होंने विधिवत् रोजगार-दफ्तर से आशार्थियों की सूची मँगवायी थी और न ही दूसरी औपचारिकताएँ पूर्ण की थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने चारों रिक्त पदों पर सवर्ण लड़कों को नियुक्ति दे दी थी, जबकि कायदे से उन्हें एक पद पर अनुसूचित जाति के उम्मीदवार को लगाना था। यहीं कारण था कि इन नियुक्तियों के फौरन बाद ही बतरा साब के विरूद्ध शिकायत हो गयी थी।

शुरू-शुरू में किसी ने इस मामले को सीरियसली नहीं लिया था, क्योंकि हम सभी यह ही सोचते थे कि ऐसे मामलों में शिकायतें होना आम बात है। दूसरे, बतरा साब के बारे में भी सुना था कि वे बेहद घाघ और तिकड़मबाज आदमी हैं, उनकी एप्रोच ठेठ ऊपर तक है।

लेकिन मालूम नहीं कैसे, मामले ने तूल पकड़ ली और बीच सितम्बर में ही बतरा साब का ट्रांसफर हो गया। उस वक्त बाबू और शरद भैया बतरा साब

के घर गये थे। और जब बाबू ने शरद भैया की नौकरी छिन जाने की आशंका व्यक्त की थी तो बतरा साब ने हँसते हुए शरद भैया की तरफ देखते हुए कहा था - "चिन्ता की बात नहीं तुम तो डटे रहो।"

बतरा साब के यहाँ से लौटकर बाबू ने उनसे हुई भेंट का सारा वृत्तान्त सुनाने के बाद माँ को आश्वस्त करने के लिए यह भी कहा था कि जल्दी ही बतरा साब का ट्रांसफर रद्द भी हो जायेगा। परन्तु ट्रांसफर रद्द नहीं हुआ, बतरा साब की पूरी कोशिश के बावजूद। लाचार बतरा साब छुट्टी लेकर बैठ गये और उनकी जगह आये नये अधिकारी ने चार्ज एज्यूम करने के एक सप्ताह बाद ही विभाग को बतरा साब द्वारा की गयी अनियमितताओं का ब्यौरा अर्द्धशासकीय पत्र के जरिये भेज दिया। इसी पत्र के कारण विभाग के तीन माह के लिए की गयी नियुक्तियों के मामले में एक्स्टेंशन नहीं दी और फलस्वरूप शरद भैया की नौकरी छूट गयी। यह उस साल की तीसरी घटना थी।

इस घटना के तीन दिन बाद बद्री काका और शरद भैया वकील से मिले। वकील ने, जो शरद भैया के साथ पढ़ा हुआ था, सारे कागजात देखने के बाद साफ कह दिया कि इस मामले में अब कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि नियुक्ति केवल तीन माह के लिए थी और वह भी सर्वथा अस्थायी तौर पर दी गयी थी, इसलिए विभागीय निर्णय को कोर्ट में चैलेन्ज करने से कोई फायदा नहीं।

वकील के यहाँ से निराश होकर लौटने के बाद शरद भैया हर रोज बतरा साब के यहाँ चक्कर लगाने लगे। बतरा साब चूँकि बाहर गये हुए थे, अतः उनसे भेंट नहीं हो पा रही थी। इस बीच बाबू और माँ के व्यवहार में अजीब-सा बदलाव आने लगा। माँ जो पहले ज्यादातर चुप रहती थीं, अब बहुत चिड़चिड़ी हो गयी थीं। बात-बेबात बाबू से उलझना और उन्हें ताने कसना माँ की दिनचर्या का हिस्सा हो गया, जबकि बाबू पहले से कहीं अधिक चुप, उदास और बीमार रहने लगे।

पैसों की चिन्ता सिर्फ माँ को ही थी, सो बात नहीं, बाबू भी चिन्तित थे पर

उन्हें उम्मीद थी कि बतरा साब अपने वायदे के मुताबिक शरद भैया को एक्स्टेंशन दिलवाकर कन्फर्म नहीं कर पाने के कारण पैसे लौटा देंगे।

और शरद भैया- सबसे खराब स्थिति तो घर में उनकी हो गयी थी। माँ को अब वे जैसे बर्दाश्त ही नहीं हो रहे थे। सुबहदम उन्हें देखते ही माँ किसी न बहाने कोसना शुरू कर देतीं। प्रायः वे चुप रहकर कलह को टालने की कोशिश करते, लेकिन इस कोशिश में कई बार उन्हें बिना कुछ खाये-पिये पूरे-पूरे दिन घर से बाहर भटकना पड़ता।

कितने ही दिन यही क्रम चलता रहा, फिर एक दिन बद्री काका ने ही आकर यह सूचना दी कि बतरा साब लौट आये है। बाबू इस सूचना से इतने उतावले हो गये कि बुखार के बावजूद खुद शरद भैया को लेकर बतरा साब के यहाँ जाने लगे, लेकिन बद्री काका ने समझा-बुझाकर उन्हें रोक दिया और बाबू की जगह वे खुद शरद भैया को साथ लेकर बतरा साब के यहाँ गये।

यह 10 दिसम्बर की बात है। यह तारीख मुझसे भुलाये नहीं भूलती। पिछली रात श्रीनगर में हिमपात के कारण उस दिन ठंड और दिनों से तेज थी। पूरे दिन सूरज नहीं निकला था। तेज हवा से किवाड़ बजते रहे थे। दूधवाला सुबह छह के बजाय आठ बजे आया था। छत पर तुलसी का गमला बन्दर ने उलट दिया था। बाबू बाजरी का दलिया खाकर, दूध के साथ कुनैन की गोली निगलने की कोशिश में उल्टी करने के बाद शरद भैया का इन्तजार करते हुए सो गये थे। दोपहर तीन बजे जब तनु दी उनके कमरे में गयीं तो वे नींद में कुछ बड़बड़ा रहे थे। माँ ने कमरे की खिड़की बन्द करके उन्हें एक कम्बल ओढ़ा दिया था। शायद पाँच-सवा पाँच बजे शाम को शरद भैया घर लौट थे। इस वक्त माँ रसोई में बाबू के लिए चाय बना रही थीं। शरद भैया की आवाज सुनकर बाबू ने उन्हें बुलाया। शरद भैया के पीछे-पीछे मैं भी बाबू के कमरे में गया। बाबू तकिए का सहारा लिये बैठे थे और शायद भैया बता रहे थे कि बतरा साब ने पैसों लौटाने

से इन्कार कर दिया है, इसलिए अब वे कल से बाबू की जगह दुकान पर काम करने के लिए सेठ से मिलने जा रहे हैं।

शरद भैया की बात सुनकर एक क्षण, हाँ, केवल एक क्षण के लिए बाबू के चेहरे का रंग उड़ा, फिर अचानक उनके होंठों पर मुस्कराहट-सी उभरी और इससे पहले कि शरद भैया कुछ और कहते, बाबू जोरदार ठहाका लगाकर हँसने लगे।

हम बाबू का ठहाका रुकने का इन्तजार करते रहे, कितनी ही देर। लेकिन वे हँसते ही रहे। तब बड़ी मुश्किल से उन्हें रस्सी से बाँधकर हम मेंटल हॉस्पिटल छोड़ आये और यह उस साल की चौथी घटना थी।

रघुनन्दन त्रिवेदी

कथाकार रघुनन्दन त्रिवेदी का जन्म 17 फरवरी 1955 को हुआ और कम उम्र में ही 10 जुलाई 2004 को उनका निधन हो गया। यूं तो रघुनन्दन ने 80-90 के दशक में लिखना शुरू कर दिया था। किन्तु उनकी प्रतिष्ठा इसी अन्तिम दशक में बनी। उनके तीन कथा संग्रह है 'यह ट्रेजडी क्या हुई' (1988), 'वह लड़की अभी जिन्दा है' (1994), 'हमारे शहर की भावी लोक कथा' (2001)। उनकी कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं, लेकिन वह संग्रह का रूप नहीं पायीं। रघुनन्दन ने प्रायः छोटी कहानियां लिखीं लेकिन समय की विषमताओं को पकड़ने की जबरदस्त कोशिश की। लघुकथाएं भी लिखीं और उनमें भी बड़े-बड़े विमर्श किए। 'यह ट्रेजडी क्यों हुई' कहानी संग्रह पर राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर द्वारा रांगेय राघव पुरस्कार और 'वह लड़की अभी जिन्दा है' पर 'अंतरिम सम्मान' से नवाजे जा चुके हैं।